

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष: 06 अंक: 24 अक्टूबर-दिसम्बर 2019

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल

हिंदी कहानी का समकाल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से ...

राजेन्द्र यादव
(28 अगस्त 1929 - 28 अक्टूबर 2013)



कहानी हमेशा ही किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य के मन और अनुभवों, यानी मनोविज्ञान को समझने-सम्प्रेषित करने का एक प्रयत्न है; उसे बनाने-बदलने वाले तत्वों और उसके द्वारा बनायी- बदली गयी स्थितियों के जीवन-खण्डों का अध्ययन है, इन बनती और बनाती स्थितियों को दिशा और काल के अर्थात् विस्तार और गहराई की संश्लिष्टता के साथ पकड़ने का एक कलात्मक विधान। न तो यह प्रयत्न इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र की तरह लम्बवत्-वर्टिकल-है कि उसके परिवेश का ही पता न चले, उन स्थितियों का कोई हवाला ही न हो जो उसका कारण और कार्य रही हैं; और न अमृतराय और कृशनचन्दर की तरह विस्तारगत—हॉरिजेंटल—है कि परिवेश ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सपाटीकरण कर दे। कहानी न 'मैं' की व्यक्तिगत डायरी है, और न परिस्थिति की निर्व्यक्ति रिपोर्टिंग। आज की कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह संबंध-क्षण है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नब्ज छूता है...उसे नाम देने की, समझने की कोशिश करता है।

एक दुनिया : समानान्तर

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-6, अंक- 24, अक्टूबर-दिसम्बर 2019

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
अतिथि संपादक : डॉ. शुभा उपाध्याय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
संपादकीय सहयोग : सुलेखा कुमारी एवं परमजीत पंडित
आकल्पक : सोनू प्रजापति
व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :
विनीता लाल, सुशील कुमार पाण्डे, विनोद यादव, पार्वती शॉ,
प्रभा उपाध्याय, गुड़िया राय, विद्या रजक एवं नगीना लाल दास।
परामर्श एवं विशेष सहयोग :
प्रो. शशि मुदीराजः प्राक्तन अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
प्रो. अरुण होताः अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारीः विश्व भारती, शांति निकेतन
प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय
प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (आटोनोमस), मिदनापुर
निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
रामप्रवेश रजकः हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
संपर्क एवं प्रसारः
चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
मनीष कुमार सिन्हा (दिल्ली) : 9716927587
मधु सिंह (कोलकाता) : 9883613002

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क: 0332675 1686, 09831497320
ई-मेल: muktanchalquarterly2014@gmail.com
sinhameera48@gmail.com

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन
हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या
(Kurtidev010) में भेजें।

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

मुद्रक : शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700009

‘हिंदी कहानी का समकाल’ पर केंद्रित

पत्रिका का मूल्य

एक अंक- 50 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 200 रुपये, आजीवन-2000 रुपये

संस्थाओं के लिए: वार्षिक- 250 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

मुक्तांचल अक्टूबर-दिसम्बर 2016

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षा	07 शुभा उपाध्याय :	‘समकालीन कहानी: समृद्धि के नए सोपान’
	10 डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय :	नयी सदी के आर-पार हिंदी कहानी के पचास साल: दशा-दिशा और उपलब्धियाँ
	18 डॉ. रूद्राक्षा पांडेय :	पुश्तैनी पेशे की समाप्ति का दर्द- संदर्भ समकालीन कथाबोध
	22 मृत्युंजय पाण्डेय :	नयी सदी बनाम नयी दुनिया के अन्वेषक
	अनुशीलन	
	26 सुलेखा कुमारी :	शिवमूर्ति की कहानियाँ : एक पाठकीय विश्लेषण
	31 सविता पोद्दार :	भीष्म साहनी की कहानियाँ
	विमर्श	
	34 डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी :	हिंदी कहानी में पारिस्थितिक सजगता का परिप्रेक्ष्य
	अन्तःपाठ	
सृजन	41 दिविक रमेश :	राजेन्द्र यादव की ‘जहां लक्ष्मी कैद है’
	47 डॉ. रीता सिन्हा :	‘चीफ की दावत’ : आधुनिकता या उत्तर आधुनिकता?
	शोधार्थी की कलम से	
	52 गायत्री के. :	ममता कालिया की कहानियों में मानवीय संबंध
	55 गौतम सिंह राणा :	हिंदी कहानी में पार्वत्य जीवन का संदर्भ
संचार	समय की शिला पर	
	59 जितेंद्र श्रीवास्तव :	कविता सपने सँवारने की ऊर्जा देती है
	कविता	
	62 काली प्रसाद जायसवाल :	अनजान, यादें, कौन हो तुम
	63 डॉ. सुधा उपाध्याय :	असबाब-ए-उम्मीद, बुरा हुआ...जो...सो हुआ, आखिर कब
	64 सारदा बैनर्जी :	हिमा दास, बोतल में स्त्री
	65 डॉ. वंदना गुप्ता :	प्रेम कविता, खाहिशेप्रेम की, एक नाकाम कोशिश, एक शिला हूँ मैं

शोध	सरगम के सुर साधे	
	66 डॉ. कृष्ण कुमार : कहानी	मानसिक द्वंद्व का इलाज है कविता
	70 अभिज्ञातः	विदाई से पहले
	74 डॉ. वसुंधरा मिश्र :	वह शाम
समीक्षा	78 पंकज मित्रः	सामंतो बाबू का रेडियो
	84 सुशांत सुप्रिय :	चश्मा
	88 देवी नागरानी :	जियो और जीने दो
	92 देवनाथ द्विवेदी :	दूसरा वसंत
गण	98 डॉ. पंकज साहा : रचना संदर्भ	हिलसा
	101 सिद्धेश :	कामरेड सन्तू का वोट
	104 गीता दूबे :	सिद्धेश की रचना यात्रा और उनका नया कहानी संग्रह 'वेणुगोपाल का झूठा सच'
	भाषान्तर	
सृजन	108 सुरेश शॉ :	मरने का अभिनय मूल : सैयद मुज़तबा अली
	संस्मरण	
	110 मधु कांकरिया :	शहर शहर तेवर
	साक्षात्कार	
संचार	117 मुहम्मद हारून रशीद खान : यात्रा-वृत्त	बँटवारा एक बहुत बड़ी नादानी थी: नासिरा शर्मा
	128 विनोद साव :	तेज़ ओरादा कोरिशगुन्वा
	पुस्तकायन	
	136 धीरेंद्र अस्थाना :	गज़ब की पठनीयता : मैंने जो जिया
र	138 रणजीत कुमार सिन्हा: गतिविधियाँ	जीवन की स्वानुभूति : हा! वसंत!
	अभिमत	

संस्तुति

कहानी में कथाकार कोई 'कहन' कहता है। 'कहन' की व्याप्ति इतनी अधिक है कि वह समस्त विधाओं में अपनी पैठ बनाये रखती है। कविता हो या नाटक, उपन्यास हो या जीवनी, समाचार हो या संवाद 'कहन' हर विधा में अपनी तरह से उपस्थित मिलेगी। कहानी के 'कहन' में उसका समय झाँकता है। पुराण-परंपरा में 'कहन' एक दृष्टव्य के रूप में कहानी को एक मुकाम तक पहुँचाकर दम लेती थी, अर्थात् अपने-अपने जमाने का कथा समय कहानी के माध्यम से अपनी 'कहन' कहता रहा है, किसी भी देश-काल की पहचान उसके द्वारा परोई गई कथा-कहानी में ही मुखर होती है।

प्रस्तुत अंक में हिंदी कहानी के समकाल पर चर्चा है। बीसवीं सदी के उत्तर समय से लेकर इक्कीसवीं सदी के अब तक का दौर खूब सारे बदलाव, बिखराव और असमंजस की कुहेलिका से आविष्ट है। बदलाव की कहे तो कुछ अच्छे हैं तो कुछ बुरे भी, लेकिन समस्या बिखराव के कारण जबर्दस्त है। हमारे समय का समाज, मूल्य के संदर्भ में बँटा हुआ है। न्याय-अन्याय और पक्ष-विपक्ष पर विचार बँटे हुए हैं। सत्य और असत्य के बीच की दीवार इतनी भुरभुरी है कि हर पल भर-भरा कर ढह रही होती है। अतः छद्म से लड़ने की हमारी हिम्मत आसमान की तरफ हाथ उठा देती है। अपने समय में प्रेमचंद अपनी कहन में आदर्शों को ढूँढ लाते थे, नहीं हो सकता था तो झटका भी देते थे। समकालीन कथा लेखक के पास ऐसा माहौल नहीं है कि वह अपने 'कहन' को धार दे सके। प्रेमचंद ने 'पंच को परमेश्वर' (पंच परमेश्वर) कहा जो न्यायाधिक निर्णय ही दे सकता था। आज के पाँच हैवानियत की पराकाष्ठा तक जा सकते हैं। 'मॉब लिंचिंग', 'गैंगरेप', 'इनकाउंटर' के शर्मनाक और भयावह युग में साँस लेने की भी जगह नहीं बची है। प्रकृति के पर्यावरण के साथ मनुष्य समाज का पर्यावरण भी दूषित हो चला है। दूषण का प्रधान कारण विचार-विखण्डन और स्वार्थ का संकुलित आलेपन है। न्याय-विचार एवं औचित्य बोध पर एकता न होकर बँटवारा है जो भयानक संकेत है। यह सामाजिक परिस्थिति मनुष्यता का दोहन कर निहायत असंवेदनशील एवं अतार्किक व्यवस्था का जाल रचती है। साहित्य-संस्कृति एवं संचार में एक सनक सवार है। व्यक्ति या तो पूजा जा रहा है या अलगा दिया जा रहा है- जो मैं कहूँ वह सब सही जो तुम कहो वह सब गलत और ऐसे में देश और दुनिया एक विचित्र तरह की 'साइकोफेन्सी' की शिकार होती जा रही है।

ऐसे में, हिंदी कहानी का समकाल कहीं आवेग तो कहीं असमंजस से आप्लावित है। हम क्यों लिखते हैं- यह भी स्पष्ट नहीं है- जरूरत है इसलिए लिखते हैं या महिमामंडित होने की चाह हमसे लिखवा ले जाती है- जैसे 'कहन' कहीं अंदर से निकलकर नहीं आती बल्कि छत्ते से उछलती है आसमान की ओर।

वैसे तो हिंदी कहानी का समकाल विविधताओं एवं विमर्शों से भरा हुआ है, बस अंतर यह है कि ७० के बाद की जनवादी कहानियाँ अपनी कहन में कहीं जनसंघर्षों को बेबाक मुखर कर रहीं थीं। मुद्रण युग से निकलकर अंतर्जाल के युग में कहानियाँ विमर्शों के सैलाब में अधिक हैं अतः वह मतान्तर की शिकार भी हो रही हैं। कहानी किसने लिखा, वह किस पंथ या नस्ल का है, वह किसका समर्थक है आदि बातें रचना और रचनाकार दोनों को चिन्हित करने के लिए स्थिर की जाती हैं जिसके कारण रचनाएँ ठीक नहीं बन पा रही हैं। साहित्य रचना कैरियरिज्म के चपेट में है अतः दिल और दिमाग से दूर जा गिरी है। कहानी की 'कहन' में आजकल फोर्स कम और बनावट अधिक है।


संपादक

‘समकालीन कहानी: समृद्धि के नए सोपान’

शुभा उपाध्याय

पहली बार जब मन ने चाहा होगा कि अपनी आप बीती, अपना सुख-दुःख किसी से कहे और उसका सुने, समझे तभी से कहानियों के नन्हें-नन्हें बूटे चमकने को बेताब हुए होंगे। यूँ तो कहानी को साहित्य की आधुनिक विधा के रूप में ही मान्यता मिली है किंतु इसका ही एक अत्यंत सुंदर और स्वस्थ, स्वरूप वेदों, उपनिषदों में प्राप्य है। हमारे यहाँ आख्यानों और किस्सों की एक दीर्घ एवं समृद्ध परंपरा रही है। यहाँ हम जिस कहानी पर बात कर रहे हैं वह आधुनिक हिंदी गद्य की एक सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। इस रूप में भी कहानी ने लगभग (सवा सौ वर्षों की) एक लंबी यात्रा तय की है। अपनी इस यात्रा में कहानी ने देश और दुनियां को बेहिसाब बदलते हुए न सिर्फ देखा है अपितु इस बदलाव के बाबत स्वयं में उसके प्रभाव को गहराई से रेखांकित भी किया है। प्रभाव रेखांकन की इस प्रक्रिया में कहानी का स्वयं कई-कई बार कायाकल्प होता रहा है। शिल्प और अंतर्वस्तु दोनों ही धरातलों पर उसने परिवर्तन के दौर में अपने कहानीपन को बचाये रखने की कामयाब कोशिश की और अपने रचाव-बनाव में वैविध्य समेटे हर बार कुछ और सामर्थ्य के साथ समय की नई गूंज को पहचानने की उद्घोषणा करती रही है।

कहानी विधा को गंभीरता से साहित्य के मध्य स्थापित करने का श्रेय प्रेमचंद को है। तदुपरांत प्रसाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि कहानीकारों ने देश-समाज, व्यक्ति आदि को विभिन्न सरोकारों से जोड़कर कहानी को एक अभूतपूर्व गरिमा प्रदान की। स्वतंत्रता के पश्चात साहित्य की तमाम विधाओं की तरह कहानी में भी सपनों और आदर्शों के बनने-बिगड़ने की अनुगूंज सुनाई देती है। भारत विभाजन, तकनीकी विकास, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण इत्यादि के मध्य मानवीय मूल्यों-रिश्तों के चटकने, दरकने की मार्मिक कथाएँ प्राप्य हैं।

आदर्शवादी, यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों की यात्रा करती हिंदी कहानी सत्तर से अस्सी नब्बे के दशकों में नयी कहानी, समानांतर कहानी, जनवादी कहानी, समकालीन कहानी आदि कई नामों से पुकारी जाती है। हिंदी कहानी के इतिहास में ये दशक अत्यंत उर्वर और महत्वपूर्ण दशक रहे हैं। गंभीर चिंतन-मनन, आंदोलन और तात्कालिक देशव्यापी परिस्थितियों ने अपने ताप से कहानी को खूब उबाला है। नयी कहानी जब पारम्परिक यथार्थवादी खांचे को तोड़कर, मोहभंग की मुद्रा में शहरी मध्यवर्ग के बीचो-बीच आकर खड़ी होती है तो ‘सपाट चेहरे वाला आदमी’ में तब्दील हो जाती है। नक्सलवादी उभार और आपातकाल की स्थितियों ने ‘कथ्य’ और ‘कथानक’ के सहज बुनावट को थके और खीझे व्यक्ति के एकालाप से स्थानांतरित कर दिया। यह वही समय था जब कहानी ‘अ-कहानी’, ‘सहज कहानी’, ‘एण्टी कहानी’, ‘सचेतन कहानी’, ‘एक्सर्ड कहानी’ के कई परिधान अदल-बदल रही थी। एक अजब स्थिति थी, कहानी कहानी से दूर होती जा रही थी फलतः साहित्य के केन्द्र से हाशिए की ओर लुढ़कने लगी थी। अक्टूबर १९७४ में प्रकाशित ‘सारिका’ के ‘समानांतर कहानी विशेषांक’ ने एक विस्फोटक कार्य किया। देश भर के जनपक्षीय कहानीकारों को एक साझा मंच प्रदान किया। मतों, विचारों और आवेगों की विभिन्नता के साथ जन सामान्य से जुड़े मसले कहानी में उठने लगे। स्वयं प्रकाश जी के शब्दों में कहें तो- ‘आज समानांतर से जुड़े कहानीकारों मसलन कामतानाथ, इब्राहिम शरीफ, आलमशाह खान, दामोदर सदन, मेहरून्निसा परवेज, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया और उनकी कहानियों पर नजर डालें तो एक चीज तो एकदम साफ हो जाती है कि इन लोगों ने जमीन से जुड़े लोगों की वास्तविक समस्याओं पर लिखने की कोशिश की और मेहनतकश मनुष्य को कहानी के केन्द्र में स्थापित कर दिया। ये न होता तो अगले दशक में हिंदी कहानी प्रेमचंद की प्रगतिशील परंपरा से दोबारा न जुड़ पाती।’ कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद की परंपरा से तात्पर्य, निकट के यथार्थ का विश्वसनीय और ईमानदारपूर्ण ऐसे चित्रण से है जिससे भविष्य की दिशाओं का संकेत

मिल सके। 'आपातकालीन स्थिति' के सबक ने कहानी की संवेदना को 'बेधक', विचार तंतुओं को तार्किक एवं विवेक सम्मत बनाया। इब्राहिम शरीफ की 'जमीन का टुकड़ा' ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर', इम्राइल की 'फर्क' भारतीय मानस में तैराये जा रहे 'साम्यवाद', 'समाजवाद' की बखिया उधेड़ते हैं। 'आवाज की अर्थी' इमरजेंसी की मार्मिक व्यंजना प्रस्तुत करती है। समकालीन कहानी के दौर में ही मूल्यों के विघटन, शोषणमूलक समाज व्यवस्था, सामाजिक-पारिवारिक रिश्तों में दरकाव आदि के संदर्भ में काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, ममता कालिया आदि की कहानियों को देखा जा सकता है। जहाँ कहानियाँ मनोवैज्ञानिक गुत्थियों में न फँसकर 'मनोदशा' के चित्रण में अधिक सहज हैं। ये कहानियाँ ऊपर से देखने में जितनी सरल प्रतीत होती हैं वस्तुतः अपनी बुनावट की पर्तों में समकालीन समय के संकट को उतनी ही बारीकी से गहरे संकेतित करती हैं। लीलाधर मंडलोई के शब्दों में- 'कहानीकारों ने क्रांतिवादिता को दरकिनार कर सामाजिक अंतर्विरोधों की गहरी पड़ताल के साथ यथार्थ की परतों में उतरने का काम किया। उन्होंने अपने समय के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों की समीक्षा की और जीवन की जटिलता को पहचाना। परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को पहचानने में कहानीकारों ने भीतरी जद्दोजहद की और मानवीय संवेदना को समय के परिप्रेक्ष्य में नया आयाम देने की चेष्टा की। उनके भीतर एक नया आलोचनात्मक विवेक जन्म ले रहा था। वे समय के यथार्थ की संश्लिष्टता को समझने की दृष्टि विकसित कर रहे थे। जीवन के जटिल प्रश्नों को समझने में उनकी भाषा नया रूप धर रही थी। और फार्म को भी वे नये ढंग से अर्जित कर रहे थे।' वस्तुतः कहानीकार अब प्रगतिशील और जनवादी कहानी के समय के सीमित यथार्थ से प्रस्थान कर चुका था। अब वह बाजारवाद, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मकड़जाल, राजनीति एवं अर्थ के दबाव में जटिलतर होते जा रहे जीवन के नये यथार्थ को चिन्हित करने लगा। कहानी अब एक साथ कई तनावों को रच रही थी। एक साथ कई चुनौतियों के सम्मुख आ खड़ी हुई थी। मजदूर वर्ग, दलित वर्ग, अल्पसंख्यक और आदिवासी समाज भी कहानीकारों की निगाह में रहे। अरुण प्रकाश की 'भैया

एक्सप्रेस', असगर वजाहत की 'होज वाज पापा', संजीव की 'अपराध', स्वयं प्रकाश की 'पार्टीशन', उदय प्रकाश की 'तिरिछ', विष्णु नागर की 'पैट', अखिलेश की 'चिट्ठी', शिवमूर्ति की 'तिरिया चरितर' आदि कहानियाँ इस समय को अभिव्यक्त करती हैं। ये कहानियाँ अपनी 'मारक' अनुभूति और तीव्र विचारोत्तेजना से पाठक को विचलित करने में समर्थ होती हैं। कहानी के इतिहास में ९० के बाद के कई दशक कई महत्वपूर्ण मोड़ को रेखांकित करते हैं। यह समय हिंदी जगत में कई प्रतिष्ठित और अच्छी पत्रिकाओं का भी समय है। जिनका कहानी के प्रकाशन में अविस्मरणीय योगदान रहा है। 'हंस', 'पहल', 'कथादेश' आदि पत्रिकाओं ने बेहतरनी कहानियाँ छापकर कहानी जगत को समृद्धि प्रदान की है। इसी दशक के शुरुआती दौर में घटित उदारीकरण, मंडल कमीशन और बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटनाओं ने देश में एक अजीब हलचल की स्थिति पैदा की। किंतु ऐसा नहीं है कि साहित्य की सभी विधाओं ने उनको ज्यों का त्यों उगलना शुरू किया। खासकर कहानी ने तो बिल्कुल ही नहीं। साहित्य में स्थितियों और घटनाओं की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक दस्तावेज अथवा रिपोर्टिंग के जैसे होती भी नहीं, होनी चाहिए भी नहीं। कलायें, फलस्वरूप आये प्रभाव और बदलाव को आत्मसात कर तब कुछ बुनने अथवा रचने जाती हैं। भूमंडलीकरण, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और बढ़ती संचार क्रांति ने भारतीय समाज में कई विषमताओं को जन्म दिया, कई अंतर्द्वंद्व और संघर्ष भी अस्तित्व में आये किंतु एक जो सबसे बड़ी चीज घटित हुई वह थी दलितों और स्त्रियों के 'ब्रिदिंग स्पेस का क्रियेशन'। दलित चेतना और स्त्री चेतना ने ज्यादा विमर्शों के आकार में ही सही किंतु साहित्य में अपना 'स्पेस क्रियेट' किया। इस संदर्भ में 'हंस' और उसके यशस्वी संपादक राजेन्द्र यादव के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन दोनों के सबल-साथ ने समाज में दबी अब तक अनकही, अनसुनी न जाने कितनी दास्तानों को मुखरित किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि, शरण कुमार लिम्बाले, श्यौराज सिंह बेचैन, प्रहलाद चंद दास आदि की लेखनी ने एक ओर दलित, दबे, वंचित और शोषितों की आपबीती को अत्यंत सतर्क, सजग और संवेदनशीलता से लिखना शुरू किया तो वहीं मैत्रेयी पुष्पा,

अनामिका, चित्रा मुदगल, दूर्वा सहाय जैसी लेखिकाओं ने दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्रियों के सरोकारों को लेकर एक धीमी किंतु अत्यंत तीक्ष्ण मुहिम छेड़ दी। फलस्वरूप 'पीली छतरी वाली लड़की' (उदय प्रकाश), 'सलाम', 'शवयात्रा' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'नृशंस' (अवधेश प्रीत), 'नालंदा पर गिद्ध', 'भविष्य द्रष्टा' जैसी कहानियों का सृजन हुआ। कहानी ने स्वयं के लिए मनपसंद प्रेम और कैनवास का चुनाव कर लिया। राजेन्द्र यादव के शब्दों में- 'आज की कहानी युग के संदर्भों, दबावों से प्राप्त 'अपने अनुभवों' को आत्मसात करके, उन्हें पात्रों स्थितियों में फैलाकर तटस्थ-भाव से देखने-समझने और पाठक तक पहुंचाने का प्रयास है।... कहानी की प्रकृति आज विवरणात्मक, रूपात्मक नहीं संवेदनात्मक (इन्वोकेटिव) है। व्यक्ति और परिवेश के जीवंत संबंध-क्षण को स्पंदनशील और सार्थक सिचुएशन्स के रूप में प्रस्तुत कर देना, अपने अनुभव की प्रामाणिकता को बरकरार रखते हुए उनकी सीमितता को लांघना भी है। वह लेखक के निर्वैयक्तिकरण और अनुभूति के अनुशासन की प्रक्रिया, या अपने व्यक्तित्व की मुक्ति और विसर्जन ही नहीं, पाठक की संवेदनाओं का विस्तार और संस्कार भी है।'

इक्कीसवीं सदी के भारतीय आंगन में कहानी और भी विविधताओं के साथ आती है। शाश्वत प्रेम संबंधों की समर्पणशीलता, शुचिता, स्त्री-पुरुष के संबंध, समलैंगिक संबंधों की अवधारणा, आतंक, अवसाद, जबरदस्त सूचना तंत्र का जीवन में प्रवेश, इंटरनेट, ग्लोबल वीलेज का कान्सेप्ट, ट्रांसजेंडर, लिव-इन-रिलेशनशिप आदि के साथ, जनसाधारण के आम अधिकारों की बात, बाजार की चकाचौंध, मॉल संस्कृति इत्यादि ने इक्कीसवीं सदी की कहानी को अन्तर्वस्तु और संरचना दोनों ही दृष्टियों से एक ओर जहाँ परंपरा से पृथक किया है वहीं अनेक अभिनव प्रयोगों से सशक्त कर पेश किया है।

आज का कहानी लेखक सिर्फ कहानी नहीं लिखता अपितु एक विमर्शकार की भूमिका में पाठकों के साथ अपनी

जानकारी और रचना के साथ काफी दूर तक चलकर उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराता है और फिर पाठक को एक चिंताशील मुद्रा में लाकर स्वयं मौन हो जाता है। अपनी इस यात्रा में वह भाषागत, विधागत किसी भी वर्जना की परिधि को स्वीकार नहीं करता। कहानी की कशती एक बार जब बह निकलती है तो निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी और कविता के ठौर-ठिकानों से टकराती गलबहियां करती अपने गंतव्य का रूख ले लेती है। उसकी इसी दरियादिली ने कलेवर में उसे कभी-कभी 'लम्बी कहानी' अथवा 'लघु उपन्यास' की चौखट तक खींच लिया है। ऐसी कहानियाँ अद्भुत ब्यौरे वाली होती हैं। किंतु उतनी ही रोचक! छोटी-छोटी बातों की खुशबू से महकती, नन्हें-नन्हें बिम्बों की चमक से जगमगाती! कमला प्रसाद के शब्दों में- 'ये ब्यौरे नया-नया आख्यान बनाते हैं, प्रतीक हमारे समय लक्षणों को तीव्रता से उजागर करते हैं। कहानी की यह नई संरचना है।.... कहानियों का विकास एपिक की तरह करते हैं। कुल मिलाकर इनकी कहानियों के संरचनात्मक लक्षणों में रचना की नई सौंदर्य दृष्टि मौजूद है।' इस दौर की कुछ कहानियों के रूप में मुहम्मद आरिफ की 'फूलों का बाड़ा', 'तार', पंकज मित्र की 'क्विज मास्टर', मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'कठपुतलियाँ', संजय कुंदन की 'बॉस की पार्टी', कुणाल सिंह की 'सनातन बाबू का दाम्पत्य', प्रभात रंजन का 'जानकीपुल', नीलाक्षी सिंह की 'परिंदों का इंतजार सा कुछ' को देख सकते हैं। इनके अतिरिक्त इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन से जुड़े अजय नवारिया, युवा कवि, आलोचक, कहानीकार उमाशंकर चौधरी, चंदन पांडेय, वंदना राग और भी कई कहानीकार जिनका और जिनकी कहानियों का उल्लेख यहाँ नहीं हो पाया है अनवरत अपने वैविध्य के साथ कहानी विधा को समृद्ध करते नजर आते हैं। कहने में परहेज नहीं कि (खगेन्द्र ठाकुर के शब्दों में) विविधता किसी साहित्य या विधा या किसी लेखक की भी समृद्धि का प्रमाण है।

आप सभी के साथ पूरे भारतवर्ष और संपूर्ण दुनियां को मुक्तांचल परिवार की ओर से नववर्ष की शुभकामनाएँ।

संपर्क : खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता-700006, मो. 9830094793

नयी सदी के आर-पार हिंदी कहानी के पचास साल: दशा-दिशा और उपलब्धियाँ

डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय

साहित्य समकालीन होकर ही कालातीत होता है। इसलिए आज लिखे जा रहे साहित्य में हम सबसे पहले अपने समय को ही तलाशते हैं। हिंदी कहानी की बहुत बड़ी खूबी 'तात्कालिकता' है। वह अपने समय की गंभीर चिंताओं और ज्वलंत प्रश्नों को तत्काल उत्कटता से ग्रहण कर उन पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत करती है। कहानी अपने समय से निरंतर मुठभेड़ कर उसमें बड़े सार्थक ढंग से हस्तक्षेप करती है। मैंने अपने इस आलेख में हिंदी कहानी को ४०-५० वर्षों की कहानी माना तथा दशा-दिशा और उपलब्धियों को दर्शाने का संक्षेप में संकेत कर रहा हूँ। इस कालावधि में कहानी ने अपने युग की संवेदना को पूरी तरह से वहन किया है। हिंदी कहानी का इतिहास विविध रचनात्मक संघर्षों, सामाजिक संघर्षों का इतिहास है। अपनी संघर्षशील प्रकृति के कारण कहानी युग जीवन से टकराकर निरंतर परिष्कार और परिपक्वता की ओर बढ़ने के प्रयास करती आ रही है। कहानी में बौद्धिकता के बढ़ने के साथ ही उसके शिल्प में परिवर्तन की आहट दिखायी पड़ती है। बौद्धिकता के कारण कहानी अब वर्णन नहीं करती, बल्कि कथा माध्यम से आलोचना करती है। समग्र रूप से अद्यतन ४०-५० वर्षों की हिंदी कहानी सामाजिक यथार्थ से गहन समृक्ति के धरातल पर अभिव्यक्ति के नये-नये प्रयोग कर सम्प्रेषण क्षमता को अनेकानेकविध समृद्ध करने में समर्थ है। कहानी के क्षेत्र में आज भले ही कोई सक्रिय आंदोलन न हो किंतु समकालीन लेखन में कहानी अपने समय और समाज को व्यक्त करने में जी जान से जुटी है।

आज का यथार्थ ज्यादा जटिल, कुटिल और बहुकोणीय है अतः आज का रचनाकार नये प्रयोगों द्वारा वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संरचना को संवाद के जरिए साकार करता है। समकालीन कहानी आज हिंदी साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय भाषाओं के साहित्य की एक गौरवपूर्ण विधा है। जानकार लोगों का मानना है कि हिंदी में विश्व कथा साहित्य के स्तर की कहानी लिखी जा रही है। प्रायः ८५-८६ वर्ष की अवस्था में कहानी ने जितनी प्रौढ़ता प्राप्त की है वह किसी भी विधा के लिए गौरव की बात है। समकालीनता स्थिति-विशेष की परिचायक है, समकालीनता काल का मापदंड है। समकालीन रचना में समय एवं आयु का उतना महत्व नहीं होता जितना कि समानदृष्टि का होता है। अतः इस प्रकार की समान दृष्टि वाले व्यक्ति ही समकालीन कहानीकार कहे जा सकते हैं जो समान स्तर पर आज के जीवन की विसंगतियों एवं विकृतियों को झेल रहे हैं। जो रचना सामाजिक संबंधों के समग्र विकास के जीवित संस्पर्श को अर्जित और संप्रेषित करती है, वही रचना समकालीन कहलाती है। यही कारण है कि समकालीन कहानी में जीवन सापेक्ष समस्याओं आदर्शों की निरुद्देश्यता, मूल्यहीनता और प्रदर्शनहीन स्वभाव तथा क्रियाहीन मनुष्यों का चित्रण हुआ है। समकालीनता अपने काल की केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से ही उत्पन्न होती है। समकालीन रचना की पहचान रचनाकार अथवा समय विशेष न होकर रचना के भीतर व्याप्त युगबोध में निहित है। जिन रचनाओं में युगीन यथार्थ तथा युगीन संवेदना उदग्र होकर अभिव्यंजित होती है तथा जो अपने समय का दस्तावेज बनकर समाज एवं देश के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करती है एवं जनमानस की आशाओं, आकांक्षाओं को वाणी देकर समकालीन मानवीय नियति के स्वरूप और उसके विकास की सरणियों की खोज करती है वही समकालीन रचना होती है।

हिंदी कहानी अपनी यात्रा के साथ शती के अंत तक आते-आते एक गंभीर बौद्धिक विमर्श की विधा के रूप में स्थापित हो जाती है। २१वीं शती के डेढ़-दो दशक में कहानी की चिंताएं और भी व्यापक और गंभीर हुई हैं। कहानीकार युग यथार्थ को संवेदना का अंग बनाकर प्रस्तुत करता है और उसे प्रस्तुत करते हुए ही वह उस यथार्थ के प्रति अपने स्वीकार-अस्वीकार या आलोचना-भाव को भी प्रकट करता है। साठोत्तर काल में हिंदी कहानीकारों ने कहानी के रूप और शिल्प को लेकर बड़े साहसिक प्रयोग किए। इन साहसिक प्रयोगों के कारण इस बीच सरल कथा-शिल्प में लिखी गई कहानियाँ फीकी लगने लगीं और उनकी उपेक्षा होने लगी। इस प्रवृत्ति से कहानीकार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। फलतः उन कहानीकारों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किए जिनके पास वैसा सामर्थ्य नहीं था और जो बुरी तरह असफल हुए। डॉ. हरदयाल का मानना है- “हिंदी कहानी ने अपने लगभग अस्सी वर्ष के इतिहास में रूपात्मक प्रयोगों की एक लम्बी परम्परा बनायी है। इस परम्परा में वह सरल संरचना से जटिल संरचना की ओर अग्रसर हुई है। जब-जब उसमें वस्तुगत परिवर्तन हुआ है तब-तब उस वस्तु को अपनाया गया है। विश्व कथा-साहित्य का शायद ही ऐसा कोई रूप होगा और शायद ही कोई ऐसी प्रविधि होगी जो हिंदी कहानी के इतिहास में सुलभ न हो। उसका विकास क्रम बीसवीं शताब्दी के भारतीय मध्यमवर्ग में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के तीव्रतर होने के साथ हुआ है।” (हिंदी कहानी परम्परा और प्रगति, डॉ. हरदयाल, पृष्ठ-३५)

पिछले पचास वर्षों में हिंदी कहानी पाठकों से जुड़ने-कटने तथा व्यावसायिकता के अनोखे द्वंद्व से गुजरती रही है, फिर भी उसकी समृद्धि से इंकार नहीं किया जा सकता। हिंदी कहानी का जिन्हें इतिहासबोध है, वे स्पष्ट तौर से जानते हैं कि कहानी को सामाजिकता से जोड़ने का प्रयास प्रेमचंद ने किया। उन्होंने अपनी कहानियों में निम्न वर्ग को प्रतिष्ठित किया। उसी जमीन पर खड़े होकर यशपाल जैसे कई कथाकारों ने यात्राएँ की, लेकिन यात्राओं में पड़ाव की कमी नहीं थी। यह यात्रा निर्विघ्न नहीं थी, इसलिए कहानी की दिशा में यदा-कदा भटकाव

आना स्वाभाविक था और इसी भटकाव के लिए जिम्मेदार केवल कथाकार नहीं, अपितु इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का भी योगदान था। डॉ. टी. सुमति के शब्दों में- “प्रेमचंद, मुक्तिबोध, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, अमरकांत, भीष्म साहनी आदि कथाकारों को अगर अपवाद मान लिया जाये तो प्रगतिवादी कहानी, मनोवैज्ञानिक कहानी, नई कहानी, अकहानी आदि की एक बहुत बड़ी सीमा रही है। आठवें दशक के प्रथम चरण में समांतर कथा आंदोलन की शुरुआत हुई और उसके ध्वजवाहक अगुआ के रूप में कमलेश्वर ने अपनी सक्रिय भूमिका निभायी। नयी कहानी की तरह आधुनिकतावाद से ग्रसित समांतर कहानियों में न तो प्रतिबद्धता व्यंजित हुई और न संघर्षमुखी चेतना को विकसित करने वाले कथातत्त्वों का संयोजन ही हुआ। समकालीन कहानियों में शोषित वर्ग की पक्षधरता का दर्शन अब स्पष्ट रूप से हो रहा है।” (समकालीन कहानियों में टूटते हुए मानवीय संबंध, पृष्ठ- २०७)

१९७० तक आते-आते अकहानी तथा सचेतन कहानी के आंदोलनों का अवसान हो गया। कमलेश्वर ने ‘सारिका’ के अपने संपादन काल में आठवें दशक के शुरू में समांतर कहानी की शुरुआत की। समांतर कहानी के आंदोलन के पीछे कमलेश्वर तथा उनके साथी युवा कथाकारों को स्थापित होने की महत्वाकांक्षा रही तथापि इस आंदोलन ने अपनी पहचान बनायी तथा यह आंदोलन चर्चा का केन्द्र बना। समांतर कहानी आम आदमी के संघर्ष को पहचानने का प्रयास करती है। आठवें दशक के अंतिम चरण में जनवादी आंदोलन कहानी साहित्य में उभरकर आया। यह प्रगतिशील आंदोलन का ही विकसित रूप है। जनवाद का जन्म सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष रहा है। यह संघर्ष बहुआयामी है। यह संघर्ष वास्तविक जीवन का है। यह कहानी वैचारिक दृष्टि से मार्क्सवादी विचारधारा का पोषण करती है। जनवादी कहानी पाठक को दिशा देती है, उसमें आशा का संचार करती है। डॉ. टी. सुमति ने ठीक ही लिखा है- “जनवादी कहानी ने कथ्य के स्तर पर अपने आप को किसान, मजदूरों से जोड़ा लेकिन जीवन का व्यापक क्षेत्र इससे वंचित रह गया।” जनवादी कथाकार को जीवन की प्रगतिशील शक्तियों

पर पूरा विश्वास है और लेखक परिवेश तथा पात्रों के प्रति ईमानदार है। जनवादी कहानी ने एक ऐतिहासिक कार्य किया कि उसने हिंदी कहानी की विगत परम्परा को प्रेमचंद से जोड़ते हुए हिंदी कहानी की सच्ची परम्परा को समृद्ध किया है। यह हिंदी कहानी का व्यापक आंदोलन है जिसकी जड़ें जीवन और इतिहास में हैं। आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में जनवादी कहानी के माध्यम से हिंदी कहानी की स्वस्थ तथा यथार्थवादी परम्परा को समझने का प्रयास किया गया। जनवादी कहानी ने अपनी जड़ें जीवन यथार्थ तथा इतिहास के विकास में खोजी है।

नयी कहानी के दौर से पहले वे कहानीकार आते हैं जो समकालीन दौर में भी लिखते रहें। इनमें उपेन्द्रनाथ अश्व, विष्णु प्रभाकर, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, शानी, रामेश्वर शुक्ल आदि कहानीकार सम्मिलित हैं। ये स्थापित कहानीकार हैं, इस कारण इनकी रचना को पाठक व लेखक अपेक्षाकृत अधिक गंभीरता से ग्रहण करते हैं। समकालीन कहानी में दूसरा वर्ग उन कहानीकारों का है जो 'नयी कहानी' के दौर में सामने आए जो समकालीन कहानी दौर में भी रचनात्मक योग दे रहे हैं। इनमें अधिकांश कहानीकारों ने नयी कहानी को गति और दिशा देकर उसका स्वरूप निश्चित किया था। इसमें भीष्म साहनी, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, रेणु, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र यादव, शेखर जोशी, शिव प्रसाद सिंह, ज्ञानरंजन, गोविंद मिश्र आदि प्रमुख रचनाकार हैं। तीसरे वर्ग में वे कहानीकार आते हैं जिन्होंने नई कहानी और अकहानी दोनों की जड़ता के विरुद्ध आंदोलन किया जिनमें महिला कहानीकारों की संख्या अधिक है। चौथा वर्ग उन कहानीकारों का है जो इसी अवधि (१९७१-१९९०) में उभरकर आए। दरअसल समकालीन कहानी का स्वरूप मुख्यतः इन कहानीकारों की रचनाओं से ही उभरता है। इस वर्ग के कहानीकारों की सूची बहुत लम्बी है। इनमें कुछ प्रमुख हैं- अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर वजाहत, इसराइल, उदय प्रकाश, कर्मेन्दु शिशिर, कामतानाथ, काशीनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, गोविंद मिश्र, चित्रा मुद्गल, जितेन्द्र भाटिया, ज्ञान

प्रकाश विवेक, धीरेन्द्र आस्थाना, नमिता सिंह, पंकज विष्ट, पुनी सिंह, प्रयाग शुक्ल, मधुकर सिंह, माहेश्वर, भालचंद्र तिवाड़ी, मिथिलेश्वर, रमेश उपाध्याय, संजीव, सुरेश कांटक, सूर्यबाला, हिमांशु, सिद्धेश, हृदयेश, ऋषिकेश सुलभ आदि। एक वर्ग अकहानीकारों का है जिन्होंने १९८० के बाद मुख्य रूप से कहानियाँ लिखीं इनमें दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, रामदरश मिश्र, गंगा प्रसाद विमल आदि उल्लेखनीय हैं। पिछले ३०-३५ साल के कहानी की यदि चर्चा करें तो यह वह समय है जिसमें कथाकारों की नयी पीढ़ी ने सशक्त लेखन द्वारा अपने कृतित्व का महत्वपूर्ण उल्लेख दर्ज कराया है। सभी नाम नहीं लिखे जा सकते। इनमें स्वयं प्रकाश, उदय प्रकाश, अखिलेश, शिवमूर्ति, अरुण प्रकाश, पुनी सिंह, जयनंदन प्रियंवद, शैलेन्द्र सागर, अवधेश प्रीत, महेश कटारे, तरसेम गुजराल, संजय, चंद्रकिशोर जायसवाल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, शंकर, शशांक, तेजेन्द्र शर्मा, नीलाक्षी सिंह, प्रियदर्शन, श्योरजा सिंह, राजेन्द्र, आदि तथा महिला कथाकारों में मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी, ऋचा शुक्ल, सुधा जैन, गीतांजलि, क्षमा शर्मा, लवलीन, जया जादवानी, सुषम वेदी, शिवानी, उर्मिला शिरीष, मनीषा कुलश्रेष्ठ, प्रत्यक्षा, वंदना रागे, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, कृष्णा अग्निहोत्री, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, मखिका मोहनी, मालती जोशी, चंद्रकांता, सुधा अरोड़ा, मृणाल पाण्डेय, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, शशिप्रभा, दीप्ति खंडेवाल, सूर्यबाला, निरुपमा सेवती आदि हैं। नितांत नई युवा पीढ़ी में भी लेखिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण है। आठवें दशक के बाद आधुनिकता का प्रसार होने लगा। यह शहर तथा गाँवों तक फैली। यह पेंशन, बेरोजगारी, ग्राम पंचायत, जातिवाद, मुकदमेबाजी, चकबंदी, खेती-बारी के साधनों का विकास आदि के क्षेत्र में आयी। इस दशक में पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों में एकता और जागरूकता आयी। आठवें दशक से पूर्व इनकी सामाजिक स्थिति ठीक नहीं थी। इस काल की कहानियों का उद्देश्य दलित तथा भारतीय नारियों की गरिमा का उद्घोष करना भी था। आठवें दशक की अधिकांश कहानियाँ समकालीन यथार्थ को उजागर करती हैं। नारी मन का

टूटन, खोखलापन, आंतरिक वेदना तथा भटकाव को दाम्पत्य संबंधों के आधार पर दर्शाया गया है। उक्त अवधि में हिंदी कहानी की सबसे बड़ी चिंता समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैला भ्रष्टाचार कदाचार रही थी। इसीलिए उस समय व्यवस्था में विभिन्न रूपों में फैली गंजालत पर एक से एक सशक्त कहानियाँ आयीं। किंतु नवें दशक और विशेषतः हाल के १५-२० वर्षों में कहानी की सबसे बड़ी चिंता बाजारवाद, उपभोक्तावाद, खुलेबाजार व्यवस्था, उदारीकरण की रणनीति का मनुष्य की जीवन शैली पर प्रभाव, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा हमारे सांस्कृतिक और जीवन शैली को पूरी तरह बदल डालने के गहराते संकट पर केन्द्रित है। आज हमारा समाज एक उपभोक्ता समाज में बदलता जा रहा है और अपसंस्कृति सब जगह, शहर ही नहीं गाँवों में भी फैलती जा रही है। इसके विरुद्ध आज की अनेक कहानियाँ लिखी गई हैं जो अलग-अलग तरह से प्रामाणिक अभियोग पत्रों जैसी हैं। स्वयं प्रकाश की कहानी 'दस साल बाद' में आख्याता अपने मित्र के बारे में कहता है- "उपलब्धि के नाम पर उसने वही बेजान चीजें गिनवा दी जो मैं सुबह से देख रहा था- प्लाट बंगला, स्टारियो, फ्रिज, टी.वी. अब कार लेना चाहता है।" साहित्य मानवीय मूल्यों का प्रहरी होता है और उसी कसौटी पर आज की कहानी खरी उतरती है।

प्रसिद्ध कथालोचक डॉ. पुष्पपाल सिंह ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है- "२१वीं शती के प्रथम दशक में कहानी की चिंताएँ और भी व्यापक और गंभीर हुई हैं। भूमंडलीकरण की तीव्र प्रक्रिया में हमारा निरंतर होता अमेरिकीकरण, बाजारवाद उपभोक्तावाद का मायावी जगह, साम्प्रदायिकता, मनुष्यता के निरंतर क्षरण की चिंता आदि प्रश्नों पर जितना व्यापक विमर्श दलित, आदिवासी, स्त्री विमर्श की आज की कहानी में रचा जा रहा है उसे देखकर सुखद आश्चर्य होता है। पुरानी कहानी का पाठक जब आज की कहानी पढ़ता है तो उसका स्वरूप परिवर्तन देख भौंचक रह जाता है।" (अवारा, ...१२५, पृष्ठ ६) इधर २५-३० वर्षों में प्रकाशित हिंदी कहानियों ने कहीं अपनी नयी पहचान बनायी है और कहीं पुरानी लेखन-प्रवृत्तियों को नई

सूझ से अधिक गहराया है। इन कहानियों ने यथार्थ-चित्रण के अन्तर्गत समाज के अलग-अलग दायरों में सम्पन्न-विपन्न वर्ग के बीच पल रहे अनवरत द्वंद्व के विविध रूप प्रस्तुत किए हैं। आज जन साधारण को सबसे बड़ा शिकवा राजनेताओं के प्रति है। उसकी धारणा है कि इन्हीं लोगों ने अपने स्वार्थ के कारण व्यवस्था नाम की स्थिति को अराजकता, भ्रष्टता में परिणत कर दिया है। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों की लालची अवसरवादिता का एकसूत्रीय कार्यक्रम है किसी भी प्रकार सत्ता को हथियाना और मनमाना लाभ उठाना। सत्ता प्राप्ति के लिए ये साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रीयता, वर्ग संगठन आदि के किसी भी हरबे का बेहिचक उपयोग कर लेते हैं। इनकी चरित्रहीनता को पहचानने के लिए इधर के कहानीकार संलग्न रहे हैं। दलित उत्पीड़न, नारी मुक्ति की छुटपटाहट, पर्यावरण प्रदूषण, साम्प्रदायिक विद्वेष, गरीबी रेखा के नीचे का जीवन व्यतीत करने वालों की संख्या में वृद्धि तथा व्यवस्था की क्रूरता हमारे समय के जरूरी सरोकार हैं। ये सभी हादसे एक बड़े हादसे से जुड़े हुए हैं। वह है मनुष्यत्व का निरंतर छीनते जाना, अमानवीयकरण की इस विडंबना को सूर्यबाला ने अपने एक संग्रह 'मानवगंध' की कहानियों में गंभीर चिंता के साथ रेखांकित किया है। उपर्युक्त समस्याओं को पहचानने के लिए इधर के कहानीकार संलग्न रहे हैं। ये हैं गोविंद मिश्र, सुरेश सेठ, ज्ञानरंजन, सतीश जमाली, रवीन्द्र कालिया, राजेन्द्र यादव, जितेन्द्र भाटिया, मृणाल पाण्डेय, काशीनाथ सिंह, राजी सेठ, जगदीश चतुर्वेदी, यादवेन्द्र शर्मा चंद्र, रमेशचंद्र साह, अब्दुल बिसमिल्लाह, प्रियंवदा, नर्मदेश्वर, राजकुमार गौतम, ब्रजेश्वर मदान, पुन्नी सिंह आदि। ये कहानीकार अपनी कहानियों के माध्यम से युग की पीड़ा को अपने-अपने ढंग से मुखर करते हैं। रमेश बत्रा ने 'थप्पड़' कहानी में शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्ति की कायरता तथा गरीब रिक्शेवाली की निर्णयता को सामने रखा है। मृदुला गर्ग ने 'दुनिया का कायदा' में पैसे की ताकत के आगे मानवीय मूल्यों की दुर्बलता को दिखाया है। सुरेन्द्र तिवारी की 'वार्ड नं. २' में सरकारी अस्पतालों का कच्चा चिट्ठा खोला गया है। मृदुला गर्ग की 'उसका विद्रोह',

सिम्मी हर्षिता की 'उसका मन', यादवेन्द्र शर्मा चंद्र की 'महापुरुष', राजी सेठ की 'तीसरी हथेली', राजेन्द्र अवस्थी की 'बंगला नं. दस', काशीनाथ सिंह की 'सूचना', सतीश जमाली की 'चुनौती' आदि कहानियाँ युग की पीड़ा को दर्शाती हैं। सर्वहारा वर्ग के प्रति गहन सहानुभूति मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारो आदमी', धीरेन्द्र आस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में अभिव्यक्त हुई है। सुरसा के मुँह की तरह रोज-रोज बढ़ती महंगाई तथा आर्थिक तंगी, आर्थिक मंदी ने मामूली आदमी को तबाह कर दिया है, पीसकर रख दिया है। महंगाई के बढ़ने का मुख्य कारण है कि समाज में एक ओर ऐसा वर्ग है जिसने काले धन का ढेर एक ओर कर लिया है। उसका मनमाना दुरुपयोग कर रहा है। बढ़ती कीमतों से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु कम आय वाला, मेहनत-मजदूरी करने वाला गरीब दो जून की रोटी का जुगाड़ नहीं कर पाता और भूखा रह जाता है। अभावग्रस्त लोगों को सहायता देने वाली सरकारी योजनाओं का पैसा बिचौलियों के पाकिट में चला जाता है। क्रूर, मानवद्रोही राजनीति ने मामूली आदमी का सुख-चैन छिन लिया है। जहाँ नीति समाप्त होती है, वहाँ राजनीति शुरू होती है। राजनीति अर्थात् जोड़-तोड़। श्रवण कुमार का 'भीतर का आदमी', अजित पुष्कल की 'प्रतिरोध', कृष्ण अग्निहोत्री की 'एक और अश्वत्थामा', ओमगो स्वामी की 'दर्द की मछली', सुधा अरोड़ा की 'दमनचक्र', सुनीता कौशिक की 'अस्पताल' आदि कहानियाँ सेठ, ब्यूरोक्रेट, ठेकेदार, पुलिस, डॉक्टर, मास्टर, वकील, प्रशासक आदि के शोषक रूप को सामने लाती हैं। उसी तरह यादवेन्द्र शर्मा चंद्र, विनोद भारद्वाज, मधुकर सिंह, धर्मेन्द्र गुप्त, ज्ञानरंजन, मन्नू भंडारी, दिनेश पालीवाल की कुछ कहानियों में उपरोक्त सारी सच्चाइयों को गहराई से व्यक्त किया गया है।

आज के कहानीकारों की एक बड़ी चिंता जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों की रक्षा और अपसंस्कृति के संकट से बचाने की है। यह चिंता उसकी कहानियों में एक गंभीर बौद्धिक विमर्श बनकर आयी है। इस विषय पर गहरे सरोकारों से अनेक सशक्त कहानियाँ आयी हैं, कुछ नाम- जयनंदन की

'चियर-ऑप कोला ब्लूम-९६', 'विश्व बाजार का ऊँट', संजीव की 'नस्ल', 'काउंटडाउन', शैवाल की 'भारतीय लोक संगीत-९७', सूर्यबाला की 'दादरी और रियोट', अमरीक सिंह की 'ड्रेकुला', लवलीन की 'सहेलियाँ' आदि कई कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि पुरानी पीढ़ी से लेकर बिल्कुल अभी-अभी उतरी कथा पीढ़ी ने एक के बाद एक निरंतर इतनी सशक्त कहानियाँ इस कथ्य पर लिखकर प्रमाणित किया है कि आज कहानी की सबसे बड़ी चिंता इसी संकट से उबरने की है। कहानी की इस गहरी चिंता के विषय पर उदय प्रकाश की 'पालगोमरा का स्कूटर' जैसी चर्चित कहानी में बहुत कुछ कहा गया है। बाजारवाद के दुष्प्रभाव पर कुछ ताजा-तरीन कहानियों के माध्यम से जाहिर होता है कि बाजारवाद किस प्रकार गंभीर रूप धारण करने में हिंदी कहानी का विषय बना है। इस विषय को संजीव की कुछ कहानियों 'ब्लैक होल', 'कम्फेशन', 'नस्ल', 'काउंटडाउन' आदि में बहुत बारीकी से विश्लेषित किया गया है। अनेक प्रचार-माध्यमों, विज्ञापन की दुनियाँ, ब्रांड संस्कृति के जादू ने मनुष्य को आज उपभोक्तावाद की ऐसी अंधी दौड़ में ढकेल दिया है कि उसके तेज प्रकाश वृत्त में आँखों को कुछ सूझता ही नहीं। जयनंदन की 'चियर-ऑप कोला ब्लूम-९६' जैसी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ इन स्थितियों का खुलासा कर अपसंस्कृति के इस दुष्प्रभाव तथा आक्रमण को रोकने का सार्थक प्रयास करती हैं।

दलित लेखन का स्वर हिंदी में उठा है। हिंदी में दलित लेखन मराठी के समान एक अलग आंदोलन का रूप नहीं ले पाया फिर भी दलितों की समस्या को लेकर कुछ सशक्त कहानियाँ हिंदी में आयीं। पुन्नी सिंह ने अपनी कहानियों में दलितों तथा आदिवासियों तथा स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों, उनके शोषण तथा उनकी परास्त मानसिकता का चित्रण किया है। दलित कहानी लेखन में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। दलित लेखन के साथ महिला कहानी लेखन का प्रसंग इसलिए जुड़ जाता है कि कुछ लोगों ने उन्हें भारतीय समाज में दूसरे दलित वर्ग के रूप में परिभाषित किया है। स्वतंत्र भारत में शिक्षा के

प्रसार का सुखद परिणाम यह हुआ है कि शताब्दियों से उत्पीड़ित दलितों, स्त्रियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों में से ऐसे शिक्षित व्यक्ति सामने आ गये हैं जिन्होंने अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठायी है। सूरजपाल चौहान, कंवल भारती, जयप्रकाश आदि कहानीकार प्रमुख हैं। फलतः जिसे 'दलित विमर्श' और 'स्त्री विमर्श' जैसे चिंतन का स्वर दिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि की कहानियों में दलितों के जीवन का यथार्थ और अपने दलन के प्रति आक्रोश भाव का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इस लेख की संक्षिप्त परिचीमा में कहना होगा दलित लेखन का अत्यंत तेजस रूप पिछले दौर में सामने आया है। स्वतंत्र भारत में शिक्षित स्त्रियों की संख्या बढ़ी तेजी से बढ़ी है। हिंदी में कथा लेखिकाओं की बढ़ी संख्या उभरकर सामने आयी है। इनकी गिनती पचास से ऊपर है। कुछ नाम यहाँ दिए जा रहे हैं- ममता कालिया की 'उसका यौवन' (१९८५), 'बोलने वाली औरत' (१९८८), 'प्रतिदिन' (१९८९), 'चर्चित कहानियाँ' (१९९१), 'जांच अभी जारी है' (१९९७), 'मुखौटा' (२००३), 'निर्मोही' (२००४), 'ममता कालिया की कहानियाँ' (२००५), 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (२००५) मृदुला गर्ग की 'उर्ध्वसैम' (१९८६), 'शहर के नाम' (१९९०), 'समागम' (१९९६), 'मेरे देश की मिट्टा', 'अहा' (२००१), 'संगति विसंगति' दो खंडों में संपूर्ण कहानियाँ (२००४), मंजुल भगत: 'सफेद कौआ' (१९८६), 'दूत' (१९९२), 'बूँद' (१९९८), 'अंतिम बयान' (२००१), मेहरुनिस्सा परवेज की 'अंतिम पढ़ाई' (१९८२), 'अम्मा' (१९९७), 'समर' (१९९९), मालती जोशी की 'एक घर सपनों का' (१९८५), 'शाषित शैशव तथा अन्य कहानियाँ' (१९९६), पियावीर नुजानी (१९९९), 'औरत एक रात है' (२००१), चित्रा मुद्गल की 'लाक्षागृह' (१९८२), 'अपनी वापसी' (१९८३), 'इस हमाम में' एवं 'ग्यारह लम्बी कहानियाँ' (१९८७), जगदंबाबाबू आ रहे हैं (१९९२), 'जिनावर' (१९९६), 'भूख' (२००१), 'लपटें' (२००२), 'बयान' (२००४), सूर्यबाला की 'प्याली पर चाँद' (१९९८), 'मुँडेर पर' (१९९०), 'आयिनी कथा' (१९९१), 'सांझबाती' (१९९५), 'कात्यायनी संवाद' (१९९६), 'इक्कीस

कहानियाँ' (२००१), 'मानुषगंध' (२००३), नासिरा शर्मा की 'पत्थर गली' (१९८६), 'गंगसार' (१९९३), 'इन्हे मरियम' (१९९४), 'सबीना के चालीस चोर' (१९९७), 'खुदा की वापसी' (१९९८), 'इन्सानी नरूल' (२००१), 'दूसरा ताजमहल' (२००२), मैत्रेयी पुष्पा की 'चिन्हार' (१९९१), 'लालमनियाँ' (१९९६), 'गोमा हँसती है' (१९९८), गीतांजलि श्री की 'अनुगूँज' (१९९५), 'वैराग्य' (१९९९), अलका सरावगी की 'कहानी की तलाश में' (१९९५), 'दूसरी कहानियाँ' (२००२) आदि।

उपरोक्त तथा अन्य लेखिकाओं की कहानियों में नारी को अपना अधिकार मांगने में अग्रसर दिखायी देती हैं तथा वह परम्परागत भारतीय नारी की तरह पति को अपनी अंतिम नियति मानकर झेलती नहीं, वरन् उनके साथ बराबरी का ओहदा बनाकर रहना चाहती हैं। मणिका मोहनी के स्त्री पात्र इस दिशा में बोलते हैं। कमल कुमार तथा उषा किरण खान की कहानियों में स्त्रीपात्र पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती हैं। राजी सेठ ने अपनी कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पक्षों पर विशेष बल दिया है। लेकिन लेखिकाओं ने स्त्री-पुरुष संबंधों तक अपने आप को सीमित न रखकर उसे पारिवारिक जीवन की दायित्वपूर्ण व्याप्ति दी है। पारिवारिक संबंधों, रिश्तों के सत्य पर आज कहानी का सबसे बड़ा सरोकार वृद्धावस्था की समस्या है। यही कारण है कि पिछले वर्षों में यह कहानी का एक महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय विषय रहा है और इस पर अधिक मात्रा में कहानियाँ मिलती हैं। एक से बढ़कर एक जैसे- केशव की 'अशेष', चन्द्रकांता की 'नेपथ्यकथा', प्रभा खेतान की 'आपका मौसम' आदि। आकस्मिक नहीं है कि इस समस्या पर वागर्थ, प्रेरणा तथा कुछ पत्रिकाओं के विशेषांक भी निकले।

पिछले कई वर्षों में कहानी एक और गंभीर समस्या से आक्रांत रही है, वह है साम्प्रदायिकता की समस्या। यद्यपि यह समस्या आजादी के बाद से ही रू-ब-रू होती रही है। सन् १९८१ से १९९२ तक के दशक में भारतीय समाज में सबसे बड़ी घटनाएँ साम्प्रदायिक दंगों की हुई हैं। इन दंगों ने भारत-पाक विभाजन की घटनाओं को ताजा कर दिया। किंतु बाबरी मस्जिद प्रकरण के बाद तो इस समस्या पर

कहानी ने अपनी सोच को बड़ी प्रखरता से स्तर दिया। गुजरात दंगों में हुए भीषण नरसंहार को केन्द्रित कर बहुत सशक्त कहानियाँ लिखी गई हैं। साहित्य अपने समय संदर्भों को शीघ्र ग्रहण करता है। नवें दशक की साम्प्रदायिक घटनाओं पर आधारित साम्प्रदायिकता की समस्या के विभिन्न पक्षों का सजीव चित्रण हुआ है। इन कहानियों में साम्प्रदायिकता को एक बहशी जुनून ठहराया गया है तथा धर्म से ऊपर उठकर मानवीयता को सर्वोपरि रखा गया है। साम्प्रदायिकता को मानव तथा देश के लिए, आपसी भाई-चारे तथा सद्भाव का शत्रु बतलाया गया है। यह हिंदी कहानी की एक बड़ी उपलब्धि है। मनुष्यता के उभार की दृष्टि से 'मूषक' (नमिता सिंह), 'आदमजात' (स्वयंप्रकाश), तथा 'पांचवा बेटा' (नासिरा शर्मा) भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें साम्प्रदायिक दुर्भावना का कोई स्थान नहीं है। अतः समकालीन हिंदी कहानी में साम्प्रदायिक विद्वेष के प्रति गहन चिंता व्यक्त की गयी है। कथाकारों ने साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विस्तार से उभारकर सौहार्द और सद्भाव की अपनी आकांक्षा को भी कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पिछले तीस वर्षों से साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद की समस्याएँ कहानीकारों की कहानियों का मुख्य विषय बनकर उभरी हैं। पंकज विष्ट की 'क्या कहना', सत्यकेतु की 'कफ़्यू', अखिलेश की 'अंधेरा', मनोज रुपड़ा की 'जबह' और अब्दुल बस्मिल्लाह की 'अतिथि देवो भव' आदि कहानियों के मूल में जम्मू-कश्मीर की समस्या, गोधरा कांड, मुंबई पर आतंकवादी हमले की घटनाओं पर ध्यान दिया गया है। कहानीकारों ने साम्प्रदायिक तथा आतंकी मनोवृत्ति का पुरजोर विरोध किया है। विवेच्य अवधि में साम्प्रदायिक हिंसा के विविध पक्षों का सूक्ष्मता से व संतुलन के साथ चित्रण करते हुए इसके पीछे उत्तरदायी शक्तियों को बेनकाब किया गया है। इनमें अवसरवादी वोट की राजनीति, पूंजीवादी चरित्र, कट्टरपंथी मानसिकता तथा मध्यवर्गीय आत्मलीनता आदि कारण इन कहानियों में मुख्य रूप से मुखरित होकर उभरे हैं। समकालीन कहानी ने अपने परिदृश्य के राजनैतिक तथा प्रशासनिक जीवन को भी अपना विषय

बनाया। इस जीवन में चुनाव की नानाविध तिकड़में, गंदी राजनीति के विद्रूप भ्रष्ट रूप पर खूब कलम चलायी गई और भ्रष्टाचार के खिलाफ सबसे ज्यादा कहानियाँ लिखी गईं। जिनमें प्रत्येक स्तर की भ्रष्टता को नंगा किया है। हिंदी कहानी के ३०-४० साल की यात्रा के अनुशीलन से पता चलता है कि समकालीन परिवेश को कहानीकारों ने अपनी विविधता तथा समग्रता के साथ रचनाओं में उतारने का प्रयास किया है। राजनीतिक क्षेत्र में बढ़ रही हिंसा, निरंकुशता, सत्तालोलुपता तथा भ्रष्टता के रेशे-रेशे को पुराने तथा नये कहानीकार स्पष्ट रूप से चित्रित करने में लगे हैं। सामाजिक पक्ष को कहानीकारों ने विशेष महत्व दिया है। शिल्प और भाषा की दृष्टि से समकालीन कहानी की उपलब्धियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कहानी स्वयं में कथ्य (वस्तु) और शिल्प की संश्लिष्ट परिणति का नाम है। कहानी की श्रेष्ठता के मुख्य रूप से दो आधार हैं- सामाजिक यथार्थ तथा कलात्मक यथार्थ। कहानीकार को दोनों स्तरों पर सफल होना चाहिए। शिल्प की दृष्टि से कहानी की शुरुआत, अंत तथा प्रस्तुति को लेकर अनेक नये तथा सार्थक प्रयोग किए गये। नई कहानी के दौर में विकसित कहानी-शिल्प की अनेक संभावनाओं का भरपूर उपयोग किया गया। आज के नित्य प्रति परिवर्तित हो रहे यथार्थ के जटिल रूपों को लेखक आत्मसात करें- यह कहानीकार की पहली आवश्यकता है। किंतु इस सामाजिक यथार्थ का कलात्मक रूपायन भी उतना ही महत्वपूर्ण है। यथार्थ, शिल्प और भाषा का स्थान कथ्य के बाद आता है। आज की कहानी में हिंदी गद्य की कथ्य क्षमता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। यथार्थ के विभिन्न रूपों का दबाव रचना के शिल्प तथा भाषा को अपने अनुरूप ढालने की आवश्यकता का अनुभव कराता है। इसी कारण शिल्प और भाषा के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोगों का रास्ता प्रशस्त होता है। डॉ. पुष्पाल सिंह के अनुसार- "वस्तुतः शिल्प कथ्य की अन्तः प्रवृत्ति का सहज प्रतिफलन है। भाषा को रोमानी संस्कारों से मुक्त कर उसे इस रूप में विकसित किया गया है कि वह जीवन के कटु यथार्थ से साक्षात्कार करने में समर्थ हो सके। मानव मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं

को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा ने अपनी सम्प्रेषणीयता का विकास कर ऐसा रूप ग्रहण किया कि वह हृदय की हर धड़कन को मूर्त कर सके।” आगे वे लिखते हैं- “अपने इसी प्रयास में भाषा ने पारंपरिक अभिव्यक्ति को छोड़कर अपने को नये अस्त्रों से लैस किया और पूर्ण उन्मुक्त भाव से जीवन के हर क्षेत्र में बिम्ब, प्रतीक और शब्द ग्रहण किये। इस प्रकार कथ्य और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टिओं से आज की कहानी अत्यंत समृद्ध और गौरवपूर्ण है।” (समकालीन हिंदी कहानी, पृष्ठ १३३) जिस प्रकार कथ्य और शिल्प परस्पर अन्तर्प्रथित हैं, इसी प्रकार शिल्प और भाषायी कहानी-शिल्प के ही अंग हैं तथा इन्हें परस्पर भिन्न करके नहीं देखा जा सकता। पहले की कहानी घटना-प्रधान होती थी, आज की कहानी में घटनाओं के बिना भी कथ्य सुरक्षित रहता है। आज कथ्य का महत्व घटनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। डॉ. अशोक भाटिया का मानना है- “कथाकार घटनाओं के स्थान पर स्थितियों से भी कहानी को आगे बढ़ा सकता है। यह कहानी की शिल्पगत नवीनता है। कथानक के स्थान पर कथ्य का महत्व अधिक हो गया है। वर्तमान दौर की कहानी में बौद्धिकता बढ़ी है। अतः चिंतन के स्तर पर कहानी पुष्ट हुई है।” (समकालीन हिंदी कहानी का इतिहास, पृ. २४२) इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्य अवधि में कहानी में विभिन्न स्तरों पर रूपबंध में परिवर्तन मिलते हैं। भाषा सर्जनात्मक प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। डॉ. पुष्पाल सिंह के शब्दों में- “आठवें दशक में भाषा की वैष्णवी (शाकाहारी) दृष्टि का पूर्णतः नकार है, जो केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाने पर बल देती है। उसमें ऐसा आभासी युक्त भाव है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से शब्द ग्रहण करती हुई अपना विविध धर्मो स्वभाव ग्रहण करती है।” (हिंदी साहित्य आठवाँ दशक, पृष्ठ-७२)

पिछले ३०-३५ वर्षों की भाषा जन-जीवन के अधिक निकट है। इसमें कथ्य चाहे जो भी उठाये गये हों, भाषा अंततः जन साधारण के जीवन की जड़ों तक पहुँचती है। आधुनिक कथा-भाषा ने अपने विविध प्रसंगों के माध्यम से

मानव-मन की थाह पाने के प्रयास किए हैं। नये सामाजिक यथार्थ को वैसी ही भाषा में कहने के लिए इन्होंने नयी राहों का अन्वेषण किया है। भाषा में सूक्ष्मता लाने के लिए विविध प्रकार से लेखकों ने अपनी बात कही है। भाषा में सरलता, सहजता के बावजूद एक सौन्दर्य है, लालित्य है। कहानी में बिम्ब और उपमान का प्रयोग उसमें जीवन का संगीत और लय उभरता है। आज आर्थिक संस्कृति का युग है अतः भाषा भी उससे प्रभावित हुई है। प्रतीक भाषा का सूक्ष्म प्रसाधन है। कहानीकारों ने आज के यथार्थ को पूर्ण तथा प्रभावपूर्ण ढंग से रूपायित करने के लिए व्यंग्यकामी आश्रय लिया है। कुछ ने विभिन्न भाषाओं के शब्दों अंग्रेजी, उर्दू का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट कहा जा सकता है कि समकालीन कहानी की भाषा ने अपने पारदर्शी तथा तलस्पर्शी होने का परिचय दिया है। भाषा अपने अभिजात्य को छोड़कर जनोन्मुख हुई है। देशज तथा आंचलिक शब्दावली का प्रयोग खुलकर हुआ है। रचना और पाठकीय ग्रहण शक्ति के अलगाव में भाषा का योग कम नहीं होता। कथाकार अमरकांत की दृष्टि में संप्रेषणीय होना रचना की सार्थकता का बहुत बड़ा वांछनीय लक्षण है। विवेच्य समयावधि में प्रकाशित मैत्रेयी पुष्पा, शैवाल, संजीव, काशीनाथ सिंह, शिवमूर्ति की कहानियों में आज भी ग्राम्य जीवन और अंचलों की भाषा-शैली का तदभव देशज शब्द रूप दिखायी देता है। तो दूसरी ओर अखिलेश, सृजय, संजयरवाती, उदय प्रकाश आदि अपनी कहानियों में परिवेश के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं। आज के युवा कथाकार फैटेसी शैली, जादुई यथार्थवाद, बिम्बात्मक शैली, प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग कर रहे हैं। आज की कहानी साहित्य जगत के केन्द्र में है जिसने अपने वामन रूप से अखिल ब्रह्माण्ड को माप लिया है। एक जगह प्रियम अंकित लिखते हैं- “कहानी का उद्देश्य जीवन को खंडित करना नहीं बल्कि खंड में समग्रता का लघु में विराट का अहसास कराना है।” जब कहानी इस उद्देश्य में सफल होती है तभी सार्थक रूप ले पाती है।

संपर्क: गेट बाजार (एन.जे.पी.), पो. भक्तिनगर, सिलीगुड़ी- ७३४००७, (प. बंगाल), दूरभाष: ९४३४४४३०

पुश्तैनी पेशे की समाप्ति का दर्द- संदर्भ समकालीन कथाबोध

डॉ. रूद्राक्षा पांडेय

“साहित्य की सामाजिक दृष्टि समाज से साहित्य के विभिन्न प्रकार के संबंधों की खोज करती है। लेकिन साहित्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह परिवर्तनशील और विकासशील होता है। परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया साहित्य की परंपरा के भीतर चलती है और वह समाज की विकास-प्रक्रिया से भी प्रभावित होती है। इस प्रक्रिया में साहित्यिक कृतियों की रचना और बोध का सारा क्रिया-व्यापार घटित होता है।”

हिंदी साहित्य में कथाबोध ने युग और समाज के परिवर्तन के साथ कई नवीन आयाम प्राप्त किए हैं। विशेष रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की संरचना में आए परिवर्तनों ने कथावस्तु को अनेक नए संदर्भों से संयुक्त किया। इसी प्रवाह में समकालीन कथाबोध को दृष्टिगत करने पर सामाजिक ढांचे के परिवर्तन से जीवन-शैली में आए बदलाव के पक्ष ध्यानकर्षित करते हैं। विशेष रूप से बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में कथाबोध में संदर्भित पुश्तैनी पेशे की समाप्ति के दर्द को कहानीकारों ने अत्यंत संवेदना से उकेरा है। समकालीन कहानी में पुश्तैनी पेशे की समाप्ति और उसकी पीड़ा का बोध अनायास ही नहीं है। कहानियों में इस दौरान जीवन को झकझोर देने वाली पुश्तैनी पेशे की समाप्ति की इस परिस्थिति के पीछे कई कारण थे, लेकिन विशेष तौर पर मंदी के दौर की महंगाई, मशीनीकरण का आरंभ और जात-पात की राजनीति आदि को इस परिस्थिति के प्रति उत्तरदायी देखा जा सकता है। इनमें कहानीकारों ने एक ओर जहाँ बदलते हुए समय के साथ उपभोक्तावादी समाज, मशीनी युग में मंद पड़ते हुनर और अविश्वसनीयता के माहौल में पनपे जीवन-संघर्ष तथा व्यक्ति-मन की पीड़ा को उठाया है, वहीं दूसरी ओर भूख से मुक्ति पाने की छटपटाहट का यथार्थ चित्रण किया है। यह महंगाई से भी भीषण समस्या थी जो निम्नवर्गीय जीवन के समूचे अस्तित्व को प्रश्नांकित कर रही थी।

अस्सी का दशक भारतीय इतिहास में वैज्ञानिक उन्नति और मशीनीकरण का दशक है। पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण पर विशेष बल होने के कारण बड़ी तेजी से यांत्रीकरण का प्रसार हुआ और पुश्तैनी काम-धंधे समाप्त होने लगे। स्वाभाविक रूप से इस मशीनीकरण ने उसी स्थान पर अपना प्रसार किया था जहाँ लघु, गृह-उद्योगों और घरेलू पेशों से ही सामाजिक जीवन का अस्तित्व था। पुश्तैनी पेशे का ऐसा दम तोड़ता दृश्य दिखता है मैत्रेयी पुष्पा की कहानी ‘छुटकारा’ में। संडास धोने वाली छन्नो से गली वालों का बैर तब शुरू होता है जब वह उसी गली में घर खरीद कर रहने लगती है। कथावस्तु में एक लम्बे संघर्ष के दौरान जब छन्नो का गली

वाले कुछ नहीं बिगाड़ पाते तब उसका मूल अस्तित्व अर्थात् उसका पेशा 'संडास धोना' को ही खत्म कर देने का निर्णय होता है। और संडास के स्थान पर 'टैंक और कमोड वाले बाथरूम' बना लिए जाते हैं। "वह जल्दी-जल्दी अपना सामान लेकर बदहवास-सी घर से निकली। सबसे पहले आज मुंशी जी का घर। घुसते ही पौरी में ताजा गड़ढ़ा कुएंनुमा। मिट्टी की गीली ढेर पर बैठा एक मजदूर बीड़ी पी रहा था। भैया यह पौरी क्यों खोद डाली? टैंक बन रहा है। टैंक? अंग्रेजी संडास बनेगा। तुम जैसे की छुट्टी। छन्नो गूंगी-बहरी हो गई। मुंशी जी का घर अनपहचान सा भीतर चीख सी उठने लगी। अच्छा तो इस तरह मुझे खारिज मत करो, मेरी संडास मुझसे मत छीनों, मेरी संडास मेरी जिंदगी है। मुझसे इन्हें अलग मत करो। यह गड़ढ़ा यहाँ से उठ कर मेरे पेट में समा जाएगा।" जाहिर तौर पर छन्नो के पेशे पर पड़ती हुई मार वास्तव में टैंक, कमोड आदि उपकरण-यंत्रों के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण है। यांत्रीकरण अपने साथ सुविधापरस्ती ले कर आया था। एक और मुख्य बात यह थी कि मशीनों की कोई जाति नहीं होती, अतः मशीनीकरण सामाजिक जाति-पाति की दुविधा से भी छुटकारा दिलाने में सक्षम था। कार्यक्षेत्र और पेशे की दिशा में इंसानी हाथों का स्थान मशीनों द्वारा ले लिए जाने की इस तीव्र बदलाव की परिस्थिति का मृदुला गर्ग की 'मेरे देश की मिट्टी, अहा' ४ में भी जिक्र है। लेखिका ने ग्रामीण-विकास के परिदृश्य में फरीदपुर गाँव के चमार टोले में जानवरों की हड्डी की खाद बनाने का कारखाना निर्मित होने और बदलाव के संकेत दर्शाए हैं। "गाँव में कुलबुल भतेरी रही पर शहरी बाबू कागज-पत्तर से चौकस निकले। चौथा होते ही लल्ली को ले अपने शहर निकल गए, जिन्होंने साल पूरा होने से पहले, वहाँ जानवरों की हड्डियों की खाद बनाने का कारखाना खुलवा दिया। चमार टोले की मौज हो गई। जानवरों की खाल उतारो अलग और कारखाने में काम पाओ अलग। कारखाना बदबू के भभकारे छोड़े- तो-छोड़े चमार एतराज करने से रहे। दूरदराज रहने वाले ठाकुर- बनिए गए जरूर, एस.एल.ए के पास, पर उन्होंने खटमल-सा

अलग झटक दिया। उन दिनों गाँव की प्रगति का नारा जोरों पर था।" उल्लेखित परिदृश्य उस समय यांत्रीकरण के कारण होने वाले सामाजिक बदलाव को स्पष्ट करता है।

एक तरफ मंदी के दौर की भीषण महंगाई की मार और दूसरी तरफ यांत्रीकरण की वजह से तीव्रता से समाप्त होते हुए पुश्तैनी काम-धंधों ने निम्नवर्गीय जीवन को दुहरे संत्रास का शिकार बनाया था। अरुण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस' का रामदेव अमृतसर जाने वाली ट्रेन के बाथरूम के पास लेटे हुए अपने पुश्तैनी पेशे के महंगाई की मार में खत्म हो जाने की ऐसी ही समस्या पर गौर करता है- '४ पैसों की समस्या साँप की तरह फन काढ़े फुफकार रही थी। पुश्तैनी पेशा- अनाज भूनने में रखा क्या है? कनसार में अनाज भुनवाने लोग आते नहीं। मकई की रोटी अशराफ लोग खाते नहीं। दाल इतनी महंगी है कि लोग चने की दाल बनवाएंगे कि कनसार में चना भुनवा कर सत्तू बनवाएंगे? उस पर इतनी मेहनत- गाँव के बगीचों, बंसवाड़ियों में सूखे पत्ते बटोर कर जमा करो, उन्हें जला कर अनाज भून कर पेट की आग ठंडी करो। किसी तरह एक शाम का भोजन जुट पाता। आखिर माई उपले थापकर, गुल बना कर बेचने लगी थी। तब किसी तरह भोजन चलने लगा।" यह परिदृश्य स्पष्ट करता है कि पुश्तैनी पेशों के मिट रहे अस्तित्व के पीछे केवल यांत्रीकरण के कारण उपलब्ध हुई सुविधा ही कार्यरत नहीं है बल्कि महंगाई भी एक प्रमुख कारण है। इसी कारण लोग चने की दाल की जगह सत्तू बनवाने में ज्यादा रुचि रख रहे हैं।

इस कष्ट को जाति-पाति की राजनीति ने और भी जटिल बना दिया था। पुश्तैनी काम-धंधों की समाप्ति के पीछे महंगाई और यांत्रीकरण के साथ-साथ जाति-पाति की राजनीति भी बृहद रूप में कार्यरत थी। मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'रिजक' इसका बयान करती है। इस कथानक में लल्लन ने ताउम्र अपने बच्चा जन्माने वाले 'दाई बहू' के पेशे के साथ पूरी ईमानदारी निभायी थी। लेकिन बाद में उसके पति के बिरादरी का साथ निभाने की जिद ने उसके पेशे को नेस्तनाबूद कर दिया था। अपने पेशे की विगत

रौनक को याद करके लल्लन सोचती है- “वे दिन कहाँ हिरा गए जब अमगाँव से अमरोख तक के माते-मोदी उसके लिए गाढ़ी-गढ़ला जोत कर लाते थे। मड़ोरा कोयले के लोधी कुर्मी उसे अपनी सायकिल के कैरियर पर बिठा कर ले जाते थे। उसी मान-सम्मान के चलते दिन रोज उसका कलेजा पुख्ता होता जाता था। हाथ निपुणता कुशलता से चलते थे। फँसे, अधफँसे शिशु को अनुभवी उंगुलियों से बाहर खींच कर जच्चा को निष्कटंक निरवार लेती थी। लल्लन की बाहें आज भी कसमसाती हैं, उंगलियां फड़कती हैं। पर काहे को... ये सब तो पिछली हिलोरे हैं। याद करके दुख ही पाना है।” इस दृश्य में अपने पुश्तैनी पेशे के खत्म हो जाने का दर्द लल्लन के पीड़ा में स्पष्ट दिख रहा है। लेकिन उसका दर्द तब नासूर बनने लगता है जब अपने पेशे के समाप्त होने के मूल कारण पर वह गौर करती है- “मैंने तो तुम्हारी नसीहत, तुम्हारी कहनावत सिर-आँखों रखी थी अम्मा। याद हैं तुम्हारे बोल- बेटी अपने रिजक में भेदभाव, बैर- मिताई ऊँच-नीच का ठौर नहीं। अपने पैसा से बेईमानी मत करना। रोजी का ठौर भगवान का ठौर है। पर अम्मा तुम्हारा ही बेटा है, उसी की जिद...” जाहिर है कि यहाँ जातीय-विद्वेष की पुश्तैनी काम-धंधे का मूल शत्रु है। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में दलित उन्नयन की चेतना ने इस व्यक्तिगत शत्रुता को जातिबोध के संदर्भ में और कड़वाहट से भर दिया था। पुश्तैनी पेशे के मिटने या समाप्त होने की स्थिति का संबंध केवल मशीनीकरण के आगमन से ही नहीं है, बल्कि इस संदर्भ में कहानीकारों ने विकास की प्रक्रिया में पुश्तैनी पेशे के रूप में अपने आत्म-सम्मान की लड़ाई लड़ते व्यक्तियों के संघर्ष को भी प्रस्तुत किया है। वास्तव में बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में विकास की प्रक्रिया और दलित उन्नयन जैसी स्थितियों ने सामाजिक संरचना में तेजी से बदलाव लाना आरंभ कर दिया था। इसमें एक तरफ जहाँ प्रगति के नवीन संसाधन समाज में उपस्थित हो रहे थे, वहीं मूल संरचना के समीकरण भी तेजी से परिवर्तित हो रहे थे। कल कारखानों की स्थापना, मशीनीकरण तथा यांत्रिकरण

के आगमन से पुश्तैनी पेशों के अस्तित्व का धीरे-धीरे समाप्त होना एक ऐसी ही प्रक्रिया थी।

लेकिन कहानीकारों ने इस परिदृश्य के चित्रण के माध्यम से उस पूरे एक सामाजिक हिस्से के अस्तित्व-संघर्ष को प्रश्नांकित किया है जो अपने पुश्तैनी पेशे से ही पहचाना जाता था। भारतीय जाति-व्यवस्था की संरचना में सामाजिक पृष्ठभूमि में पेशे सही जाति का निर्धारण होने के कारण पुश्तैनी पेशों के मिटने की स्थिति समाज के एक हिस्से के अस्तित्व और आत्म-सम्मान के संघर्ष के रूप में उभरी थी। कहानीकारों ने पुश्तैनी पेशे के समाप्त होने के दर्द के मद्देनजर इसी आत्मसम्मान के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। शैवाल की कहानी ‘परास्वित’ में एक बुनकर के आत्मसम्मान के संघर्ष को दर्शाया गया है। यह कथ्य अत्यंत व्यापक फलक पर पुश्तैनी पेशे के समाप्त होने की स्थिति में कई सामाजिक पक्षों को उजागर करता है। कथावस्तु में बुनकर टेंगरा के पिता भुखला भगत एक कुशल बुनकर थे। उनकी कला से प्रभावित होकर एक अंग्रेज लेफ्टिनेंट ने उन्हें एक एकड़ जमीन का टुकड़ा इनाम में दे दिया। यही से उनके जीवन में संघर्ष की स्थितियाँ निर्मित होने लगी। बुनकर के पास जमीन का होना गाँव के भूपतियों के लिए चुनौती का कारण बन जाता है। खेतों में काम करता हुआ भुखला इतना मगन हो जाता है कि जमींदार के मुंशी को सलाम करना भूल जाता है। फलस्वरूप उसे लठैतों से पिटाया जाता है। यहीं तक नहीं बल्कि उसकी फसल में आग लगा दी जाती है। परेशान होकर भुखला गाँव छोड़ देता है और दूसरे गाँव में बस जाता है। इन विषम परिस्थितियों में उसके पुत्र टेंगरा का विकास होता है। टेंगरा अपने बड़े होने के साथ-साथ सामाजिक संरचना में भी वास्तविक हैसियत से भी परिचित होता है। उसे यह समझते देर नहीं लगती है कि उसे उसके बुनकर होने की स्थिति समाज में कोई हैसियत नहीं रखती। लेकिन वह अपने पिता की तरह परिस्थिति से घबरा कर भागता नहीं है बल्कि उसका सामना करता है। उसकी पत्नी पर गाँव के ठाकुर धीरछन सिंह की कुदृष्टि रहती है, जिसे पहचान कर टेंगरा अपनी पत्नी का ठाकुर के यहां काम पर

जाना बंद करवा देता है। परिणाम में उसे अपने पिता की तरह अत्याचार सहने पड़ते हैं। उसकी भेड़ें चुरा ली जाती हैं और उसकी झोपड़ी में आग लगा दी जाती है। परंतु टेंगरा न टूटता है और ना ही अपने बुनकरी के पेशे से पीछे हटता है। बल्कि वह गाँव वालों से घोषणा करता हुआ कहता है कि-“हमको अब कोई डर नहीं है। उखड़ के यहाँ से कहीं नहीं जाएंगे। बाबा ने जो गलती की, उसका ‘परास्चित’ करेंगे, हम! बोल कर हवा-बतास की तरह टेंगरा घर के अंदर चला गया।” इस प्रकार अपने आत्म-सम्मान के संघर्ष में जो काम भुखला नहीं कर पाया था वह उसका बेटा टेंगरा पूरे साहस से कर दिखाता है। पुश्तैनी पेशे के मद्देनजर जातीय अस्तित्व के ऐसे संघर्ष को समकालीन कथाबोध ने अत्यंत संवेदना और यथार्थ से प्रस्तुत किया है।

रामनारायण शुक्ल की ‘फिर’ (फेरीवाले का पुश्तैनी पेशा), अमितेश्वर की ‘धंधा’ (कलईवाले का पुश्तैनी पेशा), हरी भटनागर की ‘सगीर और उसकी बस्ती के लोग’ (नालसाज का पुश्तैनी पेशा), नासिरा शर्मा की ‘आया बसंत सखी’ (कढ़ाईवाले का पुश्तैनी पेशा) आदि कहानियों में इसी त्रासद स्थिति को प्रस्तुत किया गया है।

ये कहानियाँ पुश्तैनी पेशे की समाप्ति के संदर्भ में विभिन्न स्तरों पर अस्तित्व संघर्ष का बयान बनकर आती हैं। पेशे का संबंध केवल जातीय अस्तित्व से ही नहीं

होता बल्कि एक पूरी जीवन-शैली से होता है। यही कारण है कि समकालीन कथाबोध में सामाजिक संक्रमण के इस अत्यंत संवेदनात्मक पक्ष को इन कहानियों में उजागर किया जहाँ एक तरफ व्यक्ति की निजी कला, उसके हुनर के प्रशंसाकित होने की पीड़ा थी तो दूसरी तरफ एक सम्पूर्ण जीवन-शैली के बदलाव, एक समूची जाति के पहचान के मिट जाने का संघर्ष था। कहानीकार की कलम ने इस जीवन संवेदना को बहुत बारीकी से प्रस्तुत किया है। कथाबोध के संदर्भ में मधुरेश की मान्यता है कि “समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए, उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना है।”

अतः कहानियों में प्रदर्शित पेशे की समाप्ति की पीड़ा और नयी जीवन-शैली में व्यवस्थित होने की जद्दोजहद समकालीन कथाकार की सार्थकता होने के साथ साथ उसका दायित्व भी है। यही कारण है कि इन कहानियों में कहानीकार केवल सामाजिक परिवर्तन की ओर ध्यानाकर्षित करता हुआ नहीं दिखता बल्कि अत्यंत संवेदना से उस पीड़ा की परतें खोलता है जो क्रमशः व्यक्ति से ले के जाति की पहचान के संघर्ष तक प्रवाहित होती है।

संपर्क: विद्यासागर कॉलेज फॉर वुमेन, कोलकाता-७००००६ मो. ८९०२२५२११२

नयी सदी बनाम नयी दुनिया के अन्वेषक

मृत्युंजय पाण्डेय

भूमंडलीकरण, विश्व व्यापार संगठन पर हस्ताक्षर और बाबरी मस्जिद का विध्वंस आदि घटनाओं ने कहानी को बहुत गहरे रूप से प्रभावित किया है। यह सही है कि 'नयी कहानी' के कहानीकारों ने कहानी में बहुत परिवर्तन किया और वह परिवर्तन अच्छे रूप में आया। उन्होंने कहानी के स्वाद को बदलकर रख दिया। इस समय की छाप समाज, साहित्य और राजनीति तीनों पर देखी जा सकती है। कविता, कहानी और उपन्यास में भूमंडलीकरण, बाजारवाद, पूँजीवाद और सांप्रदायिकता को बड़े पैमाने पर रेखांकित किया जा रहा है या यूँ कहें इन विधाओं में ये सारी चीजें अपनी घुसपैठ बनाती जा रही हैं। बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद भारत में सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगे बढ़े हैं। हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव बढ़ा है। विश्वास और भरोसे की दीवार कमजोर हुई है। बहुत आसानी से भूमंडलीकरण, बाजारवाद और सांप्रदायिकता ने हमारे जीवन और साहित्य को प्रभावित किया है। बाजार का आलम यह है कि आज घर ही बाजार हो गया है और सांप्रदायिकता के विषय में तो कुछ कहना ही बेकार है। कहानीकार रवीन्द्र कालिया के शब्दों के सहारे से कहूँ तो आज 'दुकानों-मकानों की छतों पर छोटी-छोटी पताकाओं के रूप में फहरा रही है सांप्रदायिकता, इशितहारों की शकल में दीवारों पर चस्पाँ दी गई है सांप्रदायिकता।' आज हिन्दी कहानी में कहीं बाजार का कोलाहल है तो कहीं बाबरी मस्जिद के विध्वंस की गूँज सुनी जा सकती है। ६ दिसम्बर, १९९२ की उस मन्दिर-मस्जिद की घटना ने भारतीय समाज और इतिहास को बदलकर रख दिया। बाबरी मस्जिद की टूटन सारे देश की टूटन बन गई है। आतंकवाद इस देश में शामिल हो गया। १९९२ की घटना ने मुसलमानों के साथ-साथ देश के दूर-दराज हिस्सों में बैठे, जीवन के लिए संघर्ष कर रहे, हिन्दुओं के जीवन को भी बदलकर रख दिया। उनके जीवन में यह टूटन आज भी दिखती है। प्रियदर्शन ने अपनी कहानी 'घर चले गंगाजी!' में इस टूटन को बहुत बारीकी से दिखाया है। हम यह भी देख रहे हैं कि कहीं विकास की नीतियाँ बनाई जा रही हैं तो कहीं किसान भूख, गरीबी और कर्ज से तंग आकर फाँसी लगा रहे हैं। कहने का तात्पर्य है कि समकालीन हिन्दी कहानी अपने भीतर समाज के हर यथार्थ को समेटे हुए है। समाज का कोई भी यथार्थ, कोई भी सच उससे छूटने नहीं पाया है। १९०० से २०१८ तक की अपनी विकास यात्रा में हिन्दी कहानी कई मोड़ों और कई पड़ावों से होकर गुजरी है। यदि यह कहा जाए कि अपनी इस यात्रा में समाज और मनुष्यता के साथ वह भी लहलुहान हुई है तो कुछ गलत नहीं होगा।

भूमंडलीकृत इस युग में अपनी पहचान को बचाए-बनाए रखना अत्यंत कठिन कार्य है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद की भीड़ में कच्ची और कमजोर रचनाएँ तुरंत दम तोड़ देंगी, बल्कि तनिक आगे बढ़कर कहें तो दम तोड़ दे रही हैं। इस बाजारवादी समय में लेखक की पहचान का संकट सबसे बड़ा संकट है। यात्रिकता के इस युग में यथार्थ से जिस किसी का भी दामन छूटेगा वह इस कोलाहल में खो जाएगा, उसकी रचनाएँ दम तोड़ देंगी। समय के सारे सच को समझने के बाद, समय के यथार्थ को प्रमुखता से उजाकर करना ही लेखक का प्रथम उद्देश्य है। उसे अपने प्रति, समाज के प्रति, मनुष्यता के प्रति प्रतिबद्ध होना पड़ेगा। उसे किस रास्ते जाना है उसे पता होना चाहिए।

१९९० के बाद कहानी की दुनिया में कुछ भाषा के बाजीगर भी आये हैं। पर भूल जाते हैं कि यदि आपके पास अनुभव की कमी है तो सिर्फ भाषा की बाजीगरी से काम नहीं चलेगा। विडंबनाओं से भरे इस समय में लेखक को यह पता होना चाहिए कि उसे क्या कहना है। उसे कहाँ से खड़े होकर चीजों को देखना है। यदि चीजों को देखने-समझने की उसकी अपनी दृष्टि या जमीन नहीं है तो फिर आप भाषा की कितनी ही गुलाटियाँ क्यों न मारें आपका कुछ नहीं हो सकता। पाठक आपको उठाकर दरकिनार कर देंगे। यानी भाषा के साथ-साथ आपकी दृष्टि और दिशा भी स्पष्ट होनी चाहिए क्योंकि भटकाने वाली चीजें यहाँ बहुत हैं।

इधर लम्बी कहानियाँ लिखने का प्रचलन बहुत तेजी से बढ़ा है। हर कहानीकार लम्बी कहानियाँ लिखने को इच्छुक दिख रहे हैं और लिख भी रहे हैं। प्रश्न यह उठता है कि आखिर क्या वजह है कि हर कोई लम्बी कहानियाँ लिख रहा है बगैर यह सोचे कि उसकी कहानियाँ कितने लोग पढ़ रहे हैं। जाहिर-सी बात है मनोरंजन के उद्देश्य से या समय काटने के उद्देश्य से कहानियाँ पढ़ने वाले लोग इन लम्बी कहानियों के पाठक नहीं हैं। आज की लम्बी कहानियाँ सामान्य वर्ग की नहीं बल्कि बौद्धिक वर्ग की कहानियाँ हैं। 'काम धंधा से छुट्टी पाकर आराम से' पढ़ने वालों के लिए अब कहानी नहीं रही। इन बौद्धिक वर्ग की कहानियों को आप 'वैचारिक

कहानियाँ' भी कह सकते हैं। विचार से संबन्धित ये कहानियाँ समकालीन राजनीति एवं सरकारी नीतियों का विश्लेषण प्रस्तुत कर रही हैं। यह बता रही हैं कि कैसे यह तंत्र हमारे सपनों से खेल रहा है। राजू शर्मा की 'नोटिस' और योगेंद्र आहूजा की 'खाना' कहानी ऐसी की कहानियाँ हैं। इन कहानियों को पढ़कर पाठक स्तब्ध और निशब्द हो जाता है। अति सामान्य घटनाओं को लेकर लिखी गई यह कहानियाँ हमें जड़ीभूत कर देती हैं। हमारे पास कहने के लिए कुछ नहीं बचता। 'नोटिस' या 'खाना' कहानी मामूली व्यक्ति की कहानी है पर इस मामूली व्यक्ति की मामूली घटना को कहानी में लाते ही कहानी का विस्तार हो जा रहा है। और इस विस्तार की वजह लेखक नहीं बल्कि बदली हुई परिस्थितियाँ हैं। तंत्र ने उस मामूली व्यक्ति के सामने सैकड़ों समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। उस मामूली आदमी का जीवन उतना सहज-सरल नहीं है जितना हम आप सोचते हैं।

हिन्दी में लम्बी कहानी लिखने की शुरुआत उदय प्रकाश से होती है। भूमंडलीकरण, बाजारवाद और बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद उदय प्रकाश लम्बी कहानियों की ओर रुख करते हैं, सिर्फ रुख ही नहीं करते बल्कि उसे लोकप्रिय भी बनाते हैं। यह संभव है कि उदय प्रकाश से पहले लम्बी कहानियाँ लिखी गई हों पर उसे चर्चित और लोकप्रिय उदय प्रकाश ही बनाते हैं। उन्होंने कहानी की पूर्व प्रचलित कथा शैली को तोड़कर रख दिया। कहानी की दुनिया में वे एक नयी शैली के साथ प्रवेश करते हैं।

१९९० के बाद हिन्दी साहित्य में दलित और स्त्री स्वर भी सुनाई देता है। इस समय भारत में काफी कुछ परिवर्तित हो रहा था। हमारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संरचना तेजी से बदल रही थी। भारतीय राजनीति में कांसीराम और मायावती जैसे दलित नेताओं का आगमन हो रहा था। सिर्फ आगमन ही नहीं हो रहा था बल्कि बहुत तेजी से उनका प्रभाव भी बढ़ रहा था। अंबेडकर जो काम राजनीति में करना चाहते थे, वही काम समाज में दलितों के लिए कांसीराम ने किया। वे उन्हें सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर और मजबूत बना रहे थे। हिन्दी साहित्य

में दलित स्वर सुनाई देने में राजनीति का विशेष योगदान है। हाशिये की यह लड़ाई (दलित और स्त्री) आज साहित्य की मुख्य धारा में शामिल हो चुकी है।

स्त्री और दलित के साथ-साथ आज हिन्दी कहानी में आदिवासी और थर्ड जेंडर की पीड़ा का स्वर भी सुनाई दे रहा है। मुख्य धारा के लेखकों ने इनकी पीड़ा को जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया है। आज तक इन्होंने अपनी लड़ाई खुद लड़ी थी, आज पहली बार ऐसा हुआ है कि उनकी लड़ाई समाज के बुद्धिजीवी लड़ रहे हैं। उनके साथ कदम बढ़ाकर चल रहे हैं। दलित और स्त्री की तरह आज आदिवासी भी अपनी पीड़ा को साहित्य के माध्यम से दुनिया के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। आनंद हर्षुल की 'मौत पर छलांग' और योगेंद्र आहूजा की 'खाना' आदिवासी जन-जीवन की कहानी है। सूरज बड़त्या ने 'कबीरन' कहानी हिजरो के जीवन पर लिखी है। इस कहानी में हिजरो के प्रति समाज की असंवेदनहीनता और उनकी पीड़ा को शब्द दिया गया है।

समाज के यथार्थ के साथ-साथ व्यक्ति का यथार्थ भी बदला है। चीजों को, समस्याओं को देखने का नजरिया बदला है। बाजारवाद की इस दुनिया में मनुष्य बेबस और बेरोजगार खड़ा है। वह बाजार का शिकार हो रहा है। उस पर चीजें थोपी जा रही हैं। बहुत चालाकी से हमारे पसंद-नापसंद पर कब्जा किया जा रहा है। बाजार हमारी आवश्यकताओं को पूरी करने की बजाए हमारी आवश्यकताओं को बढ़ा रहा है। आज मानवीय मूल्यों पर बाजार का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अखिलेश, उदय प्रकाश और कैलाश बनवासी जैसे कथाकारों ने इस क्रूर यथार्थ को बखूबी व्यक्त किया है। कैलाश बनवासी की कहानी 'लोहा और आग...और वे...' में बखूबी देख सकते हैं कि कैसे बाजार मनुष्य को अप्रासंगिक बनाता जा रहा है। बाजारवाद की इस दुनिया में पारंपरिक चीजें मजाक की वस्तु बनकर रह गई हैं। इस बाजारवाद का अत्यंत क्रूर रूप हमें संजय कुन्दन की कहानी 'बॉस की पार्टी' में भी देखने को मिलता है। कहानी का नायक मजाक, सहानुभूति और दया का पात्र

बनकर रह जाता है। इस मध्यवर्गीय नायक की इच्छाएँ बहुत बड़ी नहीं, बल्कि छोटी-छोटी हैं। वह अपने परिवार को बुनियादी सुविधाएँ देना चाहता है। पर वह भी मुहैया नहीं करा पाता। वह बाजार के चालाक भेड़ियों के बीच घिरा हुआ है। उसे चापलूसी या चमचागीरी नहीं आती। नतीजतन उसका प्रमोशन नहीं होता। वह चाहकर भी बॉस की चमचागीरी नहीं कर पाता। समय की विडम्बना उसे जोकर बनने पर भी बाध्य करती है।

नव उदारवादी अर्थव्यवस्था की विडम्बना को रेखांकित करती हिन्दी में एक महत्त्वपूर्ण कहानी है, 'टावर ऑफ सायलेंस'। संभवतः यह फारसी समाज पर लिखी गई हिन्दी की इकलौती कहानी है। यह कहानी फारसी समाज की अंतर्कथा को रेखांकित करती है। भारत में नव उदारवादी अर्थव्यवस्था के आगमन के बाद छोटी-छोटी मिलें बंद हो गईं। इन मिलों के बंद हो जाने से इन मिलों पर आश्रित लोगों का जन-जीवन बहुत प्रभावित हुआ। इस नयी आर्थिक नीति और व्यवस्था ने आम जीवन को कठिन के साथ-साथ बदतर भी बना दिया है।

आज ज्ञान से अधिक सूचनाओं का महत्त्व है। जिसके पास जितनी अधिक सूचनाएँ हैं वह उतना ही बड़ा ज्ञानी माना जा रहा है। पंकज मित्र की 'क्विजमास्टर' कहानी एक ऐसे युवक की कहानी है, जो जगह-जगह घूम कर क्विज कराता है। दरअसल यह वही समय है जब टेलीविजन पर कौन बनेगा करोड़पति आ रहा था। अनजाने में ही सही वह युवक उसी बाजार का हिस्सा बन जाता है, जिसका वह ट्यूशन न बढ़ाकर विरोध करता है।

समय ने गाँव के चेहरे को भी बदला है। उसने लोगों की सोच में सेंध लगाई है। आज गाँवों में न तो प्रेमचंदयुगीन आदर्श रह गए हैं और न ही मूल्य। मानवीयता और मनुष्यता की भी विदाई गाँवों से हो चुकी है। देवेंद्र की कहानी 'क्षमा करो हे वत्स!' में इसी अमानवीयता और क्रूरता को दिखाया गया है। लेखक के जीवन की सत्य घटना पर आधारित यह कहानी अंदर से बेचैन कर देती है। कोई इतना अमानवीय और निर्दयी भी हो सकता है, सहसा मन इस बात को मानने

के लिए तैयार नहीं होता। पर यह उतना ही सत्य है जितना हम और आप। यह धरती और यह आकाश। अंशुल को गाँव में, उसी के पड़ोसी बड़ी बेरहमी से टुकड़ों-टुकड़ों में काटकर मार देते हैं। उसकी लाश सूरजमुखी के खेत में क्षत-विक्षत अवस्था में मिलती है। इस अमानवीय समय के संदर्भ में, इस कहानी से नामवर सिंह की सिर्फ दो पंक्तियाँ देखिए- “क्षमा करो हे वत्स आ गया युग ही ऐसा / आँख खोलती कलियाँ भी कहती हैं पैसा।” कहानी के अंत में अंशुल के शब्दों में एक कविता लिखी गई है, जो कविता कम यथार्थ अधिक है।

गाँव के यथार्थ से रू-ब-रू कराती एक और कहानी है, ‘पालवा’। भालचन्द्र जोशी की यह कहानी किसान जीवन की दुख भरी दास्तान है। यह कहानी कृषक परिवार की स्त्री के जीवन की कथा भी कहती है। साथ ही इस कहानी में बालक (बच्चा) के मनोविज्ञान का सुन्दर संजोजन किया गया है। यहाँ भालचन्द्र जोशी मनोविज्ञान के मामले में जैनेन्द्र से आगे बढ़ गए हैं। इसके अलावा इस कहानी में सामाजिक जड़ता और उस जड़ता के टूटन की आवाज भी सुनी जा सकती है।

भाषा पर बात करें तो, भाषा के मामले में नयी सदी के ये कथाकार काफी सावधान हैं। कुछ कहानीकारों के यहाँ काव्यात्मक भाषा भी देखने को मिलती है। उनकी यह भाषा मन को मोह लेती है। कथाकार आनंद हर्षुल के यहाँ काव्यात्मक

और संवेदनशील भाषा देखने को मिलती है। एक नमूना देखिए- “आकाश कमरे के भीतर आये-बादलों और चिड़ियों सहित / बादल आये तो नमी ले आये और चिरिया आये / तो पंखों में रखकर हवा ले आये / हवा आये तो साथ-साथ पेड़ और पेड़ों का हरापन भी ले आये / पेड़ आये तो अपनी जड़ों में मिट्टी ले आये / और कमरा उस सोंधी महक से भर जाये / जो सूखी धरती पर पहली बारिश में धरती देती है... प्रियदर्शन के यहाँ भी ऐसी काव्यात्मक भाषा दिखती है- “बाहर धारासार बारिश हो रही है / आसमान में जैसे काले हाथी दौड़ रहे हैं / एक छोर से दूसरे छोर तक कड़कती बिजलियों के पीछे / धरती से आकाश तक मोटी-मोटी बूँदों की एक तूफानी झालर टंगी हुई है / वह झालर कभी-कभी हमारे चेहरों तक चली आती है / हमारी उँगलियाँ कभी-कभी उस झालर को छु लेती हैं / हमारी निगाह आसमान पर है।” प्रियदर्शन के यहाँ ऐसी भाषा इफरात में मिलती है। इस पीढ़ी के कथाकारों की भाषा सहज-सम्मत है। भालचन्द्र जोशी की भाषा का नमूना देखिए- “जैसे यह उदासी की सड़क है, उसी तरह हँसी की सड़क भी होगी। वहीं कहीं मेरी हँसी भी बिछी होगी।” कहानी के बीच काव्य का सुख इस सदी के लेखकों की खास पहचान बन गई है।

अंत कथाकार राजेन्द्र यादव के शब्दों के सहारे से करना चाहूँगा, नयी सदी के ये कथाकार ‘नयी दुनिया के अन्वेषक’ भी हैं।

संपर्क: २५/१/१, फकीर बागान लेन, पिलखाना,
हावड़ा- ७१११०१ (पश्चिम बंगाल), मोबाइल : ९६८१५१०५९६

शिवमूर्ति की कहानियाँ : एक पाठकीय विश्लेषण

सुलेखा कुमारी

शिवमूर्ति को आज के दौर में पढ़ना जब समकालीनता कई परतों में उधेड़कर पढ़ी जा रही है, जिसमें उत्तर-आधुनिकता, भूमंडलीकरण, दलित विमर्श, नारी विमर्श जैसी परतें प्रमुख हैं, तब यह निर्णय करना कि शिवमूर्ति की कहानियाँ किस परत पर सही-सही बैठती हैं, मुश्किल है। शायद इसलिए ऐसा कहा जाता है कि शिवमूर्ति बीत चुके समय को अपनी कहानियों में बाँध रहे हैं। स्वयं अपनी कहानियों के लिए शिवमूर्ति की स्वीकारोक्ति को यहाँ देखते हुए हम आगे बढ़ेंगे- “मेरी कहानियाँ मूलतः भावात्मक या भावप्रवण हैं। आज जो कहानियाँ चल रही हैं, उनसे मेरी कहानियाँ पिछड़ी हुई हैं, ... इस मामले में मैं पिछड़े वर्ग का हूँ! ... मैं गोबर-खाद वाला हूँ जबकि ये यूरिया का जमाना है ... मेरी कहानियाँ प्रेमचंद-शरतचंद्र के ढाँचे पर आधारित हैं।” समकालीन मुद्दों से अधिक ध्यान शिवमूर्ति ने चरित्रों को उतारने में दिया है। ऐसा नहीं है कि उनकी कहानियाँ किसानों, दलित और स्त्री के समकालीन मुद्दों से नहीं जुड़ती। मगर ऐसा है कि उनकी कहानी मुद्दों से अधिक चरित्र पर केन्द्रित होती है। उनका पूरा ध्यान अपने चरित्र को खड़ा करने, उससे उलझने में रहता है। ऐसा लगता है कि उनकी प्रत्येक कहानी किसी एक चरित्र को लेकर ही आगे बढ़ रही हो।

यहाँ शिवमूर्ति को फिर से एक बार देखना आवश्यक है- “चरित्र ही मेरी कहानी का आद्यांत है, मेरी कहानियाँ मुख्यतः चरित्र-प्रधान हैं... जैसे इस दुनिया से ऑक्सीजन खींच लो, जैसे किसी आदमी का दिल निकाल लो, जैसे तरकारी से ‘तर’ निकाल लो... तो क्या रह जाएगा? वही रह जाएगा मेरी कहानियों में ... मेरी कहानियों में जो कुछ भी किया गया है सब कुछ उन चरित्रों को ‘बताने’ के लिए...।” यहाँ यह उद्धरण देना आवश्यक है क्योंकि शिवमूर्ति को पढ़ते वक्त यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उनकी कहानियाँ किसी पंथ विशेष की ओर नहीं बढ़ चुकी और न ही वे नारी-विमर्श का फतवा दे रही हों और न ही दलित-विमर्श के लिए आदर्शवादी प्रस्थान बिंदु को खोजा जा रहा हो जैसा कि आलोचक ने लिखा है- “सीधे-सीधे कहूँ तो शिवमूर्ति का लेखन वामपंथी तालियों की प्रायोजित गड़गड़ाहटों के बीच उसी रास्ते पर चल निकला है जिस पर उदाहरण के लिए सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसा प्रतिभाशाली कवि अपनी सारी क्षमता को धूल में मिलाने को तत्पर हो गया।”

शिवमूर्ति ग्रामीण सरोकार के लेखक हैं। इसलिए उन्हें प्रेमचंद और रेणु की परंपरा का विस्तार मानते हुए उनके भ्रमसपन को उनकी अद्भुत सृजनात्मक शक्ति माना जाता है। चूँकि शिवमूर्ति की जड़ें वहीं हैं और उनके अंदर का लेखक बार-बार उसी ओर वापस लौटता है; अतः शिवमूर्ति की कहानियों में दोहराव के प्रश्न पर भी बात की जा चुकी है। कहानी की घटनाओं के दुहराव ने कहानी को कितना कमजोर किया इसकी पड़ताल करना निश्चित ही आलोचक का दायित्व है; मगर शिवमूर्ति ने दरअसल कहानी रची ही नहीं। वह पात्रों को रच-बुन रहे हैं। कहानी की प्रक्रिया से अधिक उनका ध्यान पात्रों की उपस्थिति और चरित्र के पुर्जे कसने पर है। उनके द्वारा बुने हुए पात्र जब कहानी में हमें दिखते हैं तो कहानीकार के हाथों की गर्माहट हम वहाँ महसूस करते हैं। अतः चरित्र विमर्श को केन्द्र में रखकर उनकी विभिन्न कहानियों के पात्रों को एक-दूसरे के समानान्तर या थोड़ा आगे-पीछे घसकाकर हम देखेंगे।

शिवमूर्ति की पहली चर्चित कहानी 'कसाईबाड़ा' से शुरुआत करें जो १९८०ई. में आई, तो यह अवश्य कहना पड़ेगा कि शिवमूर्ति का नाम आते ही 'कसाईबाड़ा' कहानी की बात होती है। यह कहानी बहुत ही चर्चित और प्रशंसनीय रही। 'कसाईबाड़ा' कहानी में परधान जी और लीडर जी जैसे अवसरवादी, धोखेबाज और साधारण जनता को लूटने वाले चरित्र हैं। शनिचरी की बेटी को परधान जी ने आदर्श सामूहिक विवाह के पर्दे के पीछे बेंच दिया। परधानी पाने के लिए ऐसे हथकंडे अपनाना गाँव के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं है तभी तो खबर लगते ही शनिचरी को छोड़कर और कोई धरने पर नहीं बैठता। लीडर परधान के खिलाफ शनिचरी के गुस्से का इस्तेमाल करने से नहीं चूकता। एकमात्र अर्द्धविक्षिप्त अधरंगी ही शनिचरी का साथ देता है। कहानी एक आइरॉनी और ट्रैजिक अंत के साथ खत्म होती है, जहाँ हम यह देखते हैं कि परधान धोखे से अपनी पत्नी के हाथों जहर देकर शनिचरी को मार डालता है। दूसरी ओर हिमायती बनने वाला लीडर भी शनिचरी से धोखे से दस्तक करवाकर उसकी जमीन हड़प चुका है। एकमात्र अधरंगी

की सहानुभूति शनिचरी के साथ है, जो उसके शव को जानवरों से बचाता है और अंतिम संस्कार करता है। इस अंत के साथ न जाने क्यों प्रेमचंद की 'सद्गति' कहानी की याद आती है। ऐसा अंत देखने के लिए पाठक तैयार है कि नहीं इस पर लेखक ने नहीं सोचा। हाँ, ऐसा है कि यह कहानी एक बार में झकझोर कर जगा देती है।

प्लॉट के स्तर पर यह कहानी उनकी अन्य कहानियों की अपेक्षा मुझे थोड़ी कमजोर लगी। यह कहानी चरित्र नायक भी नहीं देती। जिससे जुड़कर पाठक आगे बढ़े। यद्यपि कहानी में कई ऐसे ट्रैजिक मोड़ हैं जो पाठक को सन्नाटे में डाल देते हैं। जो हो यह कहानी पाठकों की सहानुभूति बटोरने में सफल रही। यह कहानी मुझे कुछ विशेष बिंदुओं पर प्रभावित करती है- पहला, शनिचरी का अपनी बेटी के लिए प्रेम, जिस कारण वह दरोगा को भी जवाब देने से नहीं चूकती। दूसरा, परधान और लीडर की स्त्रियों का अपने पति के ऐसे निकृष्ट आचरण पर औरताना विद्रोह किंतु जो इतनी मजबूत नहीं हैं कि कहानी की नायिका बन सकें।

चरित्र प्रधान कहानियों में देखें तो 'तिरिया-चरित्त' की 'विमली', 'अकालदण्ड' की 'सुरजी' और 'कुच्ची का कानून' की 'कुच्ची' को एक स्तर पर रखकर देखा जा सकता है। 'तिरिया-चरित्त' की विमली जो अत्यंत प्रयत्न करके भी अपने स्त्रीत्व की रक्षा नहीं कर पाती और अंत में धोखे के कारण अपने श्वसुर बिसराम के दुष्कर्म का शिकार होती है। यह कहानी भी एक आयरॉनी और ट्रैजिक अंत लेकर आती है जब पंचायत में बिसराम विमली के चरित्र पर ही कितने प्रश्न खड़े कर देता है और पंचायत विमली को ठीक उसके माथे के बीचोंबीच में दगवा देती है। 'अकालदण्ड' की सुरजी की गति विमली की तरह तो नहीं होती। वह सिकरेटरी बाबू का यौनांग काटकर भाग जाती है। ऐसा अंत विमली के साथ भी हो सकता था जब विमली अपने श्वसुर को उसके किए की सजा देना चाहती है मगर वह मौका पाकर भाग जाता है। विमली के मन की प्रतिशोध की ज्वाला ठंडी नहीं हो पाती। यह प्रतिशोध की ज्वाला

सुरजी में जाकर शांत होती है। सुरजी यद्यपि विमली की तरह सख्त और मुखर नहीं है; मगर सुरजी अपने को बचा लेती है। यह कहानी भी अंत में पाठक को चौंकाती है और सन्नाटे में डाल देती है। सुरजी का विरोध एक स्वरूप को प्राप्त होता है और सुरजी के भाग जाने के साथ कहानी खत्म हो जाती है। इन दोनों से आगे बढ़ी हुई कहानी है 'कुच्ची का कानून'। पति के मरने के दो वर्ष बाद कुच्ची अपनी इच्छा से गर्भधारण करती है। भरी पंचायत में खड़ी होती है और अपने फैसले पर अडिग साबित होती है।

इन तीनों स्त्री-चरित्रों को एक साथ रख कर देखें तो तीनों एक-दूसरे की अगली स्थिति पर दिखती हैं। लेखक की कहानियों में उनका पक्ष स्त्री पक्ष है, यह तो प्रायः उनकी सभी कहानियों में स्पष्ट है। वह स्वयं कहते हैं- "...और जहाँ तक लेखन में इनके आने की बात है; मेरी लगभग सारी कहानियाँ नायिका प्रधान हैं। चाहे 'तिरिया-चरित्र' हो या 'सिरी उपमा जोग'। 'कसाईबाड़ा' हो, 'केशर-कस्तूरी' हो, 'अकालदण्ड' हो।" लेखक स्त्रीपक्ष का पैरोकार सा लगता है। क्या कारण है कि शिवमूर्ति के स्त्री-चरित्र, लगभग सभी अपने माता-पिता या सास-श्वसुर के लिए कर्तव्य का पालन करने से नहीं चुकते? यहाँ तक कि तब भी जब माता-पिता को बेटा छोड़कर चला जाए या पति छोड़ दे। 'कसाईबाड़ा' में शनिचरी की बेटी उसके लिए काम करती है और अपने परिवार का सहारा थी। 'तिरिया-चरित्र' की विमली का भाई माँ-बाप को छोड़कर चला जाता है। माँ-बाप के भरण-पोषण के लिए विमली भट्टे पर काम करने लगती है। अपने श्वसुर के प्रति उसमें पर्याप्त सेवा भाव है, मगर उसका श्वसुर पतोहू को बुरी नजर से देखता है और विमली उसके हवस की शिकार होती है। 'अकालदण्ड' की नायिका सुरजी के लिए उसका यौवन और सुंदर गोरी काया ही उसकी सबसे बड़ी शत्रु बन चुकी है जिस पर सिकरेटरी बाबू की नजर है। पति के जाने के बाद वह चाहती तो घर छोड़कर निकल जाती मगर वह अपनी बूढ़ी सास के लिए रुक जाती है। इसी प्रकार 'सिरी उपमा जोग' में लालू की माई अपने पति को बड़ा अफसर बनाने के लिए

तन-मन से जुटी रही। बड़ा अफसर बनकर वह शहर में ममता से विवाह कर लेता है। लालू की माँ अपने पति के घर-गृहस्थी और श्वसुर की सेवा में लगी रहती है। उसे अपने पति से जरा भी शिकायत नहीं जिसने उसके हिस्से का सारा सुख शहर में लुटा दिया। जब बड़े मौके पर वह अपने पति को याद करती है, तब भी उसका पति उससे पर्दा कर लेता है।

इसी तरह 'केशर-कस्तूरी' की नायिका केशर को देखें तो तमाम गुणों से संपन्न होकर भी एक दुःखद और कष्टप्रद जीवन व्यतीत करती है। वह अपने पति और सास को नहीं छोड़ती। बाप के साथ जाती भी नहीं। उसके पीछे बूढ़ी सास का ख्याल कौन रखता? 'कुच्ची का कानून' तो बिल्कुल इसी प्लॉट पर खड़ी है। पति की मृत्यु के बाद अपने सास-श्वसुर की सेवा के लिए कुछ दिन ससुराल में वह रह जाती है। लेकिन जब वह अपने जेठ बनवारी के लालच और स्वार्थ को देखती है तो निर्णय लेती है कि वह कहीं नहीं जायेगी अपने सास श्वसुर को छोड़कर। कुच्ची चाहती तो दूसरा मर्द कर सकती थी। परंतु वह जानती है कि उसके पीछे उसके सास श्वसुर की क्या गत होगी।

इन सभी कहानियों में यह एक कॉमन फैक्टर उभरकर आता है कि स्त्री-पात्र अपने पारिवारिक दायित्व को विपरीत परिस्थितियों में भी निभाती हैं। जहाँ तक यौन-शुचिता का प्रश्न है उधर भी शिवमूर्ति ने पर्याप्त ध्यान दिया है। सुरजी सिकरेटरी बाबू के तमाम प्रलोभनों को ठोकर मारते हुए कहती है- "हम गरीबन का भी दुनिया मा इज्जत-आबरू के साथ परा रहे देव।" इसी प्रकार विमली भी स्वयं को अपने पति के चरणों में अर्पित फूल मानती है। भले ही उसने अपने पति को कभी न देखा हो। डरेबर बाबू और कुइसां से हँस-बोल लेती है मगर वह अपने मन में स्वयं को अपने पति की अमानत मानती है। तभी तो दूसरे विवाह के प्रस्ताव पर अपने माता-पिता से कहती है- "जिसकी औरत उसे पता भी नहीं और तू उसे दूसरे को सौंप देगी? गाय-बकरी समझ लिया है?" ऐसी विमली के तिरिया-चरित्र पर पंचायत में बीसों सिर हिलते हैं। उसका श्वसुर मर्द होने

के कारण बच जाता है।

इसी प्रकार 'सिरी उपमा जोग' की सेवापरायण नायिका हो या 'केशर-कस्तूरी' की केशर उनके चरित्र पर समाज बार-बार प्रश्न उठाता है। केशर द्वारा गाया गया यह गीत अत्यंत हृदय विदारक है-

मोछिया तोहार बप्पा 'हेठ' न होइदै/पगड़ी केहू ना उतारी, जी ई-ई/टुटही मँड़इया मा जिनगी बितउबै/ नहीं जाबै आन की दुआरी जी ई-ई।''

शिवमूर्ति द्वारा बनाये गये इस फ्रेम में अगर इनकी ही कहानी 'भारतनाट्यम' को रखकर देखे तो एक विपरीत रिएक्शन मिलता है। लेखक स्वयं अपनी सीमाओं के पार चला जाता है। कहानी लेखक के हाथ से छूटकर निकल जाती है और ऐसा लगता है कि पात्र लेखक से ज्यादा मजबूत होकर उभर रहा है। इस कहानी की नायिका न सिर्फ अपने पारिवारिक दायित्वों से मुँह-मोड़ती है बल्कि अपने पति के निश्छल प्रेम को भी ठुकराकर किसी और के साथ भाग जाती है। इस कहानी की नायिका तीन बेटियों की माँ और बेटे की चाहत लिए हुई एक अपूर्ण स्त्री है। यह कहानी एक बेरोजगार युवक के निजी अनुभव को बयां करती है। युवक जो इस कहानी का नायक है अपनी स्त्री की अपूर्ण इच्छा को पूरा करने में स्वयं को असफल पाता है। चूँकि यह कहानी नायक के अनुभवों के माध्यम से आगे बढ़ती है अतः नायिका का पक्ष भी यहाँ नायक के अनुभव से होकर ही अभिव्यक्त होता है। जब उसकी स्त्री बेटे की चाहत में अपने जेठ के साथ सहवास करती है और नायक पर इस बात का उतना और उस तरह से असर नहीं पड़ता जितना की पड़ना चाहिए। उसे दिल से बुरा भी नहीं लगता और न ही अपनी स्त्री के लिए उसके दिल में जगह कम हुई। कहानी का अंत जो अन्य कहानियों की तरह अप्रत्याशित और ट्रैजिक है, जब उसे एक ढंग की नौकरी घूस देकर मिल भी जाती है, तभी उसे पता चलता है कि उसकी स्त्री दर्जी के साथ भाग गई। कुछ क्षण तक उसका मन अशांत रहता है, फिर वह कहता है- "...लिखता कि बेटा होने पर खबर करे। मैं खिलौने लेकर आऊंगा।" उस स्त्री के बेटे की

चाहत ज्यादा बुरी थी या स्त्री होकर तीन बेटियों की माँ होना? जो हो नायक उसके लिए दिल से दुखी है। किंतु नायक उससे प्रेम करता है और इस हद तक करता है कि अगर कहानी आगे जाती और ऐसा होता कि नायिका बेटे को गोद में लिए वापस लौटती तो भी वह उसे स्वीकार कर लेता।

कुच्ची की नाजायज कोख को भी उसके सास-श्वसुर ने स्वीकार लिया। कुच्ची की करतूत पर गाँव में सभी स्त्री-पुरुष दांतों तले अंगुली दबा लेते हैं। कुच्ची तीनों प्राणियों के लिए जीने का आधार और शस्त्र चाहती है। वह चाहती है कि उसकी संतान बनवारी को उसके किए की सजा दे। लेकिन क्या यह इतना सहज है? विधवा होकर गर्भ धारण करना? लेकिन वह अपने कोख के अधिकार के लिए पंचों के सामने ऐसे-ऐसे तर्क रखती है कि पंचों को भी चुप होना पड़ता है।

लेखक के लिए यौन-शुचिता का प्रश्न सामाजिक संस्कारों का नहीं स्त्री की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न है। शिवमूर्ति के प्रेम का चित्रण भी बड़ा मांसल है। लेकिन वह भी अश्लील नहीं लगता। स्त्री पात्रों ने दायरों को कहीं-कहीं तोड़ा है लेकिन वह उच्छृंखल नहीं है। इसलिए इनके पात्र कुरूप नहीं लगते। उनमें जीवन रस है। प्रेम की पीर की कहानी 'ख्वाजा वो मेरे पीर' की नायिका बड़की मामी को ही लें जो अपने पति से मिलन के लिए रोज रात में २ घंटे चलकर बीहड़ जंगल को पार कर बड़के मामा के पास पहुँचती है। पुनः भोर अंधेरे उसी रास्ते में अपने गाँव वापस अपने माँ-पिता के पास लौट जाती है। वह चाहती है कि उसका पति भी उससे मिलने आए। मगर वह कभी नहीं आता। रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' की महक यहाँ मिलेगी; जब प्रेम के धागों को लेखक कहानी में गूँथता है। पहल मामी की ओर से होती है। यह जानते हुए भी कि समाज इस पर क्या प्रतिक्रिया करेगा। वह अपने पति के पास अपनी इच्छा से आती रहती है।

शिवमूर्ति की एकमात्र कहानी 'बनाना रिपब्लिक' स्त्री चरित्र को उभार नहीं पाती। चूँकि इस कहानी का प्लॉट

बिल्कुल अलग है। कहानी गाँव में दलित आरक्षण के चलते बदलते समीकरणों पर है। जग्गू मुख्य किरदार है। ठाकुर और पदारथ उच्च वर्ग के रूतबेदार हैं। इस बार दलित आरक्षण के कारण वे दोनों दलित चेहरों में अपने कारिंदे को उतारते हैं। जग्गू का इस्तेमाल ठाकुर करते हैं। बहुत सारे चुनावी पेंचों से होते हुए आखिरकार जग्गू यानि कि ठाकुर अपनी जोड़-तोड़ लगाकर १५ वोटों से जीत जाता है। फुलझरिया जग्गू से पीछे रह जाती है जो सही मायने में ठाकुर और पदारथ के किले में नश्वर लगा सकती भी है। एकमात्र वही एक ऐसा दलित चेहरा है, जो किसी अवसरवादी गुट में नहीं है। पदारथ शंकर को पैसा देकर फुलझरिया के सामने भोर-अंधेरे खड़े होने को कहता है। ऐसा दृश्य देखकर लोग फुलझरिया के चरित्र के विरुद्ध बातें बनाने लगते हैं। ससुराल की परित्यक्ता फुलझरिया जग्गू से ज्यादा योग्य होकर भी चुनाव में जीत नहीं पाती है। चूँकि लेखक का उद्देश्य जग्गू के माध्यम से एक ऐसे दलित चेहरे को उभारना है, जिसके पीछे अवसरवादी ताकतों का हाथ है। मगर यहाँ फुलझरिया के चरित्र को पर्याप्त ढाका गया है। फुलझरिया इस कहानी में उभर कर नहीं आ पाती।

शिवमूर्ति के एक-एक चरित्र पर कई नजरिए से बातें हो सकती हैं। मगर शिवमूर्ति का नजरिया क्या है- चरित्र, उसकी परिस्थितियों, उसकी समस्याओं और उसके समाधान तक ही या उससे कहीं दूर वे एक दूरगामी दृष्टि रखते हैं? शिवमूर्ति ने निम्न वर्ग की स्त्रियों को ही अपना वर्ग

आधार बनाया है। उनका दायरा एक वर्ग और परिस्थितियों से जूझने की उसकी क्षमता को दिखलाना है। यहाँ डॉ. रवि भूषण के विचारों से हमें सहायता मिलेगी- “शिवमूर्ति के यहाँ एक सुस्पष्ट वर्गीय दृष्टि है। दिक्कत यह है कि उनकी रचनाओं पर विचार किसी एक दृष्टि-दलित, स्त्री, वर्गीय-से संभव नहीं है। हिंदी कथालोचना ने अभी तक एक दृष्टि-विशेष पर ही ध्यान केंद्रित किया है। इससे रचनाओं के बाहरी किवाड़-दरवाजे खुलते हैं, पर भीतरी जगहों की पहचान नहीं हो पाती।”

प्रत्येक लेखक के पास लिखने का एक कारण होता है जो उसके अंदर लिखने का दबाव बनाते हैं। शिवमूर्ति के जीवन के कई हिस्सों में कई ऐसे चरित्र हैं, जो उनकी कलम से आकार ग्रहण करने के लिए व्याकुल हैं। कई बार ऐसा भी लगता है कि लेखक ने एक ही चरित्र को दो-तीन बार फिर-फिर ढाला है। यही बिंदु उनकी कहानियों को विश्वसनीय भी बनाती है और सीमित भी करती है। लेकिन यह कहना आवश्यक है कि शिवमूर्ति सीमित दायरों में असीम चरित्रों वाले कथाकार हैं। स्वयं शिवमूर्ति को यहाँ सुने तो बात और भी स्पष्ट हो जायेगी- “मुझे कलम पकड़ने के लिए बाध्य करने वाले मेरे पात्र होते हैं... ऐसे पात्रों की पूरी भीड़ है। ये बाहर आने की उतावली में हैं। कितने दिनों तक इन्हें ‘हाईबरनेशन’ में रखा जा सकता है। लिखने की मेरी मंदगति इन्हें हिंसक बना रही है। कितने-कितने लोग हैं। कुछ जीवित, कुछ मृत। सब एक-दूसरे को पीछे ढकेलकर आगे आ जाना चाहते हैं।”

संपर्क: सहायक प्राध्यापिका, विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता, मो. ९८३०२७४३८९

भीष्म साहनी की कहानियाँ

सविता पोद्दार

भीष्म साहनी की सम्पूर्ण कहानियों पर कहना न ही मेरा उद्देश्य है न ही संभव। एक बार भीष्म जी से पूछा गया कि “आपके परिवार के सदस्य आपके साहित्य में रुचि लेते हैं”?

उनका जवाब था- ‘हाँ, लेते हैं, मेरी कहानियों की पहली पाठिका मेरी पत्नी ही होती है।’

फिर साक्षात्कारकर्ता ने पूछा- “तारीफ करती हैं या कभी-कभी आलोचना भी?”

उनका उत्तर था- ‘झूठी तारीफ नहीं करती। यदि पसंद न आये तो हूँ-हाँ कर देती हैं और मैं समझ जाता हूँ कि रचना कमजोर है।’

प्रसिद्ध कथाकार राजेन्द्र यादव जी कहते हैं- ‘विभाजन के बाद भारत में ही बस गए साहनी बड़े जिंदादिल इंसान थे, अत्यंत साधारण से दिखने वाले साहनी जब तब फोन करके किसी घटना को मजेदार चुटकुले के रूप में बताते थे।’

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भीष्म साहनी आम लोगों की आवाज उठाने की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले साहित्यकार के तौर पर पहचाने जाते हैं। विभाजन की त्रासदी पर ‘तमस’ जैसा कालजयी उपन्यास लिखने वाले साहनी ने हिन्दुस्तानी भाषा को बढ़ावा दिया।

साहित्यकार राजेन्द्र यादव ने कहा, ‘भीष्म साहनी ने दबे, कुचले और समाज के पिछड़े लोगों की समस्याओं को जन-भाषा में अत्यंत सटीक तरीके से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। यही वजह है कि उन्हें प्रेमचंद की परंपरा का साहित्यकार कहा जाता है।’

कथाकार के रूप में भीष्म जी पर यशपाल और प्रेमचंद की गहरी छाप है। उनकी कहानियों में अंतर्विरोधों व जीवन के द्वंद्वों, विसंगतियों से जकड़े मध्यवर्ग के साथ ही निम्नवर्ग की संघर्षशीलता को उद्घाटित गया किया है। नई कहानी में भीष्म साहनी ने कथा साहित्य की जड़ता को तोड़कर उसे सामाजिक आधार दिया। जहाँ तक नारी मुक्ति की समस्या का प्रश्न है आपने अपनी रचनाओं में नारी के व्यक्तित्व के विकास, एकाधिकार, आर्थिक स्वतंत्रता, स्त्री शिक्षा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व आदि उसकी सम्मानजनक स्थिति का समर्थन किया है। इस प्रकार से देखा जाए तो साहनी जी प्रेमचंद के पदचिह्नों पर चलते हुए उनसे भी कहीं आगे निकल गए हैं। भीष्म जी ने प्रेमचंद के समान जीवन की विडम्बनाओं को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है। अपनी कहानियों में आपने जीवन के कटुतम यथार्थों का प्रामाणिक चित्रण किया है। स्वयं भीष्म साहनी जी कहते हैं- “कहानी की मूल प्रेरणा जीवन

से ही मिलती है कहीं न कहीं कोई जाना-पहचाना पात्र, कोई वास्तविक घटना उसकी तह में रहती है, जिन्दगी ही आपको कहानियों के लिए कच्ची सामग्री जुटाती है। जहाँ हम समझते हैं कि कहानी हमने मात्र अपनी सोच से निकाली है वहाँ भी उसे किसी न किसी रूप में जीवन का संस्कार या प्रभाव या अनुभव का निष्कर्ष उत्प्रेरित कर रहा होता है।”

आगे वे कहते हैं “कहानी का सबसे बड़ा गुण उसकी प्रमाणिकता ही है जो उसके अंदर छिपी सच्चाई में हमें जिन्दगी के किसी पहलू की सही पहचान कराती है और यह प्रमाणिकता उसमें तभी आती है जब वह जीवन के अंतर्द्वंदों से जुड़ती है, तभी वह जीवन के यथार्थ को पकड़ पाती है।”

भीष्म साहनी जी की पहली कहानी ‘अबला’ इन्टर कॉलेज पत्रिका में छपी तथा दूसरी कहानी ‘नीली आँखें’ हंस में छपी। ‘भाग्य-रेखा’, ‘पटरियाँ’, ‘पहला पाठ’, ‘भटकती राख’, ‘शोभा यात्रा’, ‘निशाचार’, ‘पाली, प्रतिनिधि कहानियाँ’ व ‘मेरी प्रिय कहानियाँ’ जैसी कहानी संग्रहों का सृजन किया है। भीष्म साहनी की ‘खण्डहर’ कहानी में आधुनिकता बोध व यथार्थवादी विचारधारा के विविध अंतर्विरोध हैं। इस कहानी में लेखक ने अतीत की सभ्यता के खंडहरों और पारिवारिक जीवन के अतीत के बीच एक सार्थक तुलना करने की ईमानदार चेष्टा की है। समस्त कहानी में प्राचीन सभ्यता के अतीत एवं पारिवारिक जीवन के निकट अतीत दोनों की ही परस्पर तुलना का एक वातावरण रचा जाता है। ‘ओ हरामजदे’ शीर्षक कहानी मूलतः मानवीय सम्बन्धों से जुड़ी सार्थक रचना है। यह कहानी यूरोप के दूर दराज क्षेत्र में भी आदमी की अपनी जड़ों से कट जाने की पीड़ा का मार्मिक चित्रण करती है।

मृत्युबोध से ग्रस्त एक मध्यवर्गीय असामान्य व्यक्ति का चित्रण करती कहानी ‘दहलीज’। वह कीटाणुओं के भय से स्त्रियों तक के संपर्क से दूर रहता है। यहाँ तक कि वह अपने को मिली सभी चिट्ठियों को भी बहुत देर तक धूप में सुखाकर, दस्ताने पहन कर ही उठाया करता है। जो लोग उनसे मिलने आते हैं उनसे यदि कोई रोगी है तो उसे भी देर तक वह धूप में बिठाये रहता है, इस भय से कि कहीं उसका रोग उसे भी न लग जाए और फिर एक निश्चित दूरी

पर, हवा का रुख देखकर ही उससे मिलता व बात करता। इसी प्रकार महानगरीय घुटन का यथार्थ चित्र हमें ‘खिलौने’ कहानी में मिलता है। यह कहानी महानगरीय जीवन की अत्यधिक व्यस्तता और महत्वाकांक्षी विवाहित युवक-युवतियों की मनोवृत्ति को चित्रित करती है, जिसके कारण एक मासूम बच्चा चार-पाँच वर्ष की अवस्था में ही इतना प्रौढ़ हो गया कि उसका बचपन उससे दूर कहीं छिप जाता है। परिवार में रहते हुए भी अपनी इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकता। यहाँ बालमन का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

‘बीबर’ नामक कहानी में कुत्ते की तुलना में मानव की पशुता उभारी गयी है। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से व्यंग्य किया है कि पशु सरीखे मानव से तो बीबर जैसे कुत्ते ही उत्तम जीव कहे जा सकते हैं जो कि निष्ठा पालन और कर्तव्य निर्वाह में मानव से कहीं बढ़कर सिद्ध हुआ करते हैं। मनुष्य के जीवन में तो दुर्मुहापन व कृत्रिमता का प्रवेश हो कर रह गया है। पश्चिम की संस्कृति का प्रभाव ‘अहम् ब्रह्मस्मि’ कहानी में मुख्य पात्र भाटिया के माध्यम से देखा जा सकता है। यह कहानी कटाक्ष और व्यंग्य की शैली में लिखी गयी है। इनकी कहानियाँ समकालीन सामाजिक यथार्थ को पूर्ण प्रमाणिकता के साथ सामने रखती हैं तथा मानव मूल्यों की गहरी जाँच पड़ताल करती हैं। ‘मेड इन इटली’ पाश्चात्य वस्तुओं के प्रति अंधे मोह की दिनों दिन हो रही वृद्धि को गहराने वाली रचना है। एक भारतीय महिला मीरा जब इटली जाती है तो वहाँ रहकर वहाँ की ऐतिहासिक इमारतों, खंडहरों को देखने के बजाय शॉपिंग में रूचि अधिक लेती है। ऐसा वह केवल इसलिए करती है ताकि भारत लौटकर अपने मित्रों व सहेलियों पर अपने खरीदे विदेशी सामान का रौब डालकर आत्मसंतोष का अनुभव कर सके।

भीष्म साहनी की ‘इमला’ कहानी वर्ग चेतना एवं सामाजिक प्रतिबद्धता के आयाम पर प्रकाश डालती है। कहानी का अध्यापक कायरता, उपदेशप्रियता एवं झूठी आदर्शवादिता को लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है। आपकी बहुत सी कहानियाँ पीढ़ीगत अंतराल, टकराव और तनाव को लेकर भी लिखी गयी हैं। ‘घर की इज्जत’ कहानी झूठी सामाजिक

मर्यादा और कथित मूल्यों के विरोध में खड़ी होती एक आत्म सजग स्त्री की कहानी हैं। 'चीफ की दावत' शीर्षक कहानी आज के समाज में व्याप्त हो रहे प्राचीनता के प्रति लगभग पूर्ण अस्वीकार की भावनाओं की ओर संकेत करती हुई कहानी है। मध्यवर्ग के व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओं, आधुनिक भारत के नौकरशाहों और बाबू वर्ग का मिला जुला आडम्बपूर्ण चरित्र गहराई से उकेरा गया है। 'चाचा मंगलसेन' कहानी में उच्च वर्गीय शिष्टाचारों में बंधी जीवन पद्धति व निम्न वर्ग की उन्मुक्त और सहज जीवन प्रणाली को चाचा- भतीजे के परस्पर सम्बन्ध से उभारा है। यँ तो साहनी जी की कहानी किसी न किसी रूप में किसी न किसी व्यक्ति के जीवन से जुड़ी स्वयं की ही कहानी प्रतीत होती है। 'गीता सहस्रनाम' शीर्षक कहानी प्रायः हम सभी के उम्र की ओर पाँव बढ़ाते प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था में एकाकीपन के कारण स्वभाव में आ गए परिवर्तन एवं

लोगों के साथ संबंधों में आ गए दरार रेखांकित करती यह कहानी बड़ी सच्ची लगती है। 'साग-मीट', 'त्रास', 'पिकनिक', 'राधा-अनुराधा' इन सभी कहानियों में वर्ग विभक्त समाज की विसंगतियों और शोषण की रीति-नीति का विवेचन हुआ है। 'पहला-पाठ', 'पाप-पुण्य', 'नमक' कहानियाँ आर्य समाजी संसार और जीवन शैली के अंतर्विरोधों को सामने सरोकारों से प्रस्तुत करती हैं। वहीं 'काँटे की चुभन' व 'एषधर्मःसनातन' कहानियाँ धार्मिक स्पर्धा और किसी भी धर्म की अपेक्षा पेट और भूख के रिश्ते के पहचान का धर्म रेखांकित करती हैं। 'फैसला', 'मुर्ग-मुस्सलम', 'मालिक का बंदा', 'नया मकान', 'अमृतसर आ गया', 'जहूर बख्श' अनेकों-अनेकों कहानियाँ अपने समय के साथ हर स्तर और रूप में संवाद रचने में सफल हैं। भीष्म साहनी की कहानियों में युग विशेष बोल उठा है।

संपर्क:

एन. १४, थर्ड फ्लोर, (एक्सिस बैंक के पास), एअरव्यू कोआपरेटिंग हाउसिंग सोसायटी,
वी.आई.पी रोड, अश्विनीनगर, बागूआटी, कोलकाता- ७००१५९, मो. ९८३१५९०५४०

साहित्य अकादमी से सम्मानित बांग्ला भाषा की लेखिका
नवनीता देव सेन एवं हिंदी के सुप्रसिद्ध कहानीकार स्वयं
प्रकाश के पुण्य-प्रयाण पर मर्माहत है 'मुक्तांचल' परिवार।
विनम्र श्रद्धांजलि!

हिंदी कहानी में पारिस्थितिक सजगता का परिप्रेक्ष्य

डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी

मानव एक सृष्टि है, साथ ही वह एक सर्जक भी है। वह अपने अथक परिश्रम से अपनी नियति को स्वयं निर्धारित करता रहा है। सभ्यताओं के विकास में हम इसके ही पुरुषार्थ को देखते-समझते तथा पढ़ते आए हैं। उसका पालना वही प्रकृति और परिवेश रहे हैं, जिनके साथ वह सह-अस्तित्व को तो जीता ही रहा है, साथ ही उनकी प्रतिकूलताओं से संघर्ष भी करता रहा है। मानव सभ्यताओं का इतिहास मानव की 'जय-यात्रा' का भी इतिहास कहा जाता है। प्रकृति और मानव दोनों ही सर्जक हैं। यह उनके नैकट्य का एक अन्य कारक है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।

परिवेश की यदि बात की जाए तो वह नैसर्गिक होने के साथ-साथ मानव-निर्मित भी होता है। मानव ने सभ्यता के विकास के एक चरण में गाँव से अपनी यात्रा का प्रारंभ कर कस्बे से होते हुए नगर-महानगर तक अपना फैलाव कायम रखा। मानव का प्रकृति से दूर जाना उसके व्यक्ति होने की शर्त थी। यह एक बहुत बड़ी दुर्घटना थी, जिसका दुष्परिणाम आने वाले समय में भविष्य को भुगतना था।

प्रकृति ने जमीन, जल एवं जंगल जैसे प्राकृतिक संघटकों में सब को समान अधिकार दिया है। यहाँ मानव एवं मानवेतर में कोई अंतर नहीं है। मनुष्य की लोभ-लाभवृत्ति ने सारी दुनिया का गणित गड़बड़ कर रखा है। इन वस्तुओं पर किसी एक वर्ग या जाति का अधिकार अनुचित है। प्रकृति सह-अस्तित्व की पैरवीकार है एवं संतुलन की हामी है। दूसरी तरफ यह भी कहा गया है कि 'वीर भोग्या वसुंधरा' अर्थात् सक्षम मनुष्य ही धरती का भोग करता है। कहने का आशय यह कि मानव प्रकृति का दोहन अपनी आवश्यकता के लिए कर सकता है; परंतु आवश्यकता के लिए दोहन एवं स्वार्थ के लिए दोहन दो पृथक् अवधारणाएँ हैं। जीवन तथा समाज के लिए ऐसे मुहावरे गढ़ते समय हमारे पूर्वजों ने ऐसा कभी नहीं सोचा होगा कि यह सब कुछ भविष्य के लिए पारिस्थितिक असंतुलन का कारक बन जाएगा। इस असंतुलन के कारण मानव का स्वयं का ही जीवन मानवतरो के साथ खतरे में पड़ गया है। इन संकटों के कारण ही मानव पारिस्थितिकी के प्रति सजग हुआ क्योंकि प्रकृति ने प्रतिक्रिया स्वरूप अपना रौद्र रूप समय-समय पर दिखलाना प्रारंभ कर दिया। ऐसे में विज्ञान का यह सूत्र सहज ही स्मृत हो आता है कि प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया भी होती है। आदिम काल में प्रकृति मानव के लिए भयोत्पादक थी। वह उसकी उपासना करता था।

उसके भय ने ही उसे संतुलन में रहना सिखाया। वह अपनी धरती मानवतरेणों के साथ संतुलन एवं सह-अस्तित्व के साथ बाँटता था। मानव स्वयं को तब प्रकृति का ही एक अंग मानता था। इसके बाद की महत्वपूर्ण छलांग सामंती समाज व्यवस्था थी। प्रकृति खेत-खलिहान, गाय-बैल, कुत्ते आदि के रूप में उसकी सहचरी रही। मानव के लिए तब भी प्रकृति पूज्य ही थी। यहाँ तक कि लोक के सारे रीति-रिवाज कृषि एवं प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने में ही थे। उस समय तक प्रकृति पर आधिपत्य की अवधारणा का स्वरूप नहीं दिखता है। आदिवासी प्रजातियाँ तो आज तक स्वयं की अस्मिता को जल, जंगल एवं जमीन से जोड़ कर देख पाती हैं। संभवतः इसीलिए आज तक दुनिया में जंगल दिखाई पड़ रहे हैं। हालांकि अब पृथ्वी के उतने हिस्सों में जंगल नहीं रह गए हैं, जितने कभी हुआ करते थे। दूसरी ओर विकास के नाम पर जंगल एवं पहाड़ों का नाश ही हुआ है, जबकि आज तक विकास की अवधारणा ही स्पष्ट नहीं है। विकास की टिकने वाली अवधारणा तो सिर से गायब है। इन तमाम घटनाओं ने भू-पटल की जलवायु को संघातिक रूप में बदल डाला।

एक लोकोक्ति है “किस्सा गइल बन में, सोच अपना मन में” जिसका अर्थ है कि अब किस्सा वन की ओर प्रस्थान करता है, श्रोता उसके प्रतिपाद्य पर अपने विवेक से विचार करे। कहना न होगा कि किस्सा अपने ‘क्लाइमैक्स’ में वन की तरफ जा रहा है क्योंकि कहानी या किस्से हमारी भावनाओं के आदिम युग से साक्षी रहे हैं। दूसरी ओर सभ्यता के बीज वनों से ही नदियों के किनारों की तरफ प्रस्थान करते हैं। इस सत्य को यदि कहानी के साथ जोड़कर पढ़ा जाए तो यह साफ-साफ दिखेगा कि किस्से-कहानियाँ मानव जीवन एवं उसके परिवेश की प्राचीन काल से अब तक सहचरी रहीं हैं। इतिहास भी घटित का वृत्तांत ही है क्योंकि कहा या लिखा तो वह भी जाता है और उसको संजोने वाला भी व्यक्ति ही होता है।

हमारी लोककथाओं के बड़े हिस्से में प्रकृति मानव-मानवतर दोनों का साहचर्य दिखाती है। यहाँ तक कि हमारे देवी-देवताओं के वाहन तक कोई-न-कोई पशु ही है। इससे

यह तो साफ हो जाता है कि प्राचीन मनुष्य ने प्रकृति के साथ साहचर्य को पूरा महत्व दिया था क्योंकि उसका संसार बनता ही प्रकृति से था और वह भी प्रकृति के बीच ही। सभ्यता के तथाकथित विकास ने प्रकृति के पैरवीकारों, उसके संरक्षकों को हाशिए पर ठेल दिया; फिर चाहे आप बात स्त्री की करें या दलितों की या आदिवासियों की। स्त्री और आदिवासी अस्मिताएँ तो घोषित रूप में प्रकृति-संरक्षक के रूप में विद्यमान रही हैं। यहाँ तक कि पारिस्थितिक चिंतन का एक पूरा क्षेत्र पारिस्थितिक स्त्रीवाद को समर्पित है। दूसरी ओर दलितों ने परिवेश की स्वच्छता की रक्षा करते हुए प्रकृति के संरक्षण में अपनी भूमिका का निर्वाह किया। दिलचस्प बात यह है कि इन सब को पुरस्कार स्वरूप विस्थापन ही मिला।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह रखी है कि कविता ही शेष सृष्टि से मनुष्य के रागात्मक संबंधों की रक्षा करती है। यदि यह बात कहानी के लिए भी कही जाए तो कुछ अनुचित न होगा। पुनश्च, हिंदी कहानी पर बात करते हुए हमारे समय के उपर्युक्त ज्वलंत प्रश्नों को यदि मानवाधिकार के साथ जोड़कर देखा जाए तो आश्चर्यजनक रूप से कई संदर्भ उठ खड़े होते हैं। हिंदी कहानी प्रेमचंद के समय से ही अपनी प्रकृति में जनतांत्रिकता की पैरोकार रही है। प्रेमचंद की कहानी ‘ठाकुर का कुआँ’ का एक पाठ तो दलित पाठ है; परंतु इसे प्रकृति और पारिस्थितिक संदर्भ में भी पढ़ा जा सकता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि यह कुआँ ठाकुर का है। कौन-सा ठाकुर? ईश्वर? नहीं। धरती के संसाधनों के मालिकाने का दावा करने वाला इंसानी ठाकुर। जल जैसे प्रकृति प्रदत्त संसाधन पर भी अपना दावा ठोकने वाले ऐसे ठाकुरों से दुनिया भरी पड़ी है। अब तो बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बोतल बंद पानी बेच रही हैं और आज के समय में ठाकुर की भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। आज जल स्रोत या तो सूख चुके हैं या वर्चस्वशाली लोगों के कब्जे में हैं। सामान्य मनुष्य को जल सहज सुलभ नहीं; फिर भी बोतलों में पानी का अभाव नहीं है। पैसे वालों के लिए ‘ठाकुर के कुएँ’ में सदा जल विद्यमान है। ऐसे में कवि केदारनाथ सिंह बरबस ही याद आते हैं- ‘पर चिंता की

कोई बात नहीं/ यह बाजार का समय है/ और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत से/ मैं (जल) हमेशा मौजूद हूँ।' इसके अलावा प्रेमचंद की 'पूँस की रात' कहानी में भी प्रकृति के सकारात्मक और नकारात्मक उभय पक्षों को हम देख सकते हैं। यहाँ एक तरफ फसल, हल्कू का कुत्ता जबरा, आग आदि हैं, जो उसके साथ हैं, तो दूसरी ओर ठंड, नीलगायें और रात का समय है, जिनसे वह परेशान है। इसके अलावा मानव कृत वर्ग-भेद तो है ही। कहना न होगा कि हल्कू, गंगी, जोखू के जीवन के परिवेशगत प्रश्न मानवाधिकार और राज्य की सामाजिक न्यायिक व्यवस्था से जुड़े प्रश्न भी हैं। इसके पीछे कृषि हेतु प्रयोजनीय भूमि तथा जल पर शक्तिशालियों के अपने एकाधिकार की प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित की जा सकती है। यह सब पूँजी की शक्ति का ही एक रूप है।

जयशंकर प्रसाद की बहुचर्चित कहानी 'पुरस्कार' को हम राष्ट्रप्रेम की कहानी के रूप में भी पढ़ते हैं; परंतु इसका एक पारिस्थितिक पाठ भी किया जा सकता है। भूमि वस्तुतः प्रकृति प्रदत्त है। वह क्रय-विक्रय का सामान नहीं है। जिसे आपने सृजित ही नहीं किया, उसे खरीदने या बेचने का आपको क्या अधिकार है। बात फिर घूम-फिरकर पूँजी और शक्तिशाली वर्ग पर आ जाती है। ये सत्ताएँ प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अनधिकृत दावा ठोकती हैं। भूमि परिश्रम करने वाले लोगों की अस्मिता का अंग है। उसका अनधिकृत अधिग्रहण अनुचित है।

हिंदी कहानी ने प्राकृतिक संसाधनों को माल के रूप में देखने की प्रवृत्ति का विरोध किया है। तथाकथित विकास ने जिस यंत्र संस्कृति को पैदा किया, वह मानवीयता और पारिस्थितिकी की शत्रु बन बैठी। 'हीलीबोन की बत्तखें' शीर्षक कहानी में अज्ञेय ने भले ही नारी-मन की गुत्थियों को समझने की चेष्टा की हो; परंतु उक्त कहानी यह भी कहती है कि यंत्र सभ्यता की विनाशकारी बंदूक अबोध पशु को मारना जानती है; एक परिवार को नष्ट करना जानती है। उसे (पशु को) अपने परिवार के पोषण के लिए अपनी सहजात वृत्ति से परिचालित होकर बत्तखों का शिकार करना पड़ता है। चूंकि वह मांसभक्षी (Carnivorous) है, इसलिए बत्तखों का

शिकार करना उसके लिए स्वाभाविक है। मजे की बात यह है कि कहानी का शीर्षक भी हीलीबोन न होकर 'हीलीबोन की बत्तखें' है।

कथाकार कमलेश्वर की 'नीली झील' कहानी में कथा नायक द्वारा झील के पक्षियों का शिकार करने देने से रोकना हिंदी कहानी की पारिस्थितिक सजगता का ही एक रूप है। उक्त कहानी में कथा नायक द्वारा पत्नी की स्मृति में मंदिर न बनवाकर झील खरीदना और उसके किनारे यह बोर्ड लगवाना- 'यहाँ शिकार करना मना है' कथाकार की पर्यावरणीय सचेतनता का प्रतीक बन जाता है। कमलेश्वर की 'दालचीनी का जंगल' भोपाल गैस त्रासदी पर आधारित कहानी है। इसमें कथा नायक को उक्त त्रासदी में मृत उसकी पत्नी-बच्चे के साथ बिताए गए क्षण याद आते हैं। उसे याद आती है दालचीनी के जंगल की महक, छोटी-छोटी नदियाँ और हरे-भरे खेत। उक्त कहानी सांसारिक सुखों के बरअक्स प्रकृति के सामीप्य-लाभ का समीकरण प्रस्तुत करती है।

पारिस्थितिक दर्शन जितना पर्यावरण-परिवेश से संयुक्त है, उतना ही समाज-संस्कृति से भी संबद्ध है। कहानी भी हमारे परिवेश और संस्कृति से ही संबद्ध है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कभी कहा था कि सभ्यता के विकास के साथ कवि-कर्म भी कठिन होता जाता है। वे 'कविता क्या है?' नामक निबंध में लिखते हैं- "मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते जा रहे हैं। पशु-पक्षी का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है।" संभवतः मानव स्वभाव की यही वह जटिलता है, जिसके केंद्र में व्यक्ति का स्वार्थ है और यही स्वार्थ उसके परिवेश के लिए घातक बन बैठा। हिंदी कहानी इन बातों की नोटिस बड़ी गंभीरता से लेती है। कभी पर्यावरणविद् सुंदरलाल बहुगुणा ने कहा था- "धरती पर तीसरा विश्वयुद्ध आरंभ हो चुका है। यह युद्ध प्रकृति के खिलाफ है।" हिंदी

कहानी इस बात को अपने तरीके से समझने-समझाने की चेष्टा करती है। इस संदर्भ में राजेश जोशी ('कपिल का पेड़', 'मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं'), स्वयं प्रकाश ('बली', 'कहाँ जाओगे बाबा'), संजीव ('आरोहण'), बटरोही ('कहीं दूर जब दिन ढल जाए'), रवींद्र कालिया ('सुंदरा'), एस. आर. हरनोट ('लिटन ब्लाक गिर रहा है') जैसे कथाकारों का नाम अग्रणी पंक्ति में रखा जा सकता है। विजयदान देथा की कहानियों में भी पर्याप्त रूप से प्रकृति विद्यमान है।

पारिस्थितिक चिंता का बहुत ही सुंदर संयोजन हरनोट की कहानियों में मिलता है। 'नदी गायब है' उनकी एक बहुप्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी में प्रकृति से की गई गंभीर छेड़छाड़ को हम देख पाते हैं। हमने देखा है कि पनबिजली बनाने के लिए कितनी ही नदियों के जल को बांध में रोक दिया गया। बिजली पैदा करने के लिए सदानीरा नदियों के जल को एकत्र कर नदियों को सूखने पर बाध्य कर दिया गया। उक्त कहानी में इस संकट को उठाया गया है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि नदी मात्र एक नदी नहीं है, बल्कि वह कई लोगों की आजीविका साधन भी है। उसके किनारे लोग फसलें बोते थे। इसके जल से लोगों की प्यास बुझती थी, परंतु पनबिजली परियोजना ने उस नदी के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। कहना न होगा कि नदी के समाप्त होने पर समाप्त होने लगा उन लोगों का अस्तित्व भी, जो अपनी आजीविका के लिए नदी पर ही निर्भर थे। ये लोग भारत के आम लोग थे। हरनोट की ही एक महत्वपूर्ण कहानी 'आभी' है। इस कहानी में आभी नामक पक्षी को पारिस्थितिक असंतुलन के विरुद्ध लड़ते हुए दिखाए जाने की परिकल्पना मिलती है। पार्वत्य परिवेश को मैदानों से आए लोग अपने स्वार्थ हेतु प्रदूषित कर रहे हैं और शिकारी वहाँ के जंगलों की अवैध कटाई करते हुए वहाँ के वन्य जीवन को क्षति पहुँचा रहे हैं। इसका दुष्प्रभाव प्रकृति में स्पष्टतः देखने को मिलता है। वह अपना प्रतिशोध भी लेती है। इस कहानी में प्लास्टिक के पुनर्चक्रण के न होने की समस्या को भी दिखाया गया है, जो आज की एक बड़ी समस्या है। हरनोट की एक अन्य कहानी 'हक्वाई' है। इस कहानी में पशु जगत एवं

मानव संसार के सुंदर संबंध को दर्शाया गया है। उक्त कहानी में ग्राम जीवन के स्वावलंबन और जैव संसाधनों के पुनर्चक्रण का प्राचीन कृषि व्यवस्था में जो वैज्ञानिक और पारिस्थितिक तंत्र प्रबंधन है, उसे दिखाया गया है। यहाँ तक कि मरे हुए पशुओं के शरीर को भी इस व्यवस्था में पुनर्चक्रित होते दिखाया गया है। इस संदर्भ में वहाँ गिद्धों (मुर्दाखोर) का महत्व भी समझाया गया है। इसके अलावा इस कहानी में भूमि पर कब्जे के मामले में वर्चस्वशाली व्यक्तियों की दबंगई के कारण समाज के कमजोर तबके के विस्थापन के दर्द को भी दिखाया गया है। हरनोट की कहानियों में 'शहर में रतीराम' कहानी कृषि के 'इंडस्ट्री' में तब्दील होने के परिणाम को दर्शाती है। खेती के परंपरागत तरीके और 'ऑर्गेनिक' फसल को अधिक मुनाफे के लालच में नष्ट होते दिखाया गया है। यहाँ पुराने किसान और नए किसान के अंतर को समझाया गया है। अब के किसान के लिए लोगों के स्वास्थ्य एवं जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है पैसा। बाजार और पूंजी का व्यक्ति की नैतिकता और उसकी मानसिकता पर जो आक्रमण हुआ है, उसको इस कहानी से समझा जा सकता है। भारत में सामाजिक न्याय एवं सुरक्षा के लिहाज से इस कहानी का महत्व देखते ही बनता है। इसके अलावा इस कहानी में बीज से बीज के प्रकृतिक नियम को भंग करने वाले एक फसली बीजों का संदर्भ भी दिखाई पड़ता है। विकिरण के परिणामस्वरूप बीजों के गुण-सूत्र को बदल दिया गया है। अब वे एक बार की खेती के लिए ही प्रयोजनीय रह गए हैं। पश्चिम के ताकतवर देशों और हमारे यहाँ के वर्चस्वशाली लोभी लोगों ने तीसरी-चौथी दुनिया (आदिवासी क्षेत्र) के देशों की पारिस्थितिकी का मजाक बनाकर छोड़ दिया। इन शक्तिशाली लोगों ने कापेरिट जगत के साथ मिलकर विकास के नाम पर कमजोर लोगों को विस्थापित तो किया ही, साथ ही ये लोग उनकी जमीन पर भी चढ़ गए। पहाड़ काटकर सड़कें, कल-कारखाने बनाए जाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि पार्वत्य क्षेत्रों की पारिस्थितिकी गड़बड़ हो गयी। हिमनद (Glacier) पिघलने लगे। वहाँ एवं मैदानों में पारिस्थितिक असंतुलन की स्थिति पनपने लगी। 'लोग नहीं

जानते थे उनके पहाड़ खतरे में हैं' हरनोट की एक महत्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी का कथानक इन्हीं बिंदुओं पर बुना गया है। उक्त कहानी में पहाड़ पर लग रही सीमेंट फैक्टरी के लिए भूमि अधिग्रहण, कापेरिट जगत और सत्ता के नौकरशाही के साथ बन रहे स्वार्थी संबंधों को दिखाया गया है। ये लोग पारिस्थितिक तंत्र के शत्रु बनकर सामने आते हैं, तो दूसरी तरफ जीवन पंडे जैसे लोग पारिस्थितिकी के पहरेदार भी हैं। जीवन इस षड्यंत्र की पहचान कर उसके खिलाफ स्थानीय रीति-रिवाजों और आस्था के नाम पर लोगों की लामबंदी करते हैं और आंदोलन की राह पकड़ते हैं। ऐसे लोग पारिस्थितिक नागरिक होने का आदर्श हमारे सामने रखते हैं। साथ ही ये लोग अपने क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भागीदारी के लिए तथाकथित मुख्यधारा के समक्ष कई अनुत्तरित प्रश्न रखते हैं। वे पारिस्थितिक शरणार्थी बनने की नियति के विपक्ष में खड़े होते हैं। पहाड़ों पर चल रहे अवैध निर्माण और परंपरागत भवन निर्माण का पारिस्थितिकी पर प्रभाव भी यह कहानी खूबसूरती से लक्षित करती है। हरनोट की 'गाली' कहानी ग्राम के साझे तालाब के जल संसाधन को नष्ट कर वहाँ की जमीन हड़पने में लगी शक्तियों के खिलाफ मोर्चा खोलती है। इसके अलावा इस कहानी में रेत के अवैध उत्खनन के साथ भू-स्खलन की समस्या की ओर भी संकेत किया गया है। पहाड़ों पर पानी की समस्या जगजाहिर है, उस पर यदि भू-स्खलन की संघातिक मार भी वहाँ के लोगों पर पड़ने लगे तो उनका आक्रोश बढ़ेगा ही। हरनोट की 'लिटन ब्लॉक गिर रहा है' शीर्षक कहानी में भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर वन भूमि पर हो रहे अवैध कब्जे और वृक्षों की कटाई के मसले को भी उठाया गया है। इसके अलावा यह कहानी भू-माफिया द्वारा भूमि पर हो रहे अवैध कब्जे को भी एक समस्या के रूप में दिखाती है। उक्त कहानी में वन भूमि पर मनुष्य के बढ़ते कदम और वन्य जीवन पर उसके प्रभाव को भी सहज ही समझाया गया है। हम यह जानते हैं कि वन-भूमि पर मानव की पड़ी लोलुप दृष्टि ने वन्य जीवों के साथ मानव की टकराहटों को बढ़ा दिया। इसके साथ लिटन ब्लॉक का गिरना अपने

आप में भी सांकेतिक है। वायसराय लार्ड लिटन ने भारत में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के हाथ से शक्ति स्थानांतरित कर 'ब्रिटिश साम्राज्य' (क्वीन) विक्टोरिया के हाथों में उसे सौंप दिया था। इस प्रकार वह एक व्यवस्था के अंत और दूसरी व्यवस्था के प्रारंभ का नायक था। कुछ ऐसा ही इस कहानी में दिखता है कि आज मानव मूल्य ही लिटन ब्लॉक की तरह गिर रहे हैं। मानव समाज के समुचित विकास के लिए उचित व्यवस्था की जगह लोभ-लाभ-प्रेरित व्यवस्था ने ले ली है। हरनोट की 'माएं' कहानी मानव एवं मानवेतर में मधुर संबंध को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। इसके अलावा उनकी 'जूजू' कहानी मानव समाज द्वारा मानव-प्रसव से संबद्ध खिलवाड़ के प्रति चिंता व्यक्त करती है।

युवा कथाकार जयश्री राय की कहानी 'खारा पानी' में सामुद्रिक पारिस्थितिकी के संकट को समझाने की चेष्टा की गई है। इस कहानी में खनिज तेल का भंडार ले जा रहे जहाज को दुर्घटनाग्रस्त होते दिखाया गया है। उसका तेल समुद्र सतह पर फैल जाता है और उस कारण समुद्री जीवन पर संकट घिर आता है। इसी के साथ अपनी आजीविका के लिए समुद्र पर निर्भर मछुआरों का जीवन भी संकटग्रस्त हो जाता है। इसके अलावा आशा पांडेय की भी 'खारा पानी' शीर्षक कहानी में जल संकट और दलित समस्या को एक प्रश्न के रूप में उठाया गया है। कथाकार मनोज कुमार पांडेय की 'पानी' शीर्षक कहानी एक गाँव के भू-जल स्तर के एकदम नीचे चले जाने के साथ ही जल संकट की तरफ भी हमें ले जाती है। इसमें गाँव के सार्वजनिक तालाब का पानी एक ताकतवर आदमी (मगन ठाकुर) के द्वारा उलीच दिया जाता है और बदले में मशीनी जलापूर्ति होने लगती है। तालाब की मछलियाँ-मेढ़क बेमौत मर जाते हैं। इस प्रकार यह कहानी जल के प्राकृतिक संसाधन से विक्रय के लिए बने माल में तब्दील हो जाने के दंश को दिखलाती है। इसके साथ ही परिश्रम के सौंदर्यशास्त्र के अवमूल्यित होने के संकट को भी यह कहानी संजीदगी से दर्शाती है। उक्त कहानी में है एक गाँव, जो महात्मा गांधी के स्वावलंबन की राह से भटक कर अपनी सर्जनात्मकता को खो बैठता

है। इन बातों का परिणाम होता है प्राकृतिक असंतुलन और आबोहवा का संघातिक परिवर्तन। एक गाँव जिसकी पारिस्थितिकी आदर्श थी, वह अतिवृष्टि या अनावृष्टि की मार झेलने लगता है। वहाँ के लोग पानी के कारण मर-मरकर जीने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

पद्मा शर्मा की कहानी 'जल समाधि' 'मिनरल वाटर' की फैक्टरी के इर्द-गिर्द बुनी गई है। उक्त कहानी में कथाकार यह दिखाना चाहती हैं कि कैसे शक्तिशाली वर्ग नदी का जल ही नहीं, बल्कि उसके किनारे रह रहे लोगों की जमीन भी हड़प लेना चाहता है। कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' मानव और मानवेतर (बैल) के अनुराग भरे संबंधों की साक्षी बनती है। इसे पढ़ते हुए अनायास ही प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' की याद हो आती है। इसके अलावा कैलाश बनवासी की ही एक और कहानी 'एक गाँव फुलझर' में एक खूबसूरत गाँव का चित्र उभरता है, जिसकी जमीन पर भूमि लोलुप लोगों की कुदृष्टि पड़ जाती है। उस गाँव को प्लास्टिक फैक्टरी की नजर लग जाती है। इस प्रकार वहाँ पारिस्थितिक संकट पैदा होता है।

गौरीनाथ हमारे समय के एक महत्वपूर्ण कथाकार हैं। 'महागिद्ध' कहानी में गौरीनाथ ने हमारे समाज के महागिद्धों की तरफ इशारा किया है। उक्त कहानी में व्यवस्था की मार खाते आदमी का चित्र उभरता है। यह वह आदमी है जो भ्रष्टाचार से त्रस्त है। अपने यहाँ बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनती हैं, विकास होता है फाइलों में और सिंचाई के लिए नहरें फाइलों से कभी बाहर नहीं आ पातीं। "नहर में पानी कभी नहीं आया है। पूरे बीस वर्ष में कभी नहीं। हाँ, सरकारी खाते में लाखों के व्यय से बनी इस नहर की सफाई और मरम्मत अब भी प्रतिवर्ष होती है। कभी किसी ठीकेदार की मोटरगाड़ी झुलसाती दोपहरी में एक बार दौड़ जाती है। मगर तपती बालुका-राशि पर किसी पदाधिकारी के पाँव नहीं उतरते।इंजीनियर-ओवरसियर रूप पर नजर दौड़ाकर रिपोर्ट दे देते। सिंचाई विभाग के तहसीलदार अमीन आफिस में बैठे सिंचाई-पर्चा किसानों तक भेज देते। अब किसान उन खेतों के पटवन माफ करवाने के लिए कार्यालय के चक्कर

लगाते रहते, जिन खेतों की सिंचाई की बात तो दूर रही, किनारे वाली नहर ने आज तक पानी नहीं देखा है।" कहना न होगा कि यह पतन की पराकाष्ठा है। दूसरी ओर मुर्दा जानवरों की अवैध खरीद-बिक्री करने वाले छोटे उद्यमियों का हाल भी यह कहानी हमें दिखाती है- 'चुप बे! अभी कौन आराम से मेवे-पुलाव खाते हो? इसमें भी तो बड़े होटल वाले ही लाभ कमाते हैं। हमें तो उचित मजदूरी भी नहीं मिलती है।' हम यह देख पाते हैं कि अपने लाभ के लिए कैसे बड़े-बड़े प्रतिष्ठान घोटाले करते हैं एवं लोगों की जिंदगी से खेलते हैं। ये लोग आम आदमी की जिंदगी के लिए प्रकृति सुलभ संसाधनों को भी लूट का सामान बना देते हैं।

कथाकार मृदुला गर्ग की कहानी 'इक्कीसवीं सदी का पेड़' में मानव के उपभोक्ता बनने की दुर्घटना का संकेत मिलता है। मनुष्य की उपभोक्तावादी सोच ने मानव संस्कृति का विनाश तो किया ही प्रकृति को भी प्रदूषित किया। लेखिका ने यह बताने की चेष्टा की है कि प्रकृति के प्रदूषण का कारक है मानव-मन का प्रदूषण। यह व्यक्ति मन का प्रदूषण उसके लालच से पैदा होता है। ऐसे में महात्मा गाँधी याद आते हैं, जिन्होंने बहुत सही कहा था कि प्रकृति के पास मानव की आवश्यकता का समाधान तो है, परंतु वह उसके लालच का निवारण नहीं कर सकती है। जब हम दूसरों के अधिकार को भी लालच के कारण छीनने लगते हैं, तो मानव और मानवेतर दोनों समान रूप से विरोधी प्रतिक्रिया देते हैं। कथाकार संजीव की 'हत्यारे' शीर्षक कहानी में कोयला उत्खनन के लिए नदी की गति और पथ बदलने का प्रयास दिखाया गया है, जिसका परिणाम संघातिक होता है। उक्त कहानी में जल, जंगल एवं जमीन से पृथक् किए जा रहे व्यक्ति के कष्ट के साथ प्रकृति के शोषण-दोहन की समस्या को एक सवाल के रूप में दर्शाया गया है। कहना न होगा कि यह कहानी उपभोक्तावादी संस्कृति के पारिस्थितिकी पर पड़ते घातक प्रभाव को बखूबी चिन्हित करती है। राजेश जोशी की कहानी 'कपिल का पेड़' में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की झलक मिलती है। इसमें स्त्री और पेड़ में समानता दिखाते हुए उनके शोषण की तरफ कथाकार संकेत करता है। स्वयं प्रकाश की कहानी

‘बली’ में पशु-पक्षियों को मारने की घटना का जिक्र आता है और इस संदर्भ में कथाकार की पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ने की चिंता भी दिखाई पड़ती है। क्षमा शर्मा की कहानी ‘सेमल का पेड़’ में भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद की झलक मिलती है। इसमें भी ‘कपिल के पेड़’ की थीम को विस्तार दिया गया है।

सभ्यताओं ने अपनी आँखें नदियों के किनारे खोलीं। इस सृष्टि ने अपने प्रत्येक घटक के लिए स्वयं में कोई-न-कोई व्यवस्था कर रखी है। वे सभी अपनी मर्यादाओं को मानवेतर होते हुए भी जानते हैं। प्रकृति स्वयं उनका नियंत्रण करती है। मानव इस मामले में अपवाद है। वह अपनी सीमा-रेखा बार-बार अतिक्रमित करता है। इस पूरे प्रकरण को वह लोभ की जगह विकास के रूप में व्याख्यायित करता है। दिलचस्प बात यह है कि विकास की कोई स्पष्ट एवं पारदर्शी अवधारणा ही अब तक न बन सकी है। आज तक विकास की समवेशी और टिकाऊ अवधारणा का अता-पता नहीं है। विकास के नाम पर धन-लोलुपता का गणित सबको समझा दिया गया है। मानव की ‘अतिरिक्त’ की चाह ने सृष्टि पर खतरे पैदा कर दिए हैं। हमने देखा है कि ढेर सारी

परियोजनाओं, निर्माण कार्य की असंगत पद्धतियों, वन-भूमि पर अनधिकृत कब्जे, पेड़-पौधों को काटने, वन्य जीवन को क्षति पहुँचाने, विकिरण के दुष्प्रभाव, खतरनाक हथियारों की आमद आदि ने हमारी पारिस्थितिकी को बुरी तरह नुकसान पहुँचाया है। प्रकृति समय-समय पर अब इसकी संघातिक प्रतिक्रिया भी दे रही है। जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, विकिरण के दुष्प्रभाव, मृदा के साथ किए गए खिलवाड़ ने आज हमको आपदा प्रबंधन के लिए बाध्य किया है। यह दिलचस्प है कि अब आपदा को भी हम ‘मैनेज’ करने की जुगत भिड़ाते रहते हैं। गौरतलब है कि सृष्टि में सारी सत्ताएँ ‘मैनेज’ नहीं होतीं। हिंदी कहानी का स्वर प्रतिरोध का रहा है। वह इस मामले में बंचितों के साथ खड़ी है। उसका स्वर पूंजी तथा बाजार के वैश्वीकरण के प्रतिपक्ष का स्वर है। वह मानव, मानवता एवं सुसंस्कृति की पहरा है। इस मामले में वह स्त्री तथा आदिवासी समाज की तरह पारिस्थितिकी की संरक्षक है। वह अपने पर्यावरण को ‘कमोडिटी’ बनाने वालों के प्रतिपक्ष में खड़ी है। इस संदर्भ में वह प्राचीन काल से ही अपनी सजगता दर्ज कराती रही है।

संपर्क:

अध्यक्ष एवं एसोशिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय,
राजा राममोहनपुर, डाक घर- एन.बी.यू., शिवमंदिर, सिलीगुड़ी,
जिला- दार्जिलिंग, प.बंगाल-७३४०१३ मो.०९८३२३१६७७३
ई-मेल-sunil_nbu@yahoo.com

राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है'

दिविक रमेश

कहानी का प्रारम्भ, कहानीकार टिप्पणीकार के रूप में करता है जिसका स्रोत प्रेमचन्द के कहानी लेखन में ढूंढ़ा जा सकता है। मानो टिप्पणी रूपी डुगडुगी बजाकर लेखक पाठकों का ध्यान खींच कर बताना चाहता हो कि आओ आओ कहानी सुनाने वाला आया है। कहानीकार सावधान करना चाहता है कि भले ही इस कहानी के दो पात्र 'लक्ष्मी' और 'गोविन्द' क्यों न हों पर यह कहानी लक्ष्मी और विष्णु की न होकर मानव-पात्रों की है। यूँ यह टिप्पणी भर्ती की ही लगती है; इससे किसी उद्देश्य की पूर्ति होती हो, ऐसा लगता नहीं। बस एक चमत्कार भर सा सृजित होकर बुझ जाता है। निबन्ध की शैली में लेखक ने प्रारम्भ में ही कहानी का सारांश भी दे दिया है- (कहानी) 'लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी कैद से छूटना चाहती है।' इससे भ्रम हो सकता है कि पहले विषय सोच लिया गया होगा, फिर कहानी गढ़ी गई होगी। खैर। कहानी यूँ है...

गोविन्द किवाड़ पर खट-खट की आवाज के साथ एक मानवीय आवाज सुनता है- 'मुझे निकालो, मुझे निकालो!' वह घबरा कर जाग जाता है। नहीं समझ पाता कि आवाज सच थी या भ्रम। असल में वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ सोया था। जब नहीं रहा गया तो जाग कर पत्रिका के उस पृष्ठ को देखने लगा जिस पर पंक्ति थी- 'मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ!' लड़की के पिता लाला रूपाराम को गोविन्द का देर तक पढ़ाई करना पसन्द नहीं था क्योंकि इससे बिजली ज्यादा खर्च होती थी। गोविन्द यह सोचकर कि वह पंक्ति लक्ष्मी ने उसी के लिए लिखी है उसे छुड़ाने के लिए उत्तेजित होता है हालांकि उसने लक्ष्मी को देखा तक नहीं था।

गोविन्द गांव से इन्टर पास करके शहर आया था। अपने ही गांव के लाला रूपाराम की चक्की पर उसे काम मिल गया था। ऊपर की मंजिल में लाला रूपाराम का परिवार रहता था। उस दिन चक्कीवाले हॉल में दिन-भर का हिसाब मिला रहा था तो लाला रूपाराम का सबसे छोटा ९ वर्ष का लड़का रामस्वरूप वहां आया और अपने पास से एक पत्रिका निकाल कर उसे देते हुए बोला- 'मुंशी जी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमें कुछ और पढ़ने को दीजिए।' गोविन्द के लिए 'लक्ष्मी' एक रहस्य ही बनी हुई थी। 'हर पांचवे मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनायी देत था- 'लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है', रुपये लक्ष्मी बीबी के पास है, 'चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना।'

गोविन्द लक्ष्मी को बहाने-बहाने से देखने का बहुत प्रयत्न करता लेकिन घर की बनावट कुछ ऐसी थी कि उसे उसकी झलक मिल ही नहीं पाती थी। वह बेचैन रहता। वह सोचता कि क्या लक्ष्मी उसके बारे में कुछ नहीं सोचती होगी। उसने लक्ष्मी के पास से आई पत्रिका को छूआ।

उसका तन-मन यही सोचकर गुदगुदा उठा कि इस पत्रिका को लक्ष्मी ने अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यही रही होगी...लेटकर पढ़ते हुए हो सकता है, सोचते-सोचते छाती पर भी रखकर सो गयी हो....। पन्ने पलटते हुए उसने पाया कि छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान लगे हुए थे। और इसके बाद उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा... 'मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ...' वह तो चकरा ही गया। दूसरी लाइन थी, 'मुझे यहां से भगा ले चलो...' तीसरी लाइन थी, 'मैं फांसी लगाकर मर जाऊंगी।' यह सब पढ़कर गोविन्द तो घबरा ही गया। वह सोचता है, 'यह लक्ष्मी कौन है? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या? कितनी बड़ी है? कैसी है?' वह मन ही मन कह उठा, लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है? तुम नहीं जानती लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ। मैं कतई इस सौभाग्य के लायक नहीं हूँ। 'सवाल अब भी उसके सामने यही था कि आखिर यह लक्ष्मी है कौन? तभी लाला रूपाराम वहां आ गया जिसे देखकर गोविन्द सोचता है कि जैसे कोई राक्षस आ गया हो। तभी एक घटना घट गई।' भीतर आंगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई भारी चीज़ ऊपर से फेंक दी गयी हो। इसके बाद अन्य कई वस्तुएं भी फेंकी गईं। गोविन्द तो ऐसा तन गया जैसे कहीं आग लग गई हो। तभी चौकीदार ने मुस्कराते हुए बताया कि वह परेशान न हो क्योंकि आज चण्डी चेत गई है। गोविन्द इस प्रकार के अगम्भीर बर्ताव से झुंझला गया। लेकिन उसने पाया कि औरों का व्यवहार भी वैसा ही था। एक ने कहा कि लाला कि 'लड़की पर जिन का साया है।' गोविन्द ने सोचा कि कहीं लाला की किसी लड़की पर कोई देवी तो नहीं आती? उसने यह भी मनाया कि वह लड़की लक्ष्मी न हो। आखिर गोविन्द को पता चलता है कि वह 'लक्ष्मी ही थी और वह अविवाहित थी। उसे चौकीदार से यह भी पता चला कि भले ही वह उसके बारे में कुछ भी न जनता हो लेकिन उसका किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है। उसे यह भी बताया गया कि लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है। लेकिन रिक्शावालों तक से एक-एक

पैसे के लिए लड़ता-झगड़ता है। उसकी आटा पीसने वाली मिल का नाम 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' था जिससे लाला ने बहुत कमाया था। बस कमाया ही था लेकिन भोगा नहीं। चौकीदार ने यह भी बताया कि 'इसके बच्चे हैं चार; बीबी मर गयी, बाकी किसी नातेदार, किसी रिश्तेदार को झांकने नहीं देता, ऊपर तो कोई नौकर भी नहीं है। बस एक मरी-मरायी-सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीबी बताते हैं बस, वही सारी देख भाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। खुद के तीन लड़के और एक लड़की...'।

किसी दूसरे ने बताया कि बड़े दो लड़के साथ नहीं रहते। भेद यह भी खुलता है कि लाला के पास ऐसा खास कुछ नहीं था। आज जो कुछ भी उसके पास है वह उसकी लड़की लक्ष्मी के कारण ही था। लाला के बड़े-बूढ़ों का मानना था कि लड़की उनके खानदान में भगवान होती है। बस लाला ने लड़की के लिए खूब मन्त्रों मांगी और आखिर लड़की पा गया। लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बन कर आयी। चौकीदार ने आगे जोड़ा कि लाला रूपाराम के भाई लाला रोचूराम ने अपनी लड़की गौरी की लोकलाज के कारण उसके प्रेमी से शादी कर दी थी। बस उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उजड़ गया। लाला रोचूराम का सब कुछ मटियामेट हो गया। एक दिन लाला जी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। यह सब देखकर लाला रूपाराम को तो साँप सूँघ गया और उन्होंने लक्ष्मी पर पहरा बैठा दिया। उसे स्कूल से उठा लिया। घर के भीतर न किसी को आने देता है, न जाने देता है। लक्ष्मी खूब रोयी-पीटी; लेकिन इसने उसे स्कूल भेजा ही नहीं। लड़की काफी सुन्दर है। स्कूल में भी अच्छी थी। चौकीदार ने यह भी बताया कि 'उसे (लाला को) यह विश्वास हो गया है कि लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब यह दूसरे की हो जायेगी तो इसका भी एकदम सत्यानाश हो जायगा। इसी डर से न तो किसी को आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नज़र रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज्जत करता है; उसकी हर जिद पूरी करता है लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी

सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह, उन्नीस... साल-पर-साल बीत गये। पहले तो सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और जिद्दी हो गयी थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात-भर पड़ी जोर-जोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगा... गोविन्द के पूछने पर चौकीदार ने बताया कि अब उसकी उम्र पच्चीस-छब्बीस से कम न होगी। लक्ष्मी के लिए सहानुभूति दिखाते हुए चौकीदार ने आगे कहा, 'दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे? दौरे में घण्टे-दो घण्टे वह बिल्कुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है। सारे कपड़े उतार फेंकती है। बिल्कुल नंगी हो जाती है और जाँघें पीट-पीट कर बाप से कहती है, 'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग...!' यह पिटता है, गालियाँ खाता है लेकिन पहले में जरा ढील नहीं होने देता। क्या जिन्दगी है बेचारी की।

गोविन्द का दिल भारी हो गया था। चौकीदार की आँखें नम थीं।

गोविन्द को लक्ष्मी की लिखी पंक्तियाँ याद हो आई थीं। उसके मन में सवाल उठा: "क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?"

कहानी इसी सवाल पर समाप्त हो जाती है। हम देख सकते हैं कि गोविन्द जो कहानी में युवा मध्यवर्गीय युवापीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें आक्रोश तो है लेकिन कुछ कर गुजरने का विद्रोहात्मक जज्बा नहीं है। उसका सवाल भले ही सोचने पर मजबूर करता हो लेकिन उसे नपुंसक और दिशाहीन ही सिद्ध करता है। यह बात अलग है कि शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार का अंत पहले की उस कहानी परम्परा से हट कर है जो लेखकीय समाधान साथ लेकर आती थी। इस प्रकार का अंत, एक प्रकार से पाठकों को कहानी की समाप्ति के बाद भी कहानी में बनाए रखता है। वैसे यदि हम राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व को सामने

रखकर देखें तो भी इस कहानी के गोविन्द का ऐसा ही अंत होना स्वाभाविक था। उन्होंने 'औरों के बहाने' में लिखा भी है कि 'ईमानदार कथा लेखक औरों के यानी पात्रों के बहाने अपनी ही बात कहता है।' इसके साथ ही उन्होंने 'काँटे की बात (न लिखने का कारण)' में भी लिखा है कि "साहित्य यातना यानी संघर्ष की चेतना हो सकती है, खुद संघर्ष नहीं है। वह यथास्थिति का विरोध या उसके प्रति विद्रोह नहीं होता।" राजेन्द्र यादव की कहानियों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि उनके लिए कदाचित्त कहानी के लेखक के अपने जीवन-संदर्भ, उनकी अपनी वैचारिक दृष्टि और रचनात्मक तैयारी उत्तरदायी है। राजेन्द्र यादव शहरों में ही रहे हैं। एक सुशिक्षित मध्यवर्गीय परिवार में उनका जन्म हुआ था। भरे-पूरे संयुक्त परिवार में रहने के कारण उन्हें विभिन्न मानव-चरित्रों को जानने-समझने के अवसर भी मिले। उनका विवाह भी अंतर्जातीय प्रेम विवाह था। अर्थोपार्जन के लिए जीवन में संघर्ष भी किया। पर अपनी सोच के विरुद्ध समझौतों से दूर रहे। इस सबका प्रभाव उनकी रचनाओं में झलकना स्वाभाविक है। अच्छी बात यह है कि राजेन्द्र यादव के स्त्री पात्र अत्याचार को आँख मूँदकर सहन नहीं करते अपितु उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं। युवती सुलभ सहज कामवासना के (अपने अंधविश्वासी और धनलोलुप पिता के कारण) जबरन अभाव से पीड़ित लक्ष्मी का अपने पिता को यह कहना कि 'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग...!', भले ही असहज चमत्कार या अपवाद की श्रेणी की घटना लगती हो लेकिन है नारी का पुरुष के प्रति विरोध का अपूर्व स्वर ही। इस घटना को कहानी का क्लाइमैक्स कहा जा सकता है और लगता है कि इसी के इर्द-गिर्द कहानी का पूरा ताना-बाना बुना गया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के इतिहास में कथाकार राजेन्द्र यादव का स्थान, बावजूद विवादों के, 'नयी कहानी' के एक कहानीकार के रूप में सुनिश्चित माना जाता है। वस्तुतः नए कहानीकारों के रूप में मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव की तिकड़ी प्रसिद्ध रही है जो अपने समय के बड़े आलोचक नामवर सिंह की अवहेलना करते हुए

आगे बढ़े। 'नई कहानी: सफलता और सार्थकता' नामक अपने लेख में नामवर सिंह जी ने लिखा है- 'किसी आलोचक ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा हुआ होता है। यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सच है, उतनी ही वस्तु के बारे में भी। शायद इसीलिए वे प्रायः चक्करदार शिल्प गढ़ने के चक्कर में रहते हैं और उनकी भाषा की पेचीदगी भी संभवतः इसी का परिणाम है। 'खेल खिलौने' से लेकर 'जहां लक्ष्मी कैद है' तक में इसी पेचीदगी और उलझन को देखा जा सकता है।...जो कुछ हाथ लग जाए या दृष्टि में पड़ जाए वह सब सार्थक नहीं है। हर घटना में अंतर्विरोध को लक्षित करना एक बात है लेकिन युग के मुख्य अंतर्विरोध के प्रवाह में सार्थक घटनाओं को लक्षित करना बिल्कुल दूसरी बात है।' नामवर जी ने यह भी लिखा है, "मोहन राकेश ने स्वीकार किया है कि हमारी पीढ़ी ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को अपनी रचनाओं में अधिक स्थान दिया है, समूची पीढ़ी के लिए तो सही नहीं है लेकिन कई कहानीकारों पर ठीक बैठता है।" यूराजेन्द्र यादव ने भी स्वीकार किया है कि "अपनी ही बात या अनुभव को अभिव्यक्ति देने के प्रभावशाली कोण की तलाश में ही मैंने कहानियां लिखी हैं।" (हिंदी संघ समाचार, मार्च-अप्रैल-मई-२०१४)।

हम 'जहां लक्ष्मी कैद है' के शिल्प पर गौर करें तो लेखन ने कहीं लोककथा शैली का उपयोग किया है तो कहीं पात्रों- खासकर गोविन्द की मनःस्थिति को सामने लाने के लिए उसकी हरकतों, उसके मस्तिष्क में चलने वाली उठा-पटक को विस्तार (कहीं-कहीं तो अत्यधिक विस्तार) से प्रस्तुत किया है। कुछ पाठकों को लग सकता है कि इस कारण कई बार कहानी के प्रवाह में बाधा उत्पन्न हुई है। असल में ऐसे स्थल रहस्य गढ़ने के नाम पर फालतू वर्णनों से बोझिल हो उठते हैं। कुछ वर्णन अटपटे भी लग सकते हैं, जैसे- 'वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकारने लगता जैसे किसी दस मंजिले मकान से नीचे झांक रहा हो।' कहीं तो भाषा का स्तर भी (पात्रानुकूल कहे जाने, और ऐक्टराना अंदाज कहे जाने के बावजूद) काफी

सस्ता लग सकता है जिससे कहानी की गम्भीरता चटक कर रह जाती है, जैसे प्रमुख पात्र गोविन्द का यह संवाद, 'अरे लक्ष्मी जालिम, एक झलक तो दिखा देती...' अथवा इस संवाद की भाषा देखिए और मिला कर देखिए उस समय के निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी आदि कहानीकारों की भाषा से- "हाय, लक्ष्मी ही न हो।" १९९६ में लिए गए एक साक्षात्कार के अनुसार, डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में कहा जाए तो, 'अगर समग्र साहित्य का मूल्यांकन करें तो निश्चय ही निर्मल वर्मा की कहानियों में भाषा की जो संवेदनशीलता है, वह उन्हें काफी बड़ा कहानीकार साबित करेगी। उनकी सौन्दर्यानुभूति, अंदाज, बात कहने का ढंग, कहानी की तराश.. भाषा की बारीक से बारीक अनुगूँजों का इस्तेमाल ..मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव यहां उनके आगे नहीं ठहरते, यह तय बात है।' फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इस कहानी में अनेक ऐसे स्थल हैं जहां परिवेश और अपवाद स्वरूप आए अंतर्द्वंद्व को उभारने में भाषा सार्थक सिद्ध हुई है।

कहानी में प्रायः वर्णन हावी है। राजेन्द्र यादव ने अपने ऊपर लगे अति शिल्पाग्रही होने के आरोप का भी जवाब दिया है। उनका कहना है कि 'पूरे सिलसिले को देखे बिना कई लोगों ने शिल्पवादी या न जाने क्या-क्या आरोप लगाए हैं, अपने भीतर के नाटक को दर्शक की तरह देखता, उसी में हिस्सा लेता या खोया हुआ आदमी हो सकता है बहुत पारदर्शी न हो, लेकिन मुझे लगता है अपने लेखन के साथ ही मेरे संबंध बहुत सीधे और उदार रहे हैं, शायद मेरे लिए कहानियां नहीं, उनके पीछे और आसपास के अनुभव के क्षण ही अधिक प्रिय हैं।' वस्तुतः अपने आलोचक के रूप में इन्होंने देवीशंकर अवस्थी में संभावनाएं तलाशनी चाही लेकिन दुर्भाग्य से डॉ. अवस्थी का दुर्घटनावश असमय निधन हो गया। देवीशंकर अवस्थी ने 'नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति' में लिखा है, 'कहानी में प्रतीक का उपयोग हो सकता है लेकिन वे रहस्यपूर्ण न होकर अर्थ के विस्तार के लिए होते हैं। अनुभव की वास्तविकता को अधिक से अधिक घटित करने के लिए।' सच कहा जाए तो इन कहानीकारों ने

अपनी राह खुद बनाते हुए अपना स्थान बनाया है जो उल्लेखनीय है। उल्लेखनीय यह भी है कि नई कहानी की उपज प्रायः महानगर और कस्बों से हुई है। यही कारण है कि इस आंदोलन से उपजी कहानियां महानगरी और कस्बाई संवेदनाओं से भरी पूरी हैं।

यू तो राजेन्द्र यादव की सवा सौ से अधिक कहानियों में से अनेक कहानियां चर्चित हैं लेकिन 'जहां लक्ष्मी कैद है' का स्थान उनकी सर्वाधिक चर्चित और महत्त्वपूर्ण कहानियों में माना गया है। इस कहानी को उनके द्वारा कहानी को एक मोड़ देने के रूप में भी देखा गया है। 'जहां लक्ष्मी कैद है' की 'लक्ष्मी' जवान बेटा है और साथ ही धनधान्य, शुभ-लाभ की दात्री भी समझी जाती है, इसीलिए व्यापारी पिता उसे किसी भी कीमत पर नहीं खोना चाहता। उसे लगभग कैद करके रखता है। जबकि बेटा (लड़की) लक्ष्मी अपनी वैयक्तिक अस्मिता, नारी जनित दैहिक आवश्यकता और मुक्ति के लिए चीखती रह जाती है। यादव का कहानी संग्रह 'जहां लक्ष्मी कैद है' पहली बार १९५७ में प्रकाशित हुआ था। इससे पहले उनके तीन और संग्रह प्रकाशित हो चुके थे जिनके नाम हैं- 'रेखाएं, लहरें और परछाइयां' (१९४९), 'देवताओं की मूर्तियां' (१९५२) तथा 'खेल-खिलौने' (१९५४)। यदि 'जहां लक्ष्मी कैद है' कहानी के बारे में संक्षेप में कहा जाए तो, उपरी तौर पर, जैसा पहले भी संकेत दिया गया है, यह कहानी एक जवान लड़की 'लक्ष्मी' की है जो अपने ही व्यापारी पिता की कैद में है और कैद से छूटने के लिए तत्पर है। हालांकि यह कहानी नयी कहानी के एक प्रिय सरोकार 'स्त्री-पुरुष' सम्बंधों के दायरे में कही जा सकती है (और यहां बता दिया जाए कि इस दौर में निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा जैसे अनेक कहानीकारों ने स्त्री-पुरुष सम्बंधों की अपनी कहानियों में मीमांसा की है) लेकिन इसके विषय का फैलाव इसे कुछ अलग विशेषताओं से भी मंडित किए हुए है। एक ही कहानी में जहां एक ओर युवती की उसकी सहज यौन-आवश्यकता के दमन से उपजी उसकी असहज और बेचैन मानसिकता का चित्रण है और जो कहानी का प्रमुख सरोकार

भी है तो दूसरी ओर एक मध्यवर्गीय युवक की समझौतावादी प्रवृत्ति का चित्रण है। कहानी का एक तीसरा आयाम भी है जिसमें युवती के धनी लेकिन कंजूस पिता की अपने धन के प्रति आसक्ति के एक ऐसे चरम रूप का भी चित्रण है जो अंधविश्वास की बुनियाद पर न केवल टिका है बल्कि पिता की अमानवीय छवि का भी द्योतक है। इस तीसरे आयाम के आधार पर, थोड़ा खींचकर, हम यह भी कह सकते हैं कि लक्ष्मी पूंजीवादी व्यवस्था में नारी की शोषित स्थिति का प्रतिनिधित्व भी करती है। इसी आयाम में समाज में मिलने वाले आसपास के अधिकतर तमासबीनों का भी चित्रण है।

यह कहानी अनेक अर्थ-स्तरों पर चलती है। यहां टूटते हुए मानवीय मूल्यों का यथार्थ भी है और बदले हुए सामाजिक परिवेश में नैतिकता की उड़ती धज्जियां भी हैं। और सबके बीच से सहज उभरती हुई एक विचार दृष्टि भी है जो प्रगतिशीलता की बुनियाद से जन्मी है। अपने कथ्य में भले ही यह कहानी असाधारण (और कभी-कभी गद्दी हुई, अविश्वसनीय और चौंकाने वाली भी) प्रतीत होती हो लेकिन प्रभाव के स्तर पर हमारे आसपास व्याप्त कुछ साधारण प्रतीतियों को भी उजागर करती चलती है। अपने अंत की दृष्टि से भी यह कहानी पहले की समाधान-प्रिय और एक पंथगामी कहानियों की राह से हटकर है क्योंकि यह पाठक को एक प्रश्न के साथ छोड़ देती है, उसकी बुद्धि में विश्वास रखते हुए। वस्तुतः यह कहानी निजी और सामूहिक मानव-मनोविज्ञान की पटरियों पर साथ-साथ चलती है। पहले की कहानियों की तरह मात्र किसी एक पटरी पर नहीं। दूसरे शब्दों में कहूं तो राजेन्द्र यादव की अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी एक ओर व्यक्तिगत स्तर पर मानसिक भीतरी संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है तो दूसरी ओर परिवेश का अपना यथार्थ, अपनी विडम्बना और जटिलता भी प्रस्तुत हुई है। अतः कथानक में बुनी गई महीन-महीन 'डीटेल्स' (विवरण) कहानी के प्रायः अनिवार्य अंग के रूप में भी कहे जा सकते हैं।

कहा गया है कि राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानियों के माध्यम से; अन्य नये कहानीकारों के साथ स्थिर हो चुकी रूपात्मकता को तोड़ा है, नया शिल्प दिया है लेकिन कथा-

प्रयोग की दृष्टि से उनका स्थान सर्वोपरि है। 'राजेन्द्र यादव: प्रतिनिधि कहानियाँ' की भूमिका में, मोहन गुप्त ने लिखा है, 'जीवन के छोटे-से-छोटे प्रसंग में निहित अन्तर्विरोध को उजागर करने की चेष्टा में रूपात्मकता के पुराने ढाँचे को तोड़कर शिल्प के जितने नये प्रयोग उन्होंने किये हैं उतने शायद ही किसी और कहानीकार ने किये हों।' निःसंदेह राजेन्द्र यादव की कहानियों का विषयगत फलक काफी विस्तृत है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक स्तर पर होने वाले परिवर्तन तथा मोहभंग की स्थितियों को उपस्थित किया है, लेकिन व्यक्ति चरित्र पर उनकी निगाह पैनी रही है। हर वर्ग से पात्र लिए हैं। नारी की अस्मिता और पुरुष की खोखली सोच पर उन्होंने निरन्तर प्रहार किया है। उनके कहानी-लेखन के मर्म को जानने के लिए यह भी जानना होगा कि वे मानते थे कि उनका लेखन यथार्थ पर टिका है। यथार्थ-बोध के संबंध में उनकी मान्यता है कि 'जो कुछ हमारे संवेदन के वृत्त में आ गया है, वही हमारा यथार्थ है...लेकिन इस यथार्थ को कलात्मक और प्रामाणिक रूप से सम्प्रेषणीय बनाने के लिए जरूरी है कि हम इसे अपने से हटकर या उठकर देख सकें, उसे माध्यम की तरह इस्तेमाल कर सकें।'

यूँ तो राजेन्द्र यादव के पूरे कथा साहित्य और चिन्तनपरक लेखों में आज की नारी को सही आवाज देने का प्रयत्न मिलता है लेकिन उनकी अनेक कहानियाँ हैं जिनमें विशेष रूप से स्त्री पात्रों का प्रमुख अस्तित्व है। पुरुष प्रधान संस्कृति में नारी की सत्ता को नकारने वाले प्रपंच और उनसे उपजी समस्याओं पर निगाह डालने वाले कहानीकारों में उनका स्थान काफी ऊँचा है। इस दृष्टि से 'जहां लक्ष्मी कैद है' के साथ-साथ उनकी अन्य कहानियों जैसे 'प्रतीक्षा', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'एक कटी हुई कहानी', 'लौटते हुए', 'खुले पंख:टूटे डैने', 'अनुपस्थित संबोधन', 'खेल-खिलौने', 'लकड़हारा', 'चंदा का देश' आदि कितनी ही कहानियों को पढ़ा जा सकता है और देखा जा सकता है कि

यादव जी ने नारी के जीवन से सम्बद्ध कितने ही प्रामाणिक पहलुओं पर गहरी दृष्टि डालते हुए नारी के पराधीन अस्तित्व से मुक्त होने की छटपटाहट को रेखांकित किया है। उनकी कहानियों में नारी के विविध रूप मिलते हैं। एक आकलन के अनुसार अकेलापन, संत्रास, अजनबीपन से व्यथित नारी, विवाह पूर्व प्रेम से डरती नारी की विवशता तथा सच्चाई से भागने की कोशिश, उन्मुक्त, स्वच्छंद नारी, परित्यक्ता नारी की अंतर्व्यथा, विधवा नारी की छटपटाहट, अंधविश्वास के कटघरे में नारी की स्थिति, अस्वीकृत प्रेम से विकल नारी, अर्थलोलुप पति के गिरफ्त में नारी, संलैंगिक संबंध, भगनाशा की शिकार नारी आदि रूपों को यादव जी ने नारी के संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया है। वाणी प्रकाशन से प्रकाशित, 'कांटे की बात' (भाग तीन) में उन्होंने अपनी दृष्टि का परिचय देते हुए लिखा है- 'भारतीय समाज में न नारी का अपना कोई व्यक्तित्व रहा है न जाति। वह ऐसा रत्न है जिसे कहीं से भी उठाया जा सकता है और जिसके पास है उसकी संपत्ति है। वह व्यक्ति नहीं चीज़ है जिसे लूटा, छीना और नष्ट किया जा सकता है, खरीदा और बेचा जा सकता है।' उनका यह कथन 'लक्ष्मी' पर भी लागू होता है। जहां तक 'जहां लक्ष्मी कैद है' की लक्ष्मी का प्रश्न है, उसमें, जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, विद्रोह का स्वर तो है लेकिन विडम्बना यह है कि उसे 'पुरुष' (रूपालाल) के शोषण से अपनी मुक्ति का मार्ग 'पुरुष' (गोविन्द) से होकर ही नजर आता है। अतः इस कहानी का 'नारी विमर्श' गड़बड़ लगने लगता है।

साफ है कि लेखक के पास यथास्थिति (अनुभव विशेष) के लिए तो शब्दों का भण्डार है लेकिन स्पष्ट 'दृष्टि' के अभाव में यथास्थिति को तहस-नहस करने विद्रोहात्मक स्वर भी अपने अपेक्षित रूप में नहीं है। हां, इस कहानी को हम बदले समाज में रिश्तों की जटिलता, स्वहित तक सीमित व्यक्ति की अमानवीयता और पीड़ित तक के संदर्भ में निरपेक्ष सी दिखने वाली प्रवृत्ति को समझने की दृष्टि से अवश्य एक महत्वपूर्ण कहानी कह सकते हैं।

संपर्क: एल-१२०२, ग्रेड अजनारा हेरिटेज, सेक्टर-७४, नोएडा-२०१३०१, मोबाइल-९९१०७७०९९

‘चीफ़ की दावत’: आधुनिकता या उत्तरआधुनिकता ?

डॉ. रीता सिन्हा

‘चीफ़ की दावत’ कहानी में शामनाथ की उपभोक्तावादी और बाज़ारवादी मानसिकता से मानवता के अवमूल्यन की जिस विडंबना की सृष्टि होती है, उससे कई तरह की प्रश्नाकुलता हमारे सामने आती है। यह भी प्रश्न उठता है कि क्या उस समय तक भारत जैसे देशों में उत्तरआधुनिकता का प्रवेश हो चुका था? शामनाथ अपनी माँ की ममता, संवेदनात्मक तरलता, पीड़ा और बेबसी को देखना नहीं चाहता, क्योंकि उसकी दृष्टि में उसकी माँ फालतू सामान से अधिक कुछ नहीं है। शामनाथ का उद्देश्य है- अपने अमेरिकी चीफ़ को प्रसन्न करके अपनी तरक्की को पक्की करना। इसके लिए वह अपनी बूढ़ी, अशक्त, विवश और दुखी माँ के दोहन और शोषण में भी संकोच नहीं करता। ‘चीफ़ की दावत’ कहानी वृद्धों के जीवन के जिस उत्पीड़न और शोषण को सामने लाता है, उसमें उपभोक्तावाद की ‘यूज़ एवं थ्रो’ की मानसिकता ही प्रबल है।

‘चीफ़ की दावत’ कहानी: नववर्षाक- १९५६ में ‘गदल’, ‘रसप्रिया’, ‘गुलकी बन्नो’, ‘मवाली’, ‘हंसा जाई अकेला’, ‘डिप्टी-कलकटरी’, ‘बादलों के घेरे’ और ‘एक कमज़ोर लड़की की कहानी’ के साथ छपी थी। वह नई कहानी का दौर था, जिसमें आधुनिकता का महत्त्व था। हमारे देश में तब बाज़ारवाद की ‘गिव एंड टेक’ की मानसिकता की जड़ें समाज में फैली नहीं थीं लेकिन पश्चिमी देशों में उत्तरआधुनिकता का संदर्भ खुलने लगा था। कैलाश बाजपेयी के अनुसार- ‘इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले सन् १९२६ में बर्नर्ड इडिंग्स बेल द्वारा Postmodernism and other Essays शीर्षक से प्रकाशित एक चिन्तन प्रधान कृति में हुआ था। करीब चौदह वर्ष बाद इसी बेल ने तमाम तरह की कला शैली और विधाओं के घालमेल से चकराकर इस शब्द का प्रयोग दोबारा फिर किया। सन् १९४८ के बाद से यह शब्द नृत्य शैली, चित्रकला, भवन निर्माण या फिर वास्तुकला, फ़िल्म निर्माण, राजनीति एवं समाजशास्त्र, कविता, कहानी, संगीत आदि सब तरह की विधाओं में तरह-तरह से प्रयुक्त हुआ। इसके तत्त्वों को बादलेयर और मलामें की कविता में तलाशा गया है। सेमुअल बैकेट के नाटक और उपन्यासों में इसकी झलक देखी गई है। मार्टिन हाइडेगर और सार्त्र के चिन्तन में इसे रेखांकित किया गया है।’

आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता के बीच की असमानता में मानवीय बोध और सांस्कृतिक बोध की महत्वपूर्ण भूमिका है। वैसे आधुनिकता के संबंध में भी कई तरह की विरोधी विचारधाराएँ मिलती हैं। डॉ. रघुवंश कहते हैं- ‘परंपरा का विरोध आधुनिकता का लक्षण माना गया है।’ डॉ. बच्चन सिंह भी ‘आधुनिकता और परंपरा का कोई मेल नहीं है’ कहकर डॉ. रघुवंश से अपनी सहमति दिखलाते हैं। लेकिन डॉ. गंगा प्रसाद विमल आधुनिकता के संदर्भ में परंपरा को विरोधी नहीं मानते। वे कहते हैं- ‘मानवीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक ऐसा तत्व बनकर आती है जिसे आधुनिक और आधुनिकता का मूल आधार भी कहा जा सकता है।... जो अभिव्यक्ति आधुनिकता के वैशिष्ट्य से परंपरा के संसर्ग में स्वतंत्रता के चिन्तन और विकास के मानवीय अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता में देखती है, वही सच्चे अर्थों में परंपरा की अगली कड़ी अर्थात् आधुनिक होने की भाववाचकता के रूप में आधुनिक है।’ डॉ. गंगा प्रसाद विमल ने आधुनिकता को

परंपरा के पुनर्मूल्यांकन से जोड़ा है। तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार आधुनिकता में स्वतंत्र चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का महत्व है, जो मानवीय संवेदनाओं से जुड़ा है।

आधुनिकता में परंपरा का विरोध नहीं है, पर उत्तरआधुनिकता की मानसिकता में जीने वाले लोगों में परंपरा के विरोध की प्रवृत्ति है। आधुनिकता में तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय संवेदनाओं की अवहेलना नहीं होती। यह भारतीय संदर्भ में जीवन बोध और जीवनदृष्टि की खोज करती है। पर उत्तरआधुनिकता अमेरिकी संस्कृति के संदर्भ में जीवन के सुख को तलाशने के लिए प्रेरित करती है।

‘चीफ़ की दावत’ कहानी में स्वतंत्र चिन्तन का विरोध दिखता है- ‘शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का संचालन उनके अपने हाथ में था। खूंटियाँ कमरों में कहाँ लगायी जाएँ, बिस्तर कहाँ पर बिछे, किस रंग के परदे लगाये जाएँ, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहने, मेज किस साइज़ की हो...’ सब कुछ शामनाथ के नियंत्रण में था। यहाँ तक कि माँ को चीफ़ की दावत के समय किस रंग के कपड़े पहनने हैं और कुर्सी पर कैसे बैठना है, इसका निर्णय भी शामनाथ ही लेता है।

मकरंद आर. परांजपे कहते हैं- ‘उत्तरआधुनिकता की जो भी संरचना हो परन्तु हमारे संदर्भ में यह मूलतः एक ताकत का प्रश्न है। कौन, किसको, कितना नियंत्रित करता है और किस पर सारा दारोमदार है। यह भी साफ़ है कि पश्चिम के पास वह शक्ति है और हम सभी बचे हुए, उसके नियंत्रण में हैं जैसा कि पहले से होता आया है। उत्तरआधुनिकता इस तरह से बौद्धिक सिद्धांतों की तरह ही पश्चिमी वर्चस्ववाद से प्रेरित है।’ मकरंद आर. परांजपे का उपर्युक्त कथन ‘चीफ़ की दावत’ कहानी के संदर्भ में काफ़ी महत्वपूर्ण है। शामनाथ का बॉस अमेरिकी है, जिसकी शक्ति से शामनाथ जैसे भारतीय कर्मचारी पूरी तरह नियंत्रित हैं। अमेरिकी संस्कृति के केंद्र में मूल्यहीनता और संवेदनहीनता है, जिसे व्यावहारिकता के आवरण में छिपाने की कोशिश की जाती है। अमेरिका अपनी बात मनवाना जानता है पर बात मनवाने के उसके अपने तरीके में बाज़ारवाद का यह सूत्र कि ‘पहले ग्राहकों को अपने

वश में करो’- अहम भूमिका निभाता है। इसमें दो मत नहीं हैं कि कमज़ोर का शोषण पूंजीवाद के केंद्र में है और अमेरिकीकरण का अंधानुकरण अविकसित और विकासशील देशों में विडंबना बनकर मार्मिक स्थितियाँ निर्मित करने लगा है।

‘चीफ़ की दावत’ कहानी में शामनाथ की और पाने की महत्वाकांक्षा इतनी प्रबल है कि वह अपनी माँ के प्रति भी पूरी तरह संवेदनहीन हो जाता है। माँ की अशक्तता, विवशता और दीनता उसे और भी निर्मम बना देती है, जिससे मानवता पर प्रश्न चिह्न लगने लगता है। देर रात तक पार्टी चलने के कारण शामनाथ की माँ अपने बेटे के निर्देशानुसार कुर्सी पर पैर नीचे करके बैठने में असमर्थ हो जाती हैं और वह अपनी नींद पर भी नियंत्रण नहीं रख पाती हैं। कुर्सी की सीट पर दोनों पाँव रखकर सो रही माँ के दाएँ-बाएँ झूलते सिर, उनके गहरे खर्राटे की आवाज़ तथा पल्ला खिसकने के कारण आधे गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त-से बिखर रहे बालों के कारण जो दृश्य सामने आता है उससे शामनाथ को लगता है कि दावत से बॉस को प्रसन्न करने की उसकी सारी तैयारी निरर्थक हो गई। माँ के लिए अपनी संवेदना को जिस तरह उसने अपनी उपभोक्तावादी मानसिकता के नीचे कुचल दी है, उससे उसको यह एहसास नहीं हो पाता कि उसकी बूढ़ी माँ को यहाँ घंटों बैठने में कितना कष्ट हुआ है। उसका माँ के लिए क्रोध उसकी संवेदनहीनता की चरम सीमा है। भीष्म साहनी यहाँ नैरेटर के रूप में कहते हैं- ‘देखते ही शामनाथ क्रुद्ध हो उठे। जी चाहा कि माँ को धक्का देकर उठा दें और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना संभव न था, चीफ़ और बाक़ी मेहमान पास खड़े थे।’

ज्याँ फ्रांस्वा ल्योतार ने द पोस्टमॉडर्न कंडीशन: ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज (१९७९) में कहा था- ‘पोस्टमॉडर्निज़्म इज़ द डिपार्चर फ़्रॉम एनी टोटलाइज़िंग अटैम्प्ट ऑफ़ रीज़निंग फ़्रॉम एनी अल्टीमेट फाउण्डेशन ऑफ़ टूथ।’ उन्होंने यह भी कहा है कि कोई कलाकृति उसी समय आधुनिक हो सकती है जब वह पहले उत्तरआधुनिक हो। इस दृष्टि से देखें तो उत्तरआधुनिकता से तात्पर्य आधुनिकता का अंत नहीं बल्कि

आधुनिकता का आरंभ है और आरंभ की यह स्थिति निरंतर बनी हुई है। डॉ. हरदयाल यह मानते हैं कि उत्तरआधुनिकता की जड़ें इस देश में नहीं हैं और वे कहते हैं कि- 'हमारे विचार में उत्तरआधुनिकता के मूल तत्व हैं- अस्वीकार, विखंडन और अविवेक।' वे यह भी कहते हैं- 'दरअसल उत्तरआधुनिकता की चर्चा उन्हीं लोगों तक सीमित है जिन्हें भारतीय पश्चिमी जगत कहा जा सकता है...।'

'अस्वीकार' यानी परंपरा, संस्कृति, मनुष्यता, नैतिकता, सामाजिकता आदि को नकारने का भाव। इसमें संदेह नहीं है कि 'चीफ की दावत' कहानी में शामनाथ भारतीयता और मानवीय मूल्यों को नकारता है- 'आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियाँ, मेज़, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल, सब बारामदे में पहुँच गये। ड्रिंक का इन्तज़ाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गयी- माँ का क्या होगा।'

माँ का स्मरण और उनका ज़िक्र फालतू सामानों को छिपाने के साथ करने से यह तो साफ़ संकेत मिलता है कि शामनाथ के लिए उसकी माँ भी फालतू सामान की ही तरह है, जिसे कहीं छिपाने की ज़रूरत है। स्पष्ट है कि जिस संस्कृति में कहा गया- 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। शामनाथ उस संस्कृति से अलग पाश्चात्य संस्कृति, दूसरे शब्दों में कहें तो अमेरिकी संस्कृति की खोल में है। माँ को देखकर देशी अफ़सरों की पत्नियों का हँसना, चीफ़ का माँ के लिए 'पूअर डियर' संबोधन और शामनाथ का माँ के प्रति खिसियाहट और क्रोध जिस तरह की विडंबनाओं की सृष्टि करता है, उसमें भारतीय संस्कृति और परंपरा आहत होती है। सच देखा जाए तो 'चीफ़ की दावत' कहानी में शामनाथ की माँ की स्थिति फालतू सामान से भी बदतर है, क्योंकि फालतू सामान को तो एक बार हटाकर या छिपाकर रख दिया जाता है, पर अपनी माँ का शामनाथ किस तरह दोहन करता है, वह देखें- 'और माँ, हम लोग पहले बैठक में

बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बारामदे में बैठना। फिर जब हम यहाँ आ जाएँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना। माँ अवाक् बेटे का चेहरा देखने लगीं। फिर धीरे से बोलीं- अच्छा बेटा। - और माँ, आज जल्दी सो नहीं जाना। तुम्हारे खराटों की आवाज़ दूर तक जाती है...।'

सच्चाई तो यह है कि चीफ़ की दावत के समय की अनुकूलता की प्रश्नाकुलता यहाँ माँ की दारुण जीवन-स्थितियों की चिन्ताकुलता को जिस तरह अनावृत करके नई विडंबनाओं की सृष्टि करती है, वह सिर्फ़ उत्तरआधुनिक समय की मार्मिकता को ही उद्घाटित नहीं करती, अपितु मानवता के हास की भी उद्घोषणा करती है। यहीं पाठ के पुनर्पाठ की गुंजाईश बनती है और प्रगतिशीलता की आड़ में भारतीयता के दोहन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की मानसिकता सामने आ सकती है।

'चीफ़ की दावत' कहानी में शामनाथ की यह चिन्ता नहीं है कि रात में माँ भूखी रहेंगी, दावत के कारण उन्हें तकलीफ़ होगी, बल्कि उसकी चिन्ता यह है कि अगर चीफ़ का साक्षात् माँ से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना पड़े। वह कहता है- 'यह माँ का झमेला ही रहेगा...अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गयी, चीफ़ को बुरा लगा, तो सारा मज़ा जाता रहेगा।' यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि 'आधुनिकता' की मानवता को यहाँ शामनाथ ने पूरी तरह नकार दिया है। उसकी तार्किकता के केंद्र में भी संवेदनहीनता और अमानवीय प्रवृत्ति है जो उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है।

अर्थ का वर्चस्व तो हमेशा रहा है, लेकिन पूँजीवादी संस्कृति में इससे जीवन ही नहीं रिश्ते भी नियंत्रित होने लगे हैं। 'चीफ़ की दावत' कहानी में जब शामनाथ की माँ कहती है कि- 'चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ बेटा, तुम तो जानते हो, सब जेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गये', तो शामनाथ की तिलमिलाहट में कृतघ्नता का जो भाव सामने आता है, उससे मानवता शर्मसार होती है - 'इससे पढ़ाई-वढ़ाई का क्या तअल्लुक है? जो जेवर बिका, तो कुछ बनकर ही आया हूँ, निरा लँडूरी तो नहीं लौट आया। जितना दिया था, उससे दुगुना ले

लेना'। शामनाथ की इस कृतघ्नता में माँ की ममता और उसके त्याग के लिए जो अस्वीकार भाव है, उसमें उत्तरआधुनिक संस्कृति की ही अधिक अनुगूँज है। अपने गहनों से किसी स्त्री के लगाव को नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन अपने पुत्र के लिए उसका मोह सर्वाधिक होता है पर वही पुत्र जब क्रोध और तिलमिलाहट में कहे- 'जितना दिया था, उससे दुगुना ले लेना', तो उसकी बाज़ारवादी मानसिकता की संवेदनहीनता ही सामने आती है।

आधुनिकता के जो आधार थे मानवतावाद, तर्कनिष्ठा, बौद्धिकता, वैज्ञानिकता आदि, उसमें मानवता और विवेक को उत्तरआधुनिकता की उपभोक्तावादी संस्कृति ने पूरी तरह नकार दिया, जिसे हम 'चीफ़ की दावत' कहानी में देख सकते हैं। इस कहानी का पूरा कंटेंट ही भारतीय संस्कृति के 'मातृदेवो भव' की उपेक्षा करता है और माँ को उत्तरआधुनिक दौर के उत्पादन के एक माध्यम के रूप में हमारे सामने लाता है-

- 'तुम चली जाओगी तो, फुलकारी कौन बनायेगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।'

- 'मेरी आँखें अब नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी-बनायी ले लो।'

- 'माँ, तुम मुझे धोखा देकर यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी!' जैसे संवाद न केवल माँ के दोहन को सामने लाते हैं, बल्कि माँ को उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया से जोड़कर लाभ उठाने की बाज़ारवादी मानसिकता की विडंबना को भी दर्शाते हैं।

भीष्म साहनी कहते थे- 'हमारे देश की संस्कृति, मेल-मिलाप की ही संस्कृति रही है। गाँवों, क़स्बों में तो विशेष रूप से। दीपावली के अवसर पर तो परिवार-मिलन एक अनिवार्य शर्त होती है। सभी त्योहारों का आधार ही मेल-मिलाप है, शादी-ग़मी पर उपस्थित होने की अनिवार्यता पर ज़रूरत से ज़्यादा बल दिया जाता है। फिर भी इसके संबंधों से जो अपनेपन की गर्माहट, स्निग्धता मिलती है, उसका कोई मूल्य नहीं।' 'चीफ़ की दावत' कहानी में भी मेल-मिलाप है, लेकिन परिवार से नहीं, उन लोगों से, जिनसे

नौकरी में तरक्की की संभावना है। स्पष्ट है कि जिस संस्कृति में भीष्म साहनी ज़िन्दगी व्यतीत कर रहे थे, इस कहानी में उस संस्कृति से कटने का भाव है- 'मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आँखों से छल-छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछतीं, पर वे बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़कर उमड़ आये हों। माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बन्द कीं, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे'। माँ के न रुकने वाले आँसू अपमान भरे दुख के परिणाम हैं। जगे रहने के बेटे के निर्देश के बावजूद नींद आ जाने की ग्लानि, बॉस से हाथ मिलाने की घबराहट, बेटे के अमेरिकी बॉस की इच्छानुसार और अपनी इच्छा के विरुद्ध लरज़ती आवाज़ में पुराना विवाह-गीत गाना और बेटे द्वारा बॉस के लिए ज़बरदस्ती फुलकारी बनाने का इकरार करवाना आदि का स्मरण उन्हें एहसास दिला रहा था कि बेटे और बहू की ज़िन्दगी में उनका स्थान ऐसी फालतू चीज़ों की तरह है, जिनसे बेटे-बहू की परेशानी बढ़ रही है। वह माँ है, ऐसी माँ जिसने अपने जेवर बेचकर अपने बेटे को पढ़ाया और इस योग्य बनाया कि वह बड़े अफ़सरों के बीच उठने-बैठने के क़ाबिल हो गया, पर यह गर्व और अधिकार भाव बेटे की संवेदनहीनता और दोहन के कारण पूरी तरह ख़त्म हो गया है- 'माँ, दरवाज़ा खोलो'!

माँ का दिल बैठ गया। हड़बड़ाकर उठ बैठी। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गयी है? माँ कितनी देर से अपने-आप को कोस रही थी कि क्यों उन्हें नींद आ गयी, क्यों वह ऊँघने लगी। क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया?... संस्कृति में यहाँ अजीब परिवर्तन है! यहाँ माँ का बेटे से यह डर स्त्री-अस्मिता के प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-उत्पीड़न की त्रासदी को भी सामने लाता है। 'गिव एंड टेक' की संस्कृति तो उत्तरआधुनिक संस्कृति के केंद्र में है ही-

- 'तो तेरी तरक्की होगी, बेटा'?

'तरक्की यूँ ही हो जायेगी? साहब को खुश रखूँगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करने वाले कम थोड़े हैं'।

‘तो बना दूँगी, बेटा जैसे बन पड़ेगा, बना दूँगी’।

‘और माँ दिल-ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनाएँ करने लगीं। और मिस्टर शामनाथ- ‘अब सो जाओ माँ!’ कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गये’।

आज के उत्तरआधुनिक युग में अपने माता-पिता के लिए लोगों की जो संवेदनहीनता, अमानवीयता और उपभोक्तावादी मानसिकता दिखती है, वही ‘चीफ की दावत’ कहानी में भी मार्मिकता की सृष्टि करती है। ‘चीफ की दावत’ कहानी में ‘लाओ और पाओ’ का संभावित एग्रीमेंट केवल बॉस और शामनाथ के बीच नहीं है, बल्कि माँ के साथ भी शामनाथ के एग्रीमेंट का मौन संप्रेषण है। अपनी माँ के आँसू भरे चेहरे की परवाह किये बिना शामनाथ का यह हर्षोद्गार- ‘ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया!...साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ। ओ अम्मी! अम्मी!’- अनायास नहीं है, बल्कि माँ के साथ बॉस के व्यवहार और माँ द्वारा बॉस के लिए फुलकारी बनाने के इकरार में उसे अपना सुनहरा भविष्य दिखने लगा है।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल कहते हैं- आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो उपभोक्ता संस्कृति के जन्म की भी उत्तरदायी है। आगे वे कहते हैं कि जो आधुनिक है, उसकी संवेदना की संवाहक आधुनिकता है। इस दृष्टि से देखें तो ‘चीफ की दावत’ कहानी आधुनिकता के मानवीय भावों और संवेदना से पलायन की कहानी है।

इसमें संदेह नहीं है कि उत्तरआधुनिकता भूमंडलीकरण यानी अमेरिकीकरण की देन है। कुछ विद्वानों द्वारा भूमंडलीकरण के चार चरणों की परिकल्पना की गई है। जैसे- पहला चरण उन्होंने सन् १८५०-१९१४ तक माना है, पर इस समय भूमंडलीकरण की प्रक्रिया काफ़ी धीमी रही।

दूसरे चरण को सन् १९१४-१९५० तक रखा गया। इस समय भी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया सामान्यतः धीमी होने के कारण शीत युद्ध और आर्थिक मंदी की स्थिति बनी रही।

तीसरे चरण यानी सन् १९५१-१९९० तक कई महत्वपूर्ण स्थितियाँ सामने आईं जैसे-

(क) सन् १९५७ में अमेरिका ने यूरोपियन कॉमन मार्केट बनाया।

(ख) ग्लोबल विलेज की अवधारणा सामने आई।

(ग) कंप्यूटरीकृत संचार-तंत्र ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को काफ़ी तेज़ गति प्रदान की।

(घ) उदारवाद, उन्मुक्त बाज़ार आदि से संबंधित नीतियों का निर्धारण हुआ।

भूमंडलीकरण के चौथे चरण को सन् १९९० से आजतक मान लिया गया है।

तात्पर्य यह है कि भूमंडलीकरण का तीसरा चरण ‘चीफ की दावत’ कहानी के प्रकाशन- काल यानी १९५६ तक आरंभ हो चुका था। भीष्म साहनी अंग्रेज़ी साहित्य के प्राध्यापक थे, जिससे यूरोपीय देशों और अमेरिका की गतिविधियों पर उनकी पैनी दृष्टि थी। ‘चीफ की दावत’ कहानी में दावत की तैयारी, माँ को फालतू सामान के रूप में देखकर शामनाथ की खिसियाहट, तरक्की में माँ की महत्वपूर्ण भूमिका देखकर शामनाथ के माँ के प्रति बदले मनोभावों आदि को देखकर लगता है कि अमेरिकीकरण ने भारतीय संस्कृति में घुसकर अपना रंग जमाने की सफल कोशिश की है। शामनाथ की उपभोक्तावादी मानसिकता और अमेरिकीकरण के लिए शामनाथ का आकर्षण उसे अपनी माँ के लिए औद्योगिक संवेदनहीन बनाये रखता है। कहानी के अंत में शामनाथ का यह कहना- ‘अब सो जाओ माँ!’ उसके इस भाव की ही विडंबना को सामने लाता है कि जिस माँ को वह फालतू सामान की तरह मानता रहा, वह उसके लिए उपयोगी ही नहीं, उसकी तरक्की के लिए सीढ़ी भी है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि ‘चीफ की दावत’ अपने समय के आगे के विचारों और विचारधाराओं की कहानी है। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह आज के दौर की वृद्ध-जीवन की विडंबनाओं, मूल्यहीनता और सांस्कृतिक संक्रमण की कहानी है।

संपर्क: हिंदी विभाग, वर्द्धमान विश्वविद्यालय, पश्चिम बंगाल-७१३१०४, मोबाइल-९८१८३६३४६५

ममता कालिया की कहानियों में मानवीय संबंध

गायत्री के.

साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, अतः मानवीय संबंधों से उसका सरोकार बहुत स्वाभाविक है। मनुष्य से जुड़ी जमीनी सच्चाइयों को साहित्य के जरिये प्रस्तुत किया जाता है। साहित्यकार खुद की ही नहीं बल्कि अपने समय और समाज की जिन्दगी भी जीते हैं। कहानीकार मानवीय संबंधों के चित्रण करके मानव में मानवीय मूल्यों को जगाने का परिश्रम करता है। मानवीय संबंधों के विषय में विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि बदलते परिवेश और परिस्थितियों के साथ-साथ मानवीय संबंधों पर भी बदलाव नजर आते हैं।

ममता जी की कहानियों में सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्याओं की अभिव्यक्ति हुई है। महिला लेखक मानवीय संबंधों को अधिक महत्व देती हैं। लेखिकाएँ समाज के परिचित यथार्थ को अधिक सादगी और विश्वसनीयता के साथ अपनी कहानियों में अंकित करती हैं। अधिकतर लेखिकाएँ यह चाहती हैं कि समाज में स्त्री और पुरुष दोनों का सहयोग होना चाहिए जिससे अच्छे और सुदृढ़ परिवार तथा समाज का गढ़न संभव हो सके।

ममता कालिया की कहानी 'आहार' में उस समय के सामाजिक संबंधों का चित्रण है। इसमें लेखिका ने एक कार्यालय के कर्मचारियों की कामकाजी जिन्दगी का हास्यास्पद अंकन किया है। कहानी का मुख्य पात्र है नीरज। नीरज अपने दोस्तों के सामने, दफ्तर की व्यस्तता और वहाँ के सुस्त वातावरण से बचने के लिए एक क्लब की स्थापना का प्रस्ताव रखता है। उसकी राय में 'दफ्तर में लोग घर से ज्यादा घंटे बिताते हैं, घर की अपेक्षा ज्यादा मेहनत करते हैं, और यहाँ घर से बेहतर संग साथ मिलता है, इसलिए सार्थक मनोरंजन दफ्तर में ही उपलब्ध होना चाहिए।'१

इस बात में सब लोगों ने उसका समर्थन किया। नीरज अविवाहित और सबसे आजाद परिदा था। दफ्तर के बाकि लोग शादीशुदा होने के कारण वैवाहिक जीवन की समस्याओं से गुजर रहे थे। नीरज दफ्तर में बाकी कर्मचारियों के बीच एक सम्मत व्यक्ति था, इसलिए उनकी बातों को सब लोग जल्दी ही स्वीकारते थे। क्लब का संचालन नीरज के ही कन्धों पर आ गया। चर्चा के बाद इतना तय हो गया कि हर महीने में एक दिन बाहर किसी महंगी रेस्तरां में जाकर खाना और हो सके तो एक पिक्चर भी देखें। इस सुविधा का आनंद लेने के लिए हर सदस्य को पंद्रह रुपये का हिसाब देना था।

पहली बार सब कुछ ठीक-ठाक गुजर गया। लोगों ने 'बटर चिकन' से लेकर 'मलाई कोफ्ता' और 'आइस क्रीम' के भी स्वाद का अनुभव किया मगर अगली बार हिसाब इकट्ठा करते वक्त कुछ लोगों ने अपना-अपना विरोध प्रकट किया। "चंदा देते समय पवन अग्रवाल ने अपना

विरोध प्रस्ताव पेश किया। उसने कहा, वह तो पद्रह रुपये देकर महज मटर पनीर खाता है और उसके साथ, समर राय, नीरज सक्सेना, दीपक अरोड़ा, युसूफ बगैरह 'बटर चिकन' उठाते हैं, यह कहाँ का इन्साफ है। ए. पी. गुप्ता, महेश तिवारी और हेमेन्द्र चतुर्वेदी पवन की तरफ हो गए- 'हाँ यह तो सरासर अन्याय है, हमारे रुपये पानी में जा रहे हैं।' नीरज और उसके साथियों ने गहरी चिढ़ से उन्हें देखा, 'आ गये न आप लोग अपने टुच्चे सवालों पर। मनोरंजन में भी वही खाता खोल लिया। पवन, रहे तुम बनिए के बनिये !'

लेखिका ने इस बातचीत के सहारे दफ्तर के लोगों के बीच उपस्थित जातिगत भेदभाव को प्रस्तुत किया है। जातीय भेदभाव के कारण से ही सह-कर्मचारियों के बीच अतृप्ति की समस्या जाग उठती है। यहाँ मन-ही-मन उच्च जाति के घमंड रखने वालों की गिरी हुई सोच और हरकतों पर लेखिका ने करारा व्यंग्य किया है। जाति पर अधिष्ठित भेदभाव मानवीय संबंधों पर बुरा असर डालता है। इस कहानी में भी यही बात दृष्टिगोचर है। मगर नीरज जैसे लोगों का समयोचित हस्तक्षेप से ये समस्याएँ धीरे-धीरे कम होती हैं।

कहानी के अंत में, रेस्तरां में एक लड़की और उसके परिवारवाले आते हैं। सब लोगों की नजर उस लड़की पर पड़ती है और इस घटना को भी लेखिका ने बहुत हास्यास्पद ढंग से प्रस्तुत किया है- नीरज सक्सेना दोस्तों का नेतृत्व करना भूलकर लड़की को देख रहा था। उसे लगा यह लड़की नहीं है, खिड़की है, इस खिड़की से देखा दृश्य बेहद मनोरम है। उसकी अविवाहित आँखों ने कई सपने देख डाले। पवन अग्रवाल को एकाएक छोलों में बटर चिकन का स्वाद आने लगा।... सरदेसाई ने मन ही मन सोचा कि अगर एकाध ऐसी लड़की दफ्तर में हो तो न इतनी हड़तालें हों और न इतना असंतोष। हेमेन्द्र, पवन, महेश, कोई भी शाकाहारी खाने की शिकायत नहीं कर रहे थे।'

यहाँ नारी भी पुरुष की नजरों में सिर्फ एक विशिष्ट 'आहार' के समान है। यहाँ भी वही हुआ, लड़की को

देखकर बाकि सबकुछ भूलकर सब अपने-अपने सपनों की दुनिया में विचरण करने लगे, वहाँ न भेदभाव है, न अतृप्ति।

कामकाजी जिन्दगी पर आधारित ममता कालिया की कहानी है 'जाँच अभी जारी है'। प्रस्तुत कहानी के जरिये उन्होंने नारी के कामकाजी जीवन और उससे जुड़ी समस्याओं का चित्रण किया है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए अपनी कामकाजी जिन्दगी समस्याओं से भरी रहती है। कहानी का मुख्य पात्र है 'अपर्णा', वह एक सम्मानित राष्ट्रीयकृत बैंक में काम कर रही है। बैंक से संबंधित उसकी अवधारणाएँ कुछ ही दिनों में बदल जाती हैं। बैंक के भीतर की जिन्दगी अपर्णा के लिए बिल्कुल नई थी। इससे बिल्कुल अनभिज्ञ माँ और पिताजी बेटी की तरक्की पर गौरवान्वित हो गए।

हर-एक ऊर्जस्वी नौजवान की तरह अपर्णा भी आदर्शों को बहुत अधिक महत्व देती थी। अपर्णा के ऑफिस में दो महिलाएँ और थीं। वे हमेशा अपर्णा को सतर्क रहने की चेतावनी देती रहीं। 'आज शाम आप क्या कर रही है ?' यह सवाल बैंक के हर छोटे-बड़े अधिकारी उससे पूछ चुके थे। माँ की बीमारी और पिता का प्रवास कभी-कभी उसका रक्षा कवच बन गए। लेकिन बाद में वह, उसी सवाल का शिकार बनकर कई मुसीबतों में गिर पड़ी। वह अपनी माँ और पिताजी से प्यार और इज्जत करती थी। उनके देखभाल करने के लिए वह सदैव जागरूक थी। साल बीतने के बाद वह एल.टी.सी की हकदार हो गयी। उन्होंने अपने माँ-बाप के इच्छानुसार जगन्नाथ जाने की तैयारियाँ कीं।

एक दिन उसके ऑफिस के ही कर्मचारी सिन्हा ने उससे काम के बाद थोड़ी देर के लिए रुकने को कहा। अपर्णा ने जवाब दिया कि उसे माँ के साथ कहीं जाना है। मगर इस बार उसकी बहाना निशाने पर नहीं लगा। उसे रुकना ही पड़ा। लेकिन जब उसे पता चला कि यह कोई मामूली पार्टी नहीं है बल्कि बोतलें मंगाई गयी हैं तो वह एकाएक भड़क उठी। सिन्हा ने उसे रोकने की कोशिश की। मगर वह नहीं मानी। इस घटना के बाद बाकी पुरुष सहयोगियों ने भी उससे मुँह मोड़ लिया। जब वह तीर्थयात्रा पर जाने लगी

तो ठीक उसी दिन पिताजी बीमार पड़े और उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा। अपर्णा के दस दिन की छुट्टी इस बीमारी ने निगल डाली। पिताजी बच गए, लेकिन वे तीनों इस दौर से बिल्कुल विचलित हो गए।

इस घटना ने अपर्णा की जिन्दगी को पूरी तरह तोड़ डाला। अपर्णा के ऑफिस के लोग एक मौके की तलाश में थे कि उसे किसी भी तरह नीचा दिखा सकें। मौका मिलते ही उन लोगों ने उनपर लपककर हमला शुरू किया। उन लोगों ने अपर्णा पर एल.टी.सी झूठा बिल पेश करके बैंक के साथ धोखाधड़ी और धन के दुरुपयोग का झूठा इलजाम लगाया। यह सुनकर अपर्णा चकित हो गयी। फिर भी वह अपना विश्वास नहीं खोयी। अपर्णा ने अपने आप को बेकसूर साबित करने के लिए बहुत कोशिश की।

अपर्णा का आत्मविश्वास गिरता गया। तहकीकात के सिलसिले में भटकते-भटकते वह थक गयी। मगर किसी ने भी उसकी मदद नहीं की। उसने तंग आकर दफ्तर के कर्मचारियों के व्यवहार के बारे में शिकायत की। इसने, बात को और भी उलझा दिया। दफ्तर की कोई भी महिला कर्मचारी ने उसके साथ नहीं दिया। वे लोग डरती थीं। अपर्णा की बातों पर विश्वास होते हुए भी अपनी जिन्दगी दाव पर लगाना वे नहीं चाहती थीं। अपर्णा अपने आप को बेगुनाह साबित न कर पायी। वह इस समस्या में इतना उलझ गयी कि बाहर निकलना भी उसके लिए नामुमकिन हो गया। माँ और पिताजी, बेटी की इस हालत पर आहें भरते रहे।

दफ्तर की राजनीति और वहाँ के तौर-तरीके बिल्कुल अलग हैं। उसे बदलना मुश्किल है। यह सिर्फ एक दफ्तर की बात नहीं है बल्कि यह तो सभी जगहों की बात हो गयी

है। संबंधों और मूल्यों का महत्व घटता ही जा रहा है। जिनके पास अधिकार है उनकी इच्छा की विजय होती है। 'समाज' अब 'व्यक्ति' में तब्दील हो चुका है। अब तो अपने-अपने स्वार्थ को ही लोग महत्व देते हैं।

प्रस्तुत कहानी के जरिये लेखिका ने पढ़ी-लिखी और सुसंस्कृत लड़की के जीवन संघर्षों का चित्रण किया है। पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों को समान स्थान दिया गया है। अच्छे संस्कार और बड़ों से आदर व प्यार का अब कोई स्थान नहीं रहा। अपर्णा की चारित्रिक विशेषताएं उसके संस्कारों पर आधारित हैं। पुरानी मान्यता यह है कि जितनी भी कठिन परिस्थितियाँ ही हमारे संस्कार और चारित्रिक शुद्धता जरूर हमारा साथ देंगे। मगर अपर्णा के जीवन में यह मान्यता गलत साबित होती है। यह तो मूल्यों में आये परिवर्तन का सूचक है। प्रशासनिक व्यवस्था साधारण लोगों का साथ नहीं देती बल्कि उनके जीवन को अधिक दुष्कर बना देती है। लेखिका प्रस्तुत कहानी के जरिये इन्हीं समस्याओं के खोखलेपन का पर्दाफाश करती है।

दोनों कहानियों में मुख्य रूप से सामाजिक संबंधों को चित्रित किया गया है। तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण मानवीय संबंधों में सामंजस्यहीनता और उससे संबंधित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य नए-पुराने संस्कारों की परिवर्तन-प्रक्रिया से उपजे मानसिक द्वंद्व से गुजर रहा है। घर और बाहर के दोहरे व्यक्तित्व एवं भूमिकाओं में सामंजस्य लाने के प्रयत्न में हर काल की लेखिकाएँ सतर्क हैं।

संदर्भ:

१. ममता कालिया, आहार, पृष्ठ- ३२४, २. वही, पृष्ठ- ३२५, ३. वही, पृष्ठ २२

संपर्क:

शोधछात्रा, एस.एस.यू.एस, कालाडी.
पुलिकल (एच), मैटूर कालाडी, एर्नाकुलम-६८३५७४ (केरल)

हिंदी कहानी में पार्वत्य जीवन का संदर्भ

गौतम सिंह राणा

हिंदी कहानियों में उक्त चर्चित समस्त पार्वत्य समाज कश्मीर, हिमाचल, कुमाउँ, गढ़वाल व उत्तर-पूर्व के कतिपय उपस्थिति हिंदी कहानियों में दर्ज हैं। कश्मीर की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले मुख्य कहानीकारों में कृष्णचंदर, उपेन्द्रनाथ अशक, चन्द्रकांता आदि हैं। हिमाचल की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले कहानीकारों में चंद्रधर शर्मा गुलेरी, यशपाल, सुंदर लोहिया, श्रीनिवास श्रीकांत, योगेश्वर शर्मा, कुमार कृष्ण, सुदर्शन वशिष्ठ, मुरारी शर्मा, केशव, एस आर हरनोट आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। पार्वत्य जीवन से संबंधित हिंदी में सर्वाधिक कहानियाँ कुमाउँ तथा गढ़वाल की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं। इस पृष्ठभूमि पर विपुलता व वैविध्यता के साथ लिखने वाले कहानीकारों में इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, रमा प्रसाद धिल्लियाल 'पहाड़ी', शिवानी, शैलेश मटियानी, शेखर जोशी, विद्यासागर नौटियाल, हिमांशु जोशी, रमेशचंद्र शाह, बल्लभ डोभाल, पानू खोलिया, मृणाल पाण्डेय, गंगाप्रसाद विमल, सुभाष पंत, बटरोही, पंकज विष्ट, रणीराम गढ़वाली आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। पूर्वोत्तर की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले एकमात्र हिंदी कहानीकार अज्ञेय जी रहे हैं।

हिंदी में पार्वत्य जीवन से संबंधित लिखी गई कहानियाँ दो तरह की हैं। पहली तरह की कहानियों में पहाड़ के प्रति रोमानी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। इस तरह के कहानीकारों में निर्मल वर्मा प्रमुख हैं। दूसरी तरह की कहानियों में पहाड़ की मनमोहक वादियों के आवरण तले मौजूद खुरदुरे यथार्थ का चित्रण मिलता है। कहने का तात्पर्य है कि वास्तव में यदि हमें पर्वत पर रहने वाले लोगों की संवेदनाओं- समस्याओं से रूबरू होना है तो हमें दूसरी तरह की कहानियों का सम्यक अनुशीलन करना होगा। चूँकि आज कहानी ने अपने आप को छोटे कलेवर के बावजूद मानवीय संदर्भों के साथ जुड़ने का सबसे सशक्त विधा के रूप में स्थापित कर लिया है अतः 'हिंदी कहानी में पार्वत्य जीवन का संदर्भ' की चर्चा के क्रम में दूसरी तरह की कहानियों का अनुशीलन ही समीचीन है।

कश्मीर के पार्वत्य समाज की पृष्ठभूमि पर हिंदी में कम ही कहानियाँ लिखी मिलती हैं और जो उपलब्ध हैं उनमें भी समय के प्रवाह के अनुरूप निरंतरता का अभाव मिलता है। कृष्णचंदर कृत 'कश्मीर की कहानियाँ' का प्रकाशन वर्ष १९५४ है, जिसमें आजादी से कुछ पहले से लेकर कुछ वर्ष बाद तक के अशांत कश्मीरी समाज के यथार्थ का चित्रण रोमानियत के साथ मिलता है। इस संग्रह में कुल ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं, जिसकी भूमिका में कहानीकार लिखते हैं- 'मैंने कश्मीर के सम्बन्ध में बहुत सारी कहानियाँ लिखी हैं। उसके हुस्न के सम्बन्ध में, उसकी अदसूरती के सम्बन्ध में, उसके जागीरदाराना माहौल और लूट-खसोट के सम्बन्ध में। ये कहानियाँ मैं बराबर लिखता आया हूँ और आज भी, जब कश्मीर एक अजीब दर्दनाक सूरत-हालात से दो-चार है, मैं कश्मीर से सैकड़ों मील दूर रहकर भी उसके

सम्बन्ध में लिखने पर मजबूर हो गया हूँ। अगली-पिछली कहानियों पर नजर उलटते हुए मैंने यह महसूस किया है कि एक ऐसे संग्रह की सख्त जरूरत है जिसमें कश्मीर सम्बन्धी उन तमाम कहानियों को जमा करूँ जो कश्मीर के समाजी जीवन के विभिन्न पहलुओं की चित्रकारी करते हुए आज की परिस्थितियों के प्रगतिशील पहलुओं को उजागर करने में सहायक हो सकें। यह संग्रह उसी जरूरत का नतीजा है। इस संग्रह में मैंने कश्मीर-सम्बन्धी कहानियों को इसी ढंग पर रक्खा है। '१ कृष्णचंदर के कहानी-संग्रह के बाद कश्मीर की पृष्ठभूमि पर लिखित एक महत्वपूर्ण संग्रह उपेन्द्रनाथ अशक कृत 'कहानी लेखिका और झेलम के सात पुल (१९५७)' है, जिसमें १९५६-५७ तक के समय का चित्रण मिलता है। इन दोनों संग्रह के प्रकाशन के एक अच्छे अंतराल के बाद इस विषय पर चन्द्रकांता कहानियाँ लिखती हैं। सन् १९७४ में इनके पहले कहानी-संग्रह 'सलाखों के पीछे' का प्रकाशन होता है। १९७४ से लेकर अब तक इनके कुल १३ कहानी-संग्रह आ चुके हैं। कश्मीर की ही आबोहवा में पली बढ़ी चन्द्रकांता की कहानियों में वहाँ की सभ्यता और संस्कृति के साथ समसामयिक संदर्भों का बड़ा जीवंत चित्रण मिलता है।

हिमाचली पार्वत्य-पृष्ठभूमि पर पहले पहल कहानी लिखने का श्रेय गुलेरी जी एवं यशपाल को जाता है। गुलेरी कृत 'हीरे का हीरा' में लहना सिंह की काँगड़ा के गाँव में अपने परिवार के पास वापसी दिखाई गई है। इसी प्रकार यशपाल कृत 'तेरह हजार की बुलंदी' की पृष्ठभूमि भी हिमाचल का पार्वत्य प्रदेश है। इन दोनों के बाद इस पृष्ठभूमि पर लिखने वाले महत्वपूर्ण कहानीकार सुंदर लोहिया हैं। इस संदर्भ में उनके द्वारा लिखित 'कोलतार' काफी चर्चित कहानी-संग्रह रहा है। सुंदर लोहिया के बाद के महत्वपूर्ण कथाकार मूलतः समकालीन कहानीकारों की श्रेणी में आते हैं। इनमें सुदर्शन वशिष्ठ एवं मुरारी शर्मा का नाम मुख्य रूप से आता है। सुदर्शन वशिष्ठ पिछले चार दशकों से हिमाचल केन्द्रित कहानी लेखन का कार्य कर रहे हैं। इनके अब तक १० कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'सेमल के फूल', 'माणस गंध', 'ऋण का धंधा', 'घोड़ा पुराण', 'दादा का प्रेत', 'कोट',

'बिरादरी बाहर' आदि इनके द्वारा लिखित चर्चित कहानियाँ हैं। इनकी कहानियों की विशेषता है कि ये पार्वत्य ग्रामीण परिवेश से आरंभ होकर कस्बाई, छोटे शहरों की नब्ब टटोलते हुए राजनीति और दफ्तरी जीवन पर भी करारी चोट करती है। मुरारी शर्मा इसी क्रम में आने वाले अन्यतम महत्वपूर्ण समकालीन कहानीकार हैं। इनके अब तक दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'बाणमूठ' और 'पहाड़ पर धूप'। इनकी कहानियों में हिमाचली गहरी लोकधर्मी संवेदनाओं का तानाबाना मिलता है। इनमें हिमाचली समाज में रहने वाले बजंतरियों और दलितों के साथ पशुओं जैसा बर्ताव अंधविश्वासों, छूआछूत, तथा आर्थिक असमानता की व्यवस्था पर तीखे प्रहार के साथ-साथ बाजारी शक्ति के मजबूत होने के बरक्स पर्वतीय प्रदेश में उत्पन्न पर्यावरणीय संकट की चिंता भी देखने को मिलती है।

हिमाचली पार्वत्य-पृष्ठभूमि पर विपुलता एवं वैविध्यता के साथ लिखने वाले समकालीन कहानीकारों में एस. आर. हरनोट मुख्य हैं। इनकी कहानियों से गुजरते हुए हम अनायास ही बदलते समय के साथ पिछले चार दशकों की हिमाचली धड़कनों को महसूस कर सकते हैं। साथ ही समय के विकास के तदंतर हिमाचली पार्वत्य समाज में बढ़ती मूल्यबोध हीनता को भी इनकी कहानियों के कैनवास पर बड़ी स्पष्टता के साथ चित्रित देख सकते हैं। बीसवीं सदी के नवें दशक से निरंतर सृजनरत इस कथाकार के अब तक कूल आठ कहानी संग्रह - 'पंजा', 'आकाशबेल', 'पीठ पर पहाड़', 'दारोश तथा अन्य कहानियाँ', 'जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ', 'मिटटी के लोग', 'लिटन ब्लोक गिर रहा है' तथा 'कीलें' प्रकाशित हो चुके हैं। हिमाचल प्रदेश के पार्वत्य क्षेत्र के चनावग गाँव (जिला-शिमला) में जन्मे इस कथाकार ने हिंदी-पाठकों के मन को अपनी कहानियों के मार्फत सबसे ज्यादा आंदोलित किया है क्योंकि बचपन से लेकर अपनी समझदारी की उम्र तक इन्होंने जिस नैसर्गिक-सौन्दर्य-संपन्न पहाड़ी जीवन को जिया और साथ ही उसके खुरदुरे यथार्थ को अनुभूत किया, उसे इन्होंने जिस का तस बड़ी कोमलता के साथ अपनी कहानियों में रख दिया है। इस बात को नकारा नहीं जा

सकता है कि पार्वत्य प्रदेश पर मशीनी सभ्यता के पहुँचने के कारण वहाँ मानवीय संवेदना तथा प्राकृतिक मूल्यबोध की भावना छिजी है। वहाँ अमानवीयता, सत्ता की निरंकुशता, साम्प्रदायिकता, बाजारवादी, क्रूर, हिंसक, मनुष्य विरोधी तथा सबसे अधिक प्रकृति को विनष्ट करने वाली ताकतों ने अपनी पैठ बना ली है, जिससे पूरे पहाड़ का आस्तित्व संकट में आ गया है। चूँकि हरनोट अपने समय के सजग प्रहरी हैं, अतः वे चौकन्ने होकर इन सभी शक्तियों से लड़ने के लिए अपनी कहानियों की बुनावट करते हैं। मशीनी सभ्यता के बढ़ते कदम के बरक्स पहाड़ में आई दरकनों तथा उसके पीछे की शक्तियों की शिनाख्त करते हैं और उन्हें अपनी कहानी के मार्फत पेश करते हैं ताकि पहाड़, पहाड़ीपन और उसके नैसर्गिक प्राकृतिक सौंदर्य की रक्षा के लिए विनष्टकारी शक्तियों के विरुद्ध पहाड़ की जनता एक प्रबल प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा हो सके। उनकी कहानियों की इस विशेषता और उनकी सजगता के सन्दर्भ में प्रो. सूरज पालीवाल का कहना है- “हरनोट की कहानियों में पहाड़ केवल पहाड़ के रूप में नहीं अपने पूरे परिवेश के साथ उपस्थित होता है। समय के विकास के साथ भूमंडलोत्तर पहाड़ी जीवन में आये बदलावों, टूटते रिश्तों, सांस्कृतिक परिवर्तनों, और स्त्री पुरुष संबंधों के साथ रूढ़ियों की टूटती जंजीरें जिस झनझनाहट के साथ हरनोट की कहानियों में आती हैं वे विस्मय उत्पन्न नहीं करती बल्कि यह सोचने को विवश करती है कि हरनोट अपने परिवेश के प्रति कितने सजग हैं।”^२

हिंदी में पार्वत्य जीवन से संबंधित सर्वाधिक कहानियाँ उत्तराखंड की पृष्ठभूमि पर लिखी मिलती हैं। इसका मूल कारण हिंदी के विकास काल से ही इस क्षेत्र का संबंध हिंदी पट्टी से रहना है। कुमाउँ जनश्रुतिपरक लोकगीत के बोल “शहर मुरादाबाद, जी हाँ, घूमि के आयो व्यापारी।” इस बात को प्रमाणित करता है कि इस क्षेत्र का संबंध व्यापार के मार्फत मुरादाबाद जैसे हिंदी प्रदेश से प्राचीन काल से रहा है। साथ ही उत्तराखंड में स्वतंत्रता पूर्व से ही प्रचलित ‘काशी-अध्ययन-यात्रा’ का प्रसंग भी इस बात की गवाही देता है कि भारत में संस्कृत काल से ही उत्तराखंड के अध्येता ज्ञानार्जन

के उद्देश्य से काशी वास करते थे। इसके अतिरिक्त भौगोलिक दृष्टि से भी यह प्रदेश हिंदी-पट्टी से काफी निकट होने के कारण भी यहाँ हिंदी साहित्य का प्रचार-प्रसार अन्य पार्वत्य प्रदेशों की तुलना में अधिक हुआ है।

उत्तराखंड के पार्वत्य जीवन से संबंधित कहानीकार एवं कहानियों को भाषा व सांस्कृतिक भूगोल की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटकर देखना सही होगा। पहले वर्ग के अन्तर्गत उत्तराखंड का पश्चिमी हिस्सा गढ़वाल क्षेत्र से संबंधित कहानीकार एवं उनकी कहानियों को देखा जा सकता है। इसके अन्तर्गत आने वाले महत्वपूर्ण कहानीकारों में रमा प्रसाद धिल्लियाल ‘पहाड़ी’, बल्लभ डोभाल, गंगा प्रसाद विमल, सूभाष पंत, विद्यासागर नौटियाल का नाम आता है। इस पृष्ठभूमि पर गंभीरता के साथ लिखने वाले प्रथम महत्वपूर्ण कहानीकार ‘पहाड़ी’ जी हैं। इनके गढ़वाली पार्वत्य समाज में निहित गरीबी, दलित शोषण, स्त्री शोषण आदि विषयों पर केन्द्रित कुल पंद्रह कहानी संग्रह हैं। इनकी कहानियों में निहित इन संदर्भों के महत्व पर बात करते हुए गंगा प्रसाद विमल ने कहा है- ‘विश्व के सर्वाधिक अंधेरे कोने, गढ़वाल में जन्मे, साधनहीन, वातावरण ने सृजेता के मनोलोक में विपन्नता के चित्रों ने अमिट प्रभाव छोड़ा। उन्हीं के समकालीन चन्द्र कुंवर वर्त्वाल ने स्वयं अपने प्रामाणिक अनुबोध द्वारा दरिद्रता, दासता, और सांस्कृतिक औदास्य की परिव्याप्ति वाले क्षेत्र में निपट पिछड़ेपन का जो त्रासदायक अनुभव अपने काव्य सृजन में व्यक्त किया वह रमा प्रसाद धिल्लियाल ‘पहाड़ी’ को पर्वतीय होने के कारण सहज ही सृजनात्मक पीठिका के रूप में उपलब्ध था और उन्होंने उसी सूत्र के सहारे दरिद्र, दलित और स्त्री या अबला जैसे पक्षों को अपने सृजनात्मक कर्म के प्रमुख चुने जो इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ में साहित्यिक विमर्श के परिपक्व व केंद्रीय विषय बने और एक तरह से प्रवृत्ति सूचक सूत्रों के रूप में याद किए जाते हैं।’^३ ‘पहाड़ी’ जी के बाद इस पृष्ठभूमि पर बड़ी संजीदगी से लिखने वाले समकालीन कहानीकार सुभाष पंत हैं। इनके अब तक कुल सात कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- ‘तपती हुई जमीन (१९७७)’, ‘चीफ के बाप की मौत (१९८०)’,

इक्कीस कहानियाँ (१९९७)', 'जिन्न और अन्य कहानियाँ (२००२)', 'मुन्नीबाई की प्रार्थना' (२००२), 'एक का पहाड़ा' (२००९) और 'छोटा होता हुआ आदमी' (२०१०)। इनकी कहानियों के केन्द्र में व्यवस्था की चक्की में पिसता पर्वतीय आम आदमी है। इस संदर्भ पर सुभाष पंत के अलावे लिखने वाले कहानीकारों में विद्यासागर नौटियाल का नाम आता है। इनके अब तक दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'टिहरी की कहानियाँ' (१९८५) एवं 'सुच्ची डोर' (२००५)। इन्होंने अपनी कहानियों में गढ़वाली पार्वत्य जीवन के संघर्ष को, उसकी अदम्य जिजीविषा को, तमाम प्रचलित मिथकों, किंवदन्तियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों को एक नई कथा-शैली एवं प्रविधि के साथ बड़ी जीवंतता व मार्मिकता के साथ उठाया है।

उत्तराखंड के पार्वत्य जीवन से संबंधित दूसरे वर्ग के कहानीकारों का संबंध इसके पश्चिमी हिस्से कुमाउँ प्रदेश के साथ है। इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले महत्वपूर्ण कहानीकारों में शिवानी, शैलेश मटियानी, शेखर जोशी, बटरोही, पंकज विष्ट, रणीराम गढ़वाली आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। कुमाउँ के पार्वत्य के संदर्भ में स्त्री अस्मिता के संकट का चित्रण शिवानी की कहानियाँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार यहाँ के दलित प्रसंगों के चित्रण में शैलेश मटियानी की कहानियों का विशेष महत्व है। शेखर जोशी की कहानियों में इस प्रदेश के सीधे-सरल, ठगे जाने को अभिशप्त, छल-छन्दहीन रहन वारियों के करुण जीवन कथा का चित्रण मिलता है। बटरोही, पंकज विष्ट एवं रणीराम गढ़वाली इस पृष्ठभूमि पर गंभीरता के साथ लिखने वाले महत्वपूर्ण समकालीन कहानीकार हैं।

उत्तर-पूर्व के पार्वत्य प्रदेश को उसके निष्ठक रूप में प्रस्तुत करने वाले सबसे पहले कहानीकार अज्ञेय जी रहे हैं। अज्ञेय जी सन् १९४३ से १९४६ के बीच अंग्रेजी सेना की नौकरी से जुड़े थे क्योंकि वे दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान फांसीवादी शक्तियों का विरोध 'मनसा-वाचा-कर्मणा'

सदृश करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से वे ब्रिटिश सेना में इनफॉर्मर की नौकरी से जुड़े। नौकरी के दौरान उनका ज्यादा समय पूर्वोत्तर में ही बिता। इस दौरान उन्होंने इस प्रदेश को काफी करीब से देखा। चूँकि नौकरी करने व इन प्रदेशों को देखने के क्रम में वे इस प्रदेश की संवेदनाओं से जुड़ते चले गये, यही कारण है कि आगे चलकर इसका प्रतिफलन उनकी कहानियों व यात्रा वृत्तांतों में देखने को मिलता है। पूर्वोत्तर के लोगों के जीवन, समाज, संस्कृति, परंपरा और उनकी मानसिकताओं को चित्रित करने वाली रचनाओं में उनके द्वारा लिखित पाँच कहानियाँ- 'हीलीबोन की बत्तखें', 'मेजर चौधरी की वापसी', 'जयदोल', 'नगा पर्वत की एक घटना' व 'नीली हँसी' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों के माध्यम से अज्ञेय ने पूर्वोत्तर जीवन की अनेक बारीकियों से परिचय करवाया है। इन कहानियों की प्रमुख विशेषता इनमें निहित स्त्री विमर्श है। इन कहानियों में लोकेल के चित्रण के साथ-साथ कहानीकार ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान वहाँ की जनजातीय स्त्री-जीवन में आई अस्मिताई हास और उससे उनमें उत्पन्न टीस को भी स्थान दिया है। स्त्री विमर्श के साथ इनमें पूर्वोत्तर भारत की इस भूमि पर लड़े गये द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण इसकी सभ्यता-संस्कृति तथा जीवन-सम्बन्धों में आई गिरावट भी दर्ज है।

सन्दर्भ:

१. कृष्णचंदर, कश्मीर की कहानियाँ, राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, देहली, संस्करण: १९५४, पृष्ठ सं-१ 'दो शब्द'।
२. हरनोट. एस. आर., कीलें (कहानी-संग्रह), वाणी प्रकाशन, दरियागंज (नई दिल्ली), प्रथम संस्करण : २०१९, 'फ्लैप'।
३. विमल, गंगाप्रसाद, रमाप्रसाद धिल्लियाल 'पहाड़ी' संकलित कहानियाँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण : २०१६, 'भूमिका'।

संपर्क: शोधार्थी, हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग (प.बं.)

कविता सपने सँवारने की ऊर्जा देती है

जितेंद्र श्रीवास्तव

कवि-कर्म मेरे लिए कभी शौक का विषय नहीं रहा। मैंने हमेशा कविता को उतना ही आवश्यक माना है, जितना रोटी को। रोटी यदि रक्त का सृजन करती है तो कविता उस रक्त से निःसृत ऊर्जा को सही दिशा में ले जाती है। इस अर्थ में किसान और कवि एक-दूसरे के पूरक होते हैं। अपने विषय में मेरे लिए यह कहना कठिन है कि एक किसान का पुत्र होने के बावजूद एक कवि के रूप में मैं अपने दायित्व को किस हद तक निभा पाया हूँ। मेरे नाना और मेरे पिता दोनों ही बेहद संवेदनशील और विचारवान किसान थे। मैंने हमेशा कोशिश की है कि उनकी संवेदना और सोच का विस्तार अपनी कविताओं में अवश्य करूँ।

सपने अधूरी सवारी के विरुद्ध होते हैं

स्वप्न पालना
हाथी पालना नहीं होता
जो शौक रखते हैं
चमचों, दलालों और गुलामों का
कहे जाते हैं स्वप्नदर्शी सभाओं में
सपने उनके सिरहाने थूकने भी नहीं जाते
सृष्टि में मनुष्यों से अधिक हैं यातनाएं
यातनाओं से अधिक हैं सपने
सपनों से थोड़े ही कम हैं सपनों के सौदागर
जो छोड़ देते हैं पीछा सपनों का
ऐरे-गैरे दबावों में
फिर लौटते नहीं सपने उन तक
सपनों को कमजोर कन्धे
और बार-बार चुंधियाने वाली आँखें
रास नहीं आतीं
उन्हें पसंद नहीं वे लोग
जो ललक कर आते हैं उनके पास
फिर छुई-मुई हो जाते हैं
सपने अधूरी सवारी के विरुद्ध होते हैं।

जीवन-राग

आज कबाड़ी ले गया वह अलमारी
जिसे खरीदा था मैंने बभनान के बाजार में
वह तपती मई की एक तिजहरी थी
जब ठेले पर लदकर वह पहुँची थी घर
और देर शाम भर गई थी किताबों से
उसमें लदे आदमकद शीशे के सामने खड़े होकर
अक्सर बेटियाँ इठलाती थीं अपनी माँ के दुपट्टे लपेटकर
और मुस्कुराते थे हम दीया-बाती
कुछ तस्वीरें भी हैं उन दिनों की जब हम साथ रहे थे जीवन-राग
यह भी अजब संयोग है
कि मई की एक दोपहर फिर बिक गई वह
बदल गया किताबों का आशियाना
हमारा मूल्यवान संभालते-संभालते
आज बेमोल बिकी वह
कबाड़ी के लिए एक जर्जर टीन की चादर है
उसके लिए शायद उसे होना भी चाहिए इतना ही
वह नहीं हो सकता भाव विह्वल
और हम भी जब खरीद कर लाये थे उसे
तब कहाँ थी वह स्मृतियों का ऐसा एलबम
जिसमें शामिल हो बेटियों का बचपन
और हम दीया-बाती की भरपूर जवानी
अजीब शौ हैं कबाड़ी भी
बारी-बारी चली जाती हैं वे सारी चीजें उनके साथ
जिनको बड़ी मुश्किल से
हमने शामिल किया होता है कभी जीवन में
जिनके पास होने से
रत्ती भर ही सही
जरूर आई होती है मुस्कान दीया-बाती के होठों पर।

समय की शिला पर

लोकतंत्र का समकालीन प्रमेय

कल अचानक मिले रूद्रपुर में जगप्रवेश
मेरे बाल सखा
हाफ पैटिया यार
मूछों में आ चुकी सफेदी
खुटियाई दाढ़ी से ताल मिला रही थी
अब उतनी बेफिक्री उतना संवरापन नहीं था
जितना होता था नेहरू माध्यमिक विद्यालय में साथ
पढ़ते हुए
धधाकर मिले जगप्रवेश
खूब हँसे हमारे मन
हमने याद किया अपने शिक्षकों और सहपाठियों को
हालचाल लिया एक दूसरे के परिवार का
और खूब प्रसन्न हुए इस बात पर
कि दोनों पिता हैं दो-दो बेटियों के
जगप्रवेश को मालूम था मेरे बारे में
बड़े भाई साहब ने बहुत कुछ बता दिया था उन्हें
वे खुश थे अपने मित्र की खुशी में
मैं भी कुछ-कुछ जानता था उनके बारे में
मसलन यह कि वे कोटेदार हैं
एक राजनीतिक पार्टी के स्थानीय नेता हैं
उनकी पत्नी शिक्षिका है
और एक बड़ा-सा घर है शहर में उनके नाम
बात-बात में पता लगा
जगप्रवेश विधायक होना चाहते हैं
उन्होंने खूब धन-बल जुटाया है बीच के दिनों में
टिकट का प्रबंध पक्का है
उन्होंने ऑकड़े इकट्ठा कर लिए हैं जातियों के
उनकी अपनी जाति के वोट हैं ढेर सारे
कल बहुत सारी इधर-उधर की बातें करते हुए
जगप्रवेश ने धीरे से कहा मुस्कुराते हुए
आपको भी मेरा साथ देना होगा भाई साहब
हम जाति भाई नहीं लेकिन दोस्त हैं पुराने
आपके आने से बल मिलेगा
आपकी जाति का एकमुश्त वोट मिल जाएगा मुझे
और मित्रों इस तरह मैं
अचानक मित्र से एक जाति में बदल गया

मैं अचरज में था कि स्कूल के दिनों में
गणित में बेहद होशियार जगप्रवेश
अब भाषा और रिश्तों में
नए प्रमेय गढ़ रहा था
मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा
जो किसी दिन आपको भी मिले आपका कोई पुराना मित्र
लोकतंत्र का पहरुवा बनने को उत्सुक विकल
और धीरे से बातों ही बातों में
आपको रूपांतरित कर दे एक जाति में।

बीता समय

कल वर्षों बाद मिला वह कचहरी चौराहों पर
हम गले लगे
एक-दूसरे का हाल चाल पूछा
थोड़ी देर बैठे
चाय वाली गुमटी के सामने रखी बेंच पर
वह बहुत बदला-बदला सा था
थोड़ा थका-हारा भी
मैंने सोचा पूछूँ-
'तुम ऐसे तो न थे
नीम का सा तीखापन था तुझमें
सूख कबसे गई
क्रोध में छलछला जाती आँखें?
तुम ऐसे तो न थे दोस्त!
तुम बोलते थे जैसे तूफान आया हो कोई
तुम हँसते थे और जान आ जाती थी लोगों में
तुम देखते थे और लहरें उठ जाती थी प्यार की
आखिर क्या हुआ कहाँ खो गया सब कुछ?'
मैंने अपने भीतर बहुत बल पैदा किया
कि पूछ लूँ यह सब कुछ
पर कुछ भी नहीं पूछ पाया
बस निहारता रहा उसका उदास चेहरा
उसने गौर से देखा मुझे
चाय खत्म हो चुकी थी तब तक
उसने कहा- चलता हूँ साथी फिर मिलेंगे!
और चला गया वह मेरे उन प्रश्नों को साथ लिए
जिन्हें पूछने का साहस नहीं कर पाया था मैं।

दिल्ली में एक दिन भर जाना भीतर तक

पिछले शुक्रवार मेरे घर आए वृद्धिचंद गुप्ता
अपने छोटे भाई विश्वम्भर के साथ
वर्षों बाद मैंने देखा उन्हें
उन्होंने देखा मुझे यह कहते हुए
कि कहीं राह में मिलता
तो यकीनन पहचान नहीं पाता जितेन्द्र बाबू
मैंने कहा, लेकिन बहुत अंतर नहीं आया है आपके चेहरे में
आपको कैसे भूल सकता हूँ मैं
न जाने कितनी बार खरीदी मैंने
आपकी दुकान से खड़िया, पेंसिल, स्याही और चाकलेट
भइया, आदमी जीवन में चाहे जितना आगे निकल जाए
उसकी स्मृति में शामिल हो जाए चाहे ढेर सारी दूसरी बातें
या वह भुला दे बहुत कुछ सायास
फिर भी नहीं भुला पाता अपना बचपन
बचपन चेतना का वह हिस्सा है
जिसे नींद नहीं आती मृत्यु से पहले
बहुत देर तक हम बैठे बतियाते रहे
मैं पूछता रहा गाँव के लोगों के बारे में
वे बताते रहे कि कितना विकट हो चला है गाँव
हालांकि भौतिक प्रगति भी खूब हुई है
अब भूखमरी नहीं रही पहले की तरह
तीन सौ घरों वाले गाँव में
कम से कम दो सौ मोटर साइकिलें तो हैं ही इन दिनों
अब नवरात्रि में कई मूर्तियाँ स्थापित होती हैं दुर्गा जी की
ताजिए की कर्बला यात्रा में अब भी

पहले की तरह शामिल होते हैं हिंदू
वैसे अब भी साल में हो ही जाते हैं एक-दो कत्ल
जमीन-जायदाद को लेकर
उन्होंने कहा यूँ ही बतियाते-बतियाते
कि अब पहले वाली बात नहीं रही
लाज-लिहाज कम हुआ है गाँव में
थोड़ी देर चुप रहे हम लोग
फिर मैंने पूछा
अब भी ठीक से चलती है दुकान?
उन्होंने कहा
दुकान अब बहाना है समय काटने का
बेटा इंजीनियर है इंडियन ऑयल में
अब कोई दिक्कत नहीं रही जीवन में
इधर-उधर बैठने, लगाने-बूझाने से
लाख गुना अच्छा है दुकान पर बैठे रहना
बाबू, बाप-दादा की विरासत है
जब तक चल जाए चलाऊँगा
जब थक जाएगी देह
बढ़ा दूँगा दुकान पूर्वजों से क्षमा माँगते हुए
विश्वम्भर के याद दिलाने पर
एक-दो बातें याद कीं उन्होंने मेरे बचपन की
मेरे सहपाठियों की
सुनकर मुस्कराई मेरी बेटियाँ
मैं भी मुस्कराया भीतर-ही-भीतर
बहुत दिनों बाद
किसी के जाने पर घर खाली-खाली लगा।

परिचय: उ.प्र. देवरिया जिले की रुद्रपुर तहसील के एक गाँव सिलहटा में जन्मे प्रतिष्ठित कवि-आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव ने बी.ए. तक की पढ़ाई गाँव और गोरखपुर में की। तत्पश्चात जे.एन.यू., नई दिल्ली से हिंदी साहित्य में एम.ए., एम.फिल. और पीएच.डी। प्रकाशन: इन दिनों हालचाल, अनभै कथा, असुंदर सुंदर, बिल्कुल तुम्हारी तरह, कायान्तरण, कवि ने कहा, बेटियाँ, उजास (कविता संग्रह) इसके अतिरिक्त 'भारतीय समाज की समस्याएँ और प्रेमचंद', 'राष्ट्रवाद और प्रेमचंद', 'सर्जक का स्वप्न' इत्यादि इनके आलोचना संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त संपादन एवं देश के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में लगभग २०० आलेख प्रकाशित हैं। हिंदी के साथ-साथ भोजपुरी में भी लेखन-प्रकाशन।

इन्होंने महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका 'उम्मीद' का भी संपादन किया है।

सम्प्रति: इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के मानविकी विद्यापीठ में हिंदी के प्रोफेसर हैं। पूर्व में इग्नू के कुलसचिव रह चुके हैं। इन दिनों इग्नू के पर्यटन एवं आतिथ्य सेवा प्रबंध विद्यापीठ के निदेशक हैं।

संपर्क: हिंदी संकाय, मानविकी विद्यापीठ, ब्लॉक- एफ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-११००६८, मो. ९८१८९१३७९८

काली प्रसाद जायसवाल

अनजान

सपने में अपनी मौत को
करीब से देखा
कफन में लिपटे तन
जलते अपने शरीर को देखा
खड़े थे लोग हाथ बांधे
कतार में
कुछ थे परेशान कुछ उदास थे
कुछ छुपा रहे अपनी मुस्कान थे
पर सबको थी जल्दी
मुझको छोड़कर लौट जाने की
दूर खड़ा देख रहा था मैं
यह सारा मंजर
तभी किसी ने हाथ बढ़ा कर
मेरा हाथ थाम लिया
और जब देखा चेहरा उसका
तो मैं बड़ा हैरान था
हाथ थामने वाला कोई और नहीं
मेरा भगवान था
चेहरे पर मुस्कान और नंगे पाँव था
जब देखा मैंने उसकी तरफ
जिज्ञासा भरी नजरों से
तो हँस कर बोला
तूने हर दिन दो घड़ी
मुझको याद किया था
आज मैं उसी कर्ज को
चुकाने आया हूँ
घबड़ा मत
मैं अब तेरा साथ निभाने आया हूँ
रो दिया तब मैं अपनी बेवकूफियों पर
यह सोचकर
जिसको दो घड़ी याद किया
वो साथ निभाने आये हैं
जिनके साथ हर घड़ी लगा रहा
वो मेरा साथ छोड़ने के लिए

शमशान पहुँचाने आये हैं
तभी मेरी आँख खुली
मैं बिस्तर पर विराजमान था
कितना नादान था
इस मतलबी दुनियाँ के
रिश्तों की हकीकत से
अनजान था।

यादें

छूटना भी
नियति में शुमार है
जिन्दगी जैसे-जैसे
आगे बढ़ती है
कुछ छूटता जाता है
एक बार
उसका दिया हुआ रूमाल
छूट गया था
वह नहीं मिला
वह मेरे लिए
बहुत कीमती था
बहुत दिनों तक उसे खोजता रहा
अंत में
उसके पास मिला
उसने बताया- तुम यह रूमाल
मेरे पास ही भूल गये थे
ऐसे जूड़े से छूट कर
गिरे फूल
पुराने दिनों के डायरी में मिलते हैं
ये फूल छूटे नहीं थे
उसके बालों से अलग हो गये थे
और जो दुनियाँ से अलग हो जाते हैं
वे हमारे लिए दुःख बन जाते हैं
तब बीती हुई गालियों से
फिर से गुजरते हुए
रह जाती हैं सिर्फ यादें।

कौन हो तुम

मेरे मन के मीत हो
जिन्दगी के गीत हो
कौन हो तुम कौन हो
गीत की तुम मधुरिमा हो
या गगन के चन्द्रमा हो
कौन हो तुम कौन हो
तुम सावन की घटा हो
या पूनम की छटा हो
कौन हो तुम कौन हो
मंदिर में जलता दिया हो
या मस्जिद की आती अजान
कौन हो तुम कौन हो
प्रेम की जलती बाती हो
प्रीति की बेनाम पाती हो
कौन हो तुम कौन हो
क्या राधा जैसी सखी हो
या कविता अनलिखी हो
कौन हो तुम कौन हो
तुम मेरी संवेदना हो
सह रहा वह वेदना हो
कौन हो तुम कौन हो
प्यासे मन की प्यास हो
जीने की अब आस हो
कौन हो तुम कौन हो

संपर्क: २२, सरकार लेन,
कोलकाता- ७००००७, मो. ९८३१३२१२५७

डॉ. सुधा उपाध्याय

असबाब-ए-उम्मीद

बहुत सी उम्मीदों का असबाब बांधकर,
 अम्मा मैंने एक घर बनाया है....
 रहूँगी मैं वहाँ तुम्हारे साथ,
 रहेगी मेरी बिटिया भी वहीं मेरे साथ
 घर के बाहर लगी होगी तख्ती तुम्हारी नातिन की
 अम्मा मैंने एक घर सजाया है....
 सजेगी फर्श तुम्हारी निश्छल मुस्कुराहट से
 रंगेगी हर दीवार हमारे कहकहों से
 लगाउंगी घर के कोनों में बड़ा सा आइना
 जहाँ दिखेंगे हमें हमारे पुरुष
 अम्मा मैंने एक घर बसाया है....
 आसमान की अलगनी पर सुखाउंगी तुम्हारी धोती
 अपनी सलवार कमीज और बिटिया की शर्ट पैंट
 आँगन में बिराजेंगे तुम्हारे शालिग्राम भगवान
 रसोयी में महकेगा सालन तुम्हारे हाथ का
 छत पर सुखायेंगे हम अपने अपने आंसू
 बस तुम लौट आवो अम्मा....
 हम भी बना सकती हैं
 सजा सकती हैं
 बसा सकती हैं
 एक मुकम्मल घर

बुरा हुआ...जो...सो हुआ

अब इस से बुरा और क्या होगा???
 कि नहीं चिरैया अपने ही रंग रूप से है इन दिनों परेशान
 अपने हर हाव भाव पर, फुदक चहक पर
 हो रही है सावधान
 उसने, खुद अपने दाने चुगने, आँगन आँगन,
 फुर्र फुर्र उड़ने पर ही लगा ली है पाबंदी
 समेट ली है अपनी हर मोहक अदा...
 बेपरवाह पंखों को समेट

उड़ जाना चाहती है नहीं चिरैया...
 नहीं बसाना चाहती कोई घोंसला
 तिनके तिनके जोड़कर
 आंधी तूफान, तेज बारिश से भी ज्यादा डरने लगी है
 उन बहेलियों से जो पुचकार कर दाना खिलाते हैं
 रंग बिरंगी बर्ड हाउस तंग देते हैं रेलिंगों पर
 वहाँ कोई आशियाना नहीं बसना चाहती नहीं चिरैया
 फुसलाने, बहलाने के सम्मोहन से
 आजाद होना चाहती है नहीं चिरैया
 डरने लगी है बेहिसाब
 अपने ही रंग रूप हाव-भाव फुदक चहक...
 हर अदा पर अब नहीं चिरैया...

आखिर कब

एक ही सपना देखती हूँ आजकल
 मैं एक नन्हें बच्चे में तब्दील हो चुकी हूँ
 हाथ में कूची और रंग लिए हँस हँस कर
 मैंने नीले नीले पहाड़ रंग डाले
 आकाश पर समुद्र और धरती पर सूरज उतार लायी
 सारे पंछी जमीन पर रेंगने लगे
 हाथी घोड़े ऊंट उड़ने लगे
 चंदा मामा नदी में नहा रहे थे
 सूरज चाचू कपड़े धोने लगे
 आकाश में हरी-हरी दूब उग आई
 वहाँ रेत थी, ईंटें भी, झोपड़ियाँ भी
 बहुत उड़ने वालों को समझ में आ रही थी
 अपनी औकात
 सारे बच्चों की गेंदें आकाश में उछल रही थीं
 चलो मैदान ना सही
 आकाश तो था खेलने की खातिर
 पर नींद यहीं आकर खुल जाती है...
 आखिर कब सपना पूरा होगा?...

संपर्क: बी-३, स्टॉफ क्वार्टर्स, जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज,

सर गंगाराम अस्पताल मार्ग, नई दिल्ली-११००६०, मो. ९९७१८१६५०६

डॉ. सारदा बैनर्जी

हिमा दास

भारत को पांच बार स्वर्ण पदक जिताने वाली
महिला खिलाड़ी ही तुम नहीं हो हिमा!
तुम्हारा परिचय पदक नहीं सिर्फ
तुम एक अदम्य संघर्ष हो
एक धारा परिवर्तन की ओर

वह भारतीय स्त्री

जिसे ढककर कपड़े पहनने के
मंद गति से चलने, धीरे-धीरे हँसने के
अनेकानेक उपदेश दिए जाते रहे हैं
आज अपनी गंगी भुजाओं और
नंगे पैरों की दुर्धर्ष गति से
देश को गौरव के ताज से नवाज रही है
जब तुम दौड़ती हो तब रेस की सीमा को
अतिक्रमण ही नहीं करती हिमा!
पितृसत्तात्मक मूल्यों और सिद्धांतों का भी करती हो;
जब तुम दौड़ती हो तब भारत ही नहीं दौड़ता सिर्फ
सदियों की प्रताड़ना से मुक्त एक स्त्री दौड़ती है
जब मैदान में चार सौ मीटर के लिए
टी-शर्ट और हाफ पैट में
तुम लक्ष्य साधती हो, तब
दुनिया की सबसे खूबसूरत स्त्री दिखती हो
भारत विश्वसुंदरियों का खिताब पाने वाला
देश ही नहीं है यह कर दिखाया तुमने
भूखी लड़कर अपने सपनों को दिशा देने वाली
गरीब लड़कियाँ ही तो असली भारत है
भ्रूण हत्या, दहेज हत्या के भारतीय इतिहास में
तुम और तुम्हारी जैसी असंख्य लड़कियाँ

एक मशाल हो हिमा!

तुम्हारी बढ़ती दिशा उद्घाटित सत्य है
कि देश बदल रहा है
हिमाएँ मैदान में हैं अब
पितृसत्ता की जड़ें इतनी मजबूत नहीं कि
रौंद दे तुम्हारे पैर।।

बोटल में स्त्री

समाज ने स्त्री की आत्मा को
एक बोटल में कैद कर रखा था
शुरु में छटपटाहट महसूस हुई
फिर उसने स्वयं को ढाल लिया
वह बोटल में रम गई
उसे सजाती, सँवारती, खुश रहती
ठीक जैसे कोल्ड कॉफी के काँच का मग
चॉकोलेट और रंगीन क्रीमों से डिजाइन्ड
कभी वह रंगहीन सफेद पानी-सी हो जाती
कभी रंगीन पानी में तैरते बर्फ-सी डूबती-उतरती
एक दिन उसका मन न लगा
उसने बोटल को कर दिया खाली
बाहर की हवा जब बोटल में आने लगी
तो स्त्री की आत्मा तड़प उठी
वह बाहर निकल आई
रोम-रोम में उन्मुक्तता का बोध हुआ
पिंजड़े से छूटी पक्षी की भांति चहकी वह
खुली हवा और बोटल का अंतर पता लगा
बोटल से बाहर आई हुई स्त्री को
फिर अंदर नहीं डाला जा सकता
उसने कैदगाह को तोड़ डाला।

संपर्क: अतिथि प्राध्यापक, सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज,
१०, राजा नवकृष्ण स्ट्रीट कोलकाता-७००००५, मो. ९०३८७९४७३८

डॉ. वंदना गुप्ता

प्रेम कविता

प्रार्थना है
कविता
प्रेम की
मधुर भाव
लिए
फूलों सरीखी
देती रंग, भाव
सुगन्ध
भिगोती
उर अन्तर।

ख्वाहिशें प्रेम की

लो
यह है तुम्हारा
हरा, नीला, काला
लाल पीला केसरिया
सारे रंगों से भरा
कला चित्र
जिनके रंग
फैले हैं
धरती पर
मैंने तलाश लिया है
इनमें जीवन
केसरिया आध्यात्म का

पीला विरह का
लाल वस्त्र का
रंग सुरु गुरु
महरुमियत का
भर दी है इनमें
मैंने
मयूरपंखी ख्वाहिशें
प्रेम की।

एक नाकाम कोशिश

मैंने बार-बार कोशिश की
हमारे मध्य उगी
नागफनी को
उखाड़ फेंकने की
रोपना चाहा उसमें
उम्मीद का ढाई बीज
मगर हो न सका
संवेदनाओं की खाद
पहले ही से दूषित थी
मैंने बार-बार कोशिश की
अहम् के कागज पर
उकेर दूँ इन्द्रधनुषी सपने
मगर गिले-शिकवों के मध्य
मधुरता की ख्वाहिश
न जाने कहाँ गुम हो गई

जज्बातों के पैर तो
पहले ही उल्टे पड़ रहे थे
मैंने बार-बार कोशिश की
और अब भी करता हूँ
वो जो अपना था
रुठकर चला गया
वापस आ जाए
मगर ये हो न सका
जज्बातों और संवेदनाओं की
टकराहट में
घुल गये अरमानों के
आसमानी सपने
हवा ने तो पहले ही
रुख बदला था।

एक शिला हूँ मैं

जरा
आहिस्ते
रखो कदम
दिल की
दरकती
जमीं पर
अभी मातम से
गुजरी
एक शिला हूँ
मैं।

संपर्क: ड्रीम वेली, डागापुर सेकेंड ब्लॉक, ५वाँ तल्ला,
सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग-७३४००३, मो. ९४३४८०९५५६

मानसिक द्वंद का इलाज है कविता

डॉ. कृष्ण कुमार

पीड़ा एवं प्रकृति के संभोग से कविता का जन्म होता है; ऐसा आदि कवि वाल्मीकि तथा वियोगी जैसे मनीषी मानते रहे हैं। मेरी काव्य-यात्रा की शुरुआत, १९५० के पूर्वार्ध में, एक अजीब घटना के फलस्वरूप हुई थी। मैं अपने जन्म स्थान बहराइच, जिसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने दोहावली के दोहा ४९६ में इस प्रकार किया है:

लही आँख कब आंधरें, बाँझपूत कब ल्याइ।

कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ।।

और यह माना जाता है कि उनकी ननिहाल भी बहराइच में ही थी। मैं सरकारी उच्चतर विद्यालय का छात्र था और पास के नानपारा का निवासी आर्यसमाजी प्रताप कुमार सक्सेना मेरा सहपाठी था। उस समय मैं गद्य लेखन एवं वाद-विवाद के लिए जाना-माना जाता था। पढ़ाई में भी प्रताप के अंक सभी विषयों में मेरी अपेक्षा कम ही आते थे। प्रताप छात्रावास में रहते हुए मेरे घर आता-जाता रहता था। आर्यसमाज के उत्सवों में प्रताप स्वरचित कविताएँ पढ़ने का अभ्यस्त था। एक दिन प्रताप ने मुझे चुनौती देते हुए कहा, “किशन तुम हर चीज में बाजी मार ले जाते हो किंतु तुम कुछ भी कर लो कविता नहीं लिख सकते।” मैंने उस समय तो यह कहकर बात टाल दी थी कि तुम ठीक ही कहते हो। किंतु मैंने चुनौती को स्वीकार करते हुए उसी दिन शाम को एक कविता लिख कर सबसे पहले माँ को दिखाया। माँ सब समझ गई क्योंकि कविता स्वतंत्रता सेनानी चाचा को संबोधित थी, जो घर छोड़ कर चले गये थे, जिनके बारे में माँ यदा-कदा बात किया करती थी। दूसरे दिन माँ ने कविता प्रताप को दिखाई; उसने मात्र इतना ही कहा कि किशन अब मैं कभी भी तुमको चुनौती नहीं दूँगा। और इस प्रकार मेरा काव्य लेखन प्रारंभ हुआ। बाद में तो मैं लोगों की समस्याओं का समाधान कविता के माध्यम से करने लगा। गद्य लेखन छूट सा गया; कविता की धारा बहती रही। १९५८ में कुछ कारणों से अपनी प्रेयसी, कविता, से अवकाश लेना पड़ा। और यह क्रम १९८० तक चला जब माँ मेरे जीवन से संतुष्ट हो चुकी थीं। अब उन्हें मेरी कविता से कोई मलाल नहीं था। मेरे कविता का निर्झर पुनः बहने लगा।

१९८० के बाद मेरी कविताओं में अध्यात्म एवं भारतीय दर्शन मुखर होकर आने लगा और लोग मुझे दर्शन का कवि कहने लगे। मेरी अधिकतर कविताएँ आध्यात्मिक विचारों के साथ समाज की विषमताओं को दर्शाते हुए जिंदगी और मौत के शाश्वत पहलुओं के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। यह विषय अनायास ही मेरी कविताओं में घुसपैठ १९९५ से करता रहा है। समस्या पूर्ति आज भी मेरी कविताओं में समाया रहता है, सम्भवतः मेरा चिंतन कहीं न कहीं गांधी जी की कवि-कविता की सोच से ताल-मेल बैठाता रहता है जो उन्होंने जॉन रस्किन की पुस्तक ‘अन टू दिस लास्ट’ के संबंध में कहा था। कविता मेरे लिए अपने आपको बहलाने का एक साधन है; मानसिक द्वंद का एक इलाज। या यूँ कहें कि कविता मेरे लिए निराकार एवं साकार दोनों हैं; ‘बिनु पग चलै, सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।’ की तरह और इस पर मेरा कोई अधिकार भी नहीं। आज की कविता का स्वरूप गति से बदल रहा है; गद्य एवं पद्य आपस में सिमट से गये हैं। मेरे विचार से कविता को निर्झरिणी की तरह बहना चाहिए तथा वह चाहे लयबद्ध हो या न हो इसमें कुछ गेयता तो होनी ही चाहिए।

बार-बार यह प्रश्न उठा है
बार-बार यह
प्रश्न उठा है
हम जीवन में
जो करते हैं
क्यों करते हैं?
क्यों कोई
पूजा करता है?
मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर में
शीश नवाता
और कोई है
लूटमार के पथ पर चलकर
केवल लोगों का दर्द बढ़ाता
खून बहाता
और चैन से
सो भी जाता।
उत्तर इनके छिपे हुए है
लोगों की जीवन शैली में
है जिसका संचालन होता
जो विचार बन कर आता है
मानव मन पर छा जाता है।
सदियों पहले इसी तथ्य को
था रखा चाणक्य गुरु ने
और कहा था-
'है विचार भाषा बन जाता
जो कर्म में हो परिवर्तित
मानव की आदत बनता है
जो गढ़ता उसका चरित्र है
फिर जीवन शैली बन जाता
और भाग्य उसका बन जाता
तरह-तरह के कृत्य कराता
और मनुज को दनुज बनाता
मानवता का गला घोटकर
दानवता को गले लगाता
मानव भर माता जाता
इसीलिए यह प्रश्न उठा है।

तब, अब और कल
पहले कुशल-क्षेम की खातिर
खत आते थे
खत जाते थे
भाव भरे होते थे जिनमें
प्रेषक का दिखता चेहरा था
दिल का दर्द झलकता था
आँखों में आँसू आते थे
बिना कहे सब कह जाते थे।
शिल्प विज्ञान ज्ञान के युग में
मानव है रोबोट हो गया
कल पुर्जो से जो चलता है
नहीं चेतना जिसमें कोई
औभावों से शून्य हो गया।
तीव्र बदलते अब समाज में
मेल और ट्वीटर होता है
व्हाट्सऐप में होड़ लगी है
जिसमें अब सब कुछ होता है।
ये सब शीघ्र बदल जाएंगे
आनेवाला कल क्या होगा?
मानव मन यह समझ रहा है
सन्नाटे के कोलाहल में
झांक रहा है।

इंसान को
आदिकाल से
सब रहे
आधे और अधूरे
और ऐसे ही रहेंगे
अंत तक।
पूर्णांशु तो कही
छिपा धरा है
है नहीं जिसका पता
इस भौतिकी
इंसान को।

कैंसर का दंश
हर तरफ
जिंदा चिताएं
जल रही हैं
और हाहाकार
उठता है धरा से
हैं सभी
बेबस खड़े
भौचक पड़े
किंतु कोई कुछ नहीं
कर पा रहा है
समय का यह चक्र
चलता जा रहा है
कोई कहता वह युवक
जो कल गया था
रात भर सोया नहीं था
प्रियजनों का मौन
गुंजन कर रहा था।
कोई कहता पेट का कैंसर
उसे था
कोई कहता
समय ने मारा उसे था
हर तरफ से
एक ही आवाज आती
नियति की यह चाल
क्यों सबको रुलाती?
क्यों सभी को?
रोग यह अब खा रहा है
कैंसर के दंश से
संसार सारा हिल रहा है
इस प्रकृति की मार से
बचना असंभव
आदमी का द्वंद्व
बढ़ता जा रहा है।

सागरमंथन से

सागरमंथन से निकले
गरल-सुधा द्वै
शिव ने सारा गरल पिया तो
सुधा कलश ले दानव भागे
देव लोक में हलचल आई
सृजनहार की तब माया से
यह अमृत देवों ने पाया।
अमृत के अनुपम प्रभाव से
ग्रंथ हमारे भरे पड़े हैं
पाने को अमरत्व तभी से
मनुज पंक्ति में खड़े हुए हैं
क्या यह मात्र कल्पना ही है?
या फिर कभी न मिलनेवाला
मृत्युलोक का मानव सच।
किंतु जहर की बात और है।
दो प्रकार के विष
इस जग में भरे पड़े हैं-
वैचारिक विष
वितरित होता है
मानव विषधर से
और दूसरा भौतिक विष है
जो वितरित होता रहता है
सर्पादि के समूह से
निज रक्षा में
बच-बचाव में।
निर्मल मन
यह प्रश्न कर रहा
यह विष इनमें कैसे आया?
क्या शिव ने ही
इनमें डाला, या

फिर माया है प्रकृति की।
मकड़जाल को बहुत खंगाला
किंतु न कोई उत्तर पाया
शोध निरंतर प्रगतिशील है
है विज्ञान बताता जग को
प्रश्न हुआ तो उत्तर होगा।

घर से बाहर

घर से बाहर
जब जाता हूँ
ठगा हुआ खुद को पाता हूँ
आखिर ऐसा
क्यों होता है?
सोच-सोचकर
घबराता हूँ
थर्राता हूँ
खड़ा- खड़ा ही
गिर जाता हूँ।
गिरने में
उठने का सुख है
जैसे खोने में
पाने का
यही सोचकर
उठ पाता हूँ
बार-बार गिरता हूँ
लेकिन
कोई एक सहारा पाकर
बार-बार फिर उठ जाता हूँ।
इस जीवन का
यही सत्य है
उठना-गिरना
आजीवन है।

भूलना

भूल जाना
है नहीं अपराध कोई
भूल में रहना
मगर अपराध है
भूल करना
है नहीं अपराध कोई
भूल ही करना
मगर अपराध है
भूलकर जाना न जाना
है नहीं अपराध कोई
भूलते रहना
मगर अपराध है
है बनी यह सृष्टि जब से
भूल मानव कर रहा है
यह गर मानव न करता
तो स्वयं भगवान होता
और धरती पर न कोई
बुद्ध, नानक, राम रोता
भूल के ही व्याकरण से
काल अब तक चल रहा है
और जिसकी परिधि में
संसार सारा आ रहा है
यह अचेतन चित्त ही तो
भूल का कारण रहा है
जो समस्याएँ बढ़ाकर
चेतना को हर रहा है।

परिचय:

विलक्षण प्रतिभा के धनी डॉ. कृष्ण कुमार पेशे से अभियन्ता होते हुए भी भाषा और साहित्य के संसार को अपनी लेखनी से सजाने-सँवारने का कार्य करते रहे हैं। वे कई भाषाओं के पंडित हैं। विशेषकर अंग्रेजी और हिंदी में उनका प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। उनके जीवन और साहित्य का विवरण इस प्रकार है: इनका जन्म १४ फरवरी १९४१, बहराइच, उत्तर प्रदेश में हुआ। १९५४ से ही कविता लेखन के प्रति जबर्दस्त रुझान बना, लेकिन माताश्री से वचनबद्ध हो उन्होंने अपना पूरा ध्यान 'कैरियर' बनाने में लगा दिया और लंबे समय तक कविता नहीं रच पाये। आठवें दशक में उनके साथ फिर 'छंद का बंध' जुड़ गया जो आज तक अबाध रूप से जारी है। अब तक इनकी २६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिसमें ८ काव्य संग्रह, ३ कहानी संग्रह एवं २ निबंध संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तकें अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में हैं। उनके काव्य संग्रह इस प्रकार हैं- 'मैं अभी मरा नहीं' (ज्ञान भारती, दिल्ली, १९९९), 'चिंतन बना लेखनी मेरी' (ज्ञान गंगा, दिल्ली, २००३), 'लेकिन पहले इंसान बनो' (विचार कविता प्रकाशन, दिल्ली, २००५), 'अक्षर-अक्षर गीत बने' (गीत संग्रह, प्रभात प्रकाशन, इलाहाबाद २००९), 'एक त्रिवेणी ऐसी भी' (ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली २००९), 'नर्तन करते शब्द' (प्रतिभा प्रतिष्ठान, दिल्ली २०१२), 'कैंसर कविताएँ' (अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद २०१६), 'गुनगुनाते शब्द' (गीत संग्रह, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली २०१७)। कविताओं के अतिरिक्त इनकी हिंदी में तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। जिनका नाम इस प्रकार है: 'क्यों, क्यों और आखिर क्यों' (ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली २००९), 'और कथाएं ऐसी भी' (नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली २०१४), 'जो हम अब तक भूल न पाए' (आधारशिला प्रकाशन, २०१६)। 'भाषा साहित्य और राष्ट्रीयता' (सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली २०११) तथा 'आज का विचार' (वाणी प्रकाशन, दिल्ली २०११) एवं कई अन्य निबंध संग्रहों का प्रकाशन। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत सारी पुस्तकों का संपादन एवं अनुवाद भी किया है। सन् १९९५ में 'गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय' बर्मिंघम (यू.के.) में गठन किया। यह संस्था आज भी अपने महत्वपूर्ण साहित्यिक, सांस्कृतिक क्रियाकलापों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्यात है। यू.के. से प्रकाशित होने वाली बहुभाषी त्रैमासिक पत्रिका 'पुरवाई' का संपादन कार्य लंबे समय तक किया। इन्होंने भारत के दूरदर्शन एवं रेडियो में कई साक्षात्कार एवं भागीदारी दी तथा भारत एवं यू.के. के समाचार पत्रों में साक्षात्कार एवं भागीदारी की। हिंदी साहित्य की सेवा के लिए इन्हें देश एवं विदेश में कई सम्मान से नवाजा जा चुका है।

संपर्क: २१ बिडफर्ड ड्राइव, सेली ओक, बर्मिंघम

बी २९ ६क्यू जी (यू.के.), दूरभाष: ००४४१२१४७२५४६४

ईमेल: profdrsinha@gmail.com

विदाई से पहले

अभिज्ञात

वे तीन थे। राकेश, रोहित व रोहण। उच्च मध्यवर्ग के। युवा। मित्र। जीवन के दुःखों से उनका कोई वास्ता नहीं पड़ा था। इसलिए सुख की गहराई का भी भान नहीं था। वे सुरुचि सम्पन्न थे। जीवन को समझने की ललक थी। थोड़ा बहुत साहित्य पठन-पाठन का चस्का उन्हें लगा था इसलिए एक खास किस्म की आवारगी और थोड़ी-बहुत घुमक्कड़ी का भी चस्का लगा था। कुछ अरसे बाद वे फिर जुटे थे। तीनों की मोटरसाइकिलें किसी अनजान पथ की ओर जाने को आतुर थीं।

और तीनों चल पड़े। सिक्का उछाल कर। उत्तर और दक्षिण दिशा में से एक का चुनाव करना था। सिक्के ने उत्तर दिशा का पथ निर्देशित किया। पूरब-पश्चिम की यात्रा वे कुछ अरसा पहले कर चुके थे।

बाईक ने गति पकड़ी और उन्होंने अपने आप को देहात के इलाके में पाया। निर्जन से लगते खेतों के बीच एक घर देखकर उन्होंने बाईक रोक दी। घर के सामने दो खाटों पर एक प्रौढ़ा गेहूं पसारे हुए बैठी थी। उसने गेहूं धाए थे और उनके सूखने की प्रतीक्षा कर रही थी। कोई पक्षी चट न कर जाये इसलिए उसे अगोर रही थी। एक-एक कर तीनों ने महिला के पैर छुए। महिला हकबका कर उन्हें देखने लगी। राकेश ने कहा- 'मौसी पहचाना मुझे? मैं हूं राकेश...'

महिला दिमाग पर ज़ोर डालते हुए- 'तुम सावित्री के बेटे हो ना...?'

राकेश- 'अरे वाह! पहचान लिया। इतने दिन बाद भी आपकी याददाश्त तेज़ है... वरना मुझे भी आपको पहचानने में थोड़ी दिक्कत हुई थी... और सुनाइये कैसी हैं.. मां तो आपको बहुत याद करती है...'

महिला- 'हां, सावित्री बहुत भली लड़की है। मेरी ही क्लास में पढ़ती थी मगर उम्र में वह मुझसे डेढ़ साल छोटी थी... उन दिनों दिमाग की बहुत तेज़ थी। गाती कितना अच्छा थी। उसे बहुत से लोकगीत याद थे। तुम्हारी नानी से उसने सीखे थे... अरे, बातों-बातों में मैं तो भूल ही गयी ये दोनों कौन हैं?'

राकेश- 'ये दोनों मेरे दोस्त हैं। हम तीनों ही पास ही के एक गांव में शादी में जा रहे थे। मां को जब पता चला कि हम इस तरफ जा रहे हैं तो चलते समय कहा था मेरी सखी की खोज

खबर लेते आना..इसलिए हम यहीं रुक गये..!!'

महिला- 'अच्छा किया। मैं भी इधर मैके बहुत दिनों से नहीं गयी हूँ..सीतारामपुर..दो साल पहले गयी थी तो तुम्हारी मां भी आयी थी..उसी समय का उसे देखा है..तुम्हें भी उसके बाद अब देख रही हूँ..मां से कहना ईमरितिया की बेटी का ब्याह सीतारामपुर से ही होना है। उसमें वह ज़रूर आये। सारी सखियों की मुलाकात हो जायेगी। ईमरितिया हमसे जूनियर थी एक क्लास...खैर रुको में तुम लोगों के लिए खाने का कुछ इन्तज़ाम करती हूँ...'

राकेश- 'नहीं हमें अभी शादी में जाकर खाना होगा..आप रहने दीजिए...'

महिला- 'तो फिर रुको लस्सी बनाती हूँ, घर की गाय के दूध की दही जमाया है..'

और वह महिला घर में जाकर लस्सी बनाकर लाती है।

तीनों मित्र मुस्कुराते हैं। लस्सी पीकर जब वे चलने लगे...तो महिला ने कहा- 'तुम लोग जा रहे हो..तुम्हारे मौसा जी पास ही के गांव गये हैं..आ गये होते तो तुम लोगों को देखकर बहुत खुश होते।' और वह चलते-चलते सौ का एक तुड़ामुड़ा नोट राकेश को थमा देती है- 'बेटा यह रख लो। अभी हाथ तंग है। फिर भी बच्चे को खाली हाथ नहीं भेजते...इसे शगुन समझो..!!'

राकेश हतप्रभ सा रह गया। वह इनकार करता किन्तु महिला का प्रेम देख उसकी आंखें भर आयीं..वह चाह कर भी रुपये लौटा नहीं पाया।

- 'और हां सुनो यहां से सीधी सड़क से जाना। पांच मिनट बाद ही बायीं ओर है मुमताज़नगर उसी में शादी है शायद वहीं तुम्हें जाना है। सम्भल कर जाना और हां, मां से कहना ईमरितिया की बेटी की शादी में ज़रूर आये वहीं मुलाकात होगी। तुम भी आना..बहुत अच्छा लगेगा...!!'

वे चाहते थे कि अपने अनुभव पर खुश हों कि उन्होंने महिला को किस तरह बेवकूफ बनाया। उसकी लस्सी मुफ्त में पी गये। और तो और उल्टे उससे सौ रुपये भी ऐंठ लिये...लेकिन तीनों का मन भारी हो उठा था। वे महिला की हरकतों

पर हंस नहीं पा रहे थे और उन्हें लग रहा था कि वे कुछ पाकर नहीं बल्कि कुछ खोकर जा रहे हैं। यह ऐसा अनुभव था जिसको बयां करने के लिए उनके पास फिलहाल शब्द नहीं थे।

राकेश ने सौ के उस नोट को सहेजकर बैग में रख दिया। इस नोट में से वह बंटवारा नहीं करेगा। वह उसके लिए एक आशीर्वाद की निशानी थी।..वह महिला उसे सगी मौसी ही लगी थी..जो मनोभाव उसने महिला के चेहरे पर देखा था, वही उसके अपने मन में भी जगा था जो मौसी के लिए होता है।

और कुछ देर बाद वे सचमुच वहीं गये जहां कथित मौसी ने कहा था। सड़क के बायीं ओर दूर से ही गांव में एक शामियाना दिखायी दे रहा था..और शादी ब्याह में गाये जाने वाले गीत लाउडस्पीकर पर बज रहे थे। तीनों ने बाईक का रुख उधर ही मोड़ लिया।

बाईक खड़ी करते ही एक बुजुर्ग ने उन्हें गौर से देखा फिर उतावलेपन से बोला- 'बच्चों अब आ रहे हो...।'

रोहित ने पैर छूते हुए कहा- 'चाचा जी पापा नहीं आ पा रहे हैं..मुंबई से कल ही गांव पहुंचे हैं।'

- "कोई बात नहीं तुम आ गये यही बहुत है...वरना लाजवंती की मौत के बाद तो तुम्हारे घर से रिश्ता ही खत्म हो गया था...कई साल बाद फिर आना-जाना शुरू हो रहा है तो कम नहीं है..हमने तो बस यूं ही न्योता भेजा था कि शायद कोई आ जाये..अवधेश नहीं आया तो कोई बात नहीं..अरे कभी तो उसकी मुंहबोली बहन इस घर में ब्याही थी....तुम्हें भेज दिया..यूं भी मुंबई वालों को गांव आने पर भी फुरसत कहां रहती है...जल्दी से हाथ-मुंह धो लो और कामकाज में जुट जाओ...बहुत से काम पड़े हैं...और हां, दालान के किनारे वाला कमरा तुम लोग ले लो। उसी में विश्राम करो...!'

तीनों ने एक दूसरे को देखा। उनके चेहरे पर मुस्कान उभरी। तरकीब फिर काम कर गयी थी।

वे तीनों नाश्ता करने के बाद सचमुच कामकाज में जुट गये। दरी कहां रखी है, जलपान की व्यवस्था क्या

है..कुर्सियां कहाँ रखी जायें, मेहमानों का स्वागत कैसे होगा, खाने में कब क्या परोसा जायेगा... सारी व्यवस्थाओं में उनकी पैठ हो गयी थी। यहां तक कि उनका प्रभार भी उनके जिम्मे आ गया था।

शादी हो रही थी मुमताज़पुर गांव की कुसुम का। बारात पास ही के गांव खरहा से आनी थी। और आयी। ट्रैक्टर पर आगे ड्राइवर के पास दूल्हा बैठा था और साथ सहबाला। दूल्हा पचास की उम्र का रहा होगा। औरतें आपस में बात कर रही थीं उसी से उन्हें पता चला कि यह दूल्हे की दूसरी शादी है। दिवंगत हो गयी पहली पत्नी से से भी दो संतानें हैं। किसी सरकारी महकमे में चपरासी की नौकरी करता है और लड़की के पिता का दोस्त है।

बारात दरवाज़े पर आ गयी। कुसुम की मां की कर्कश आवाज़ आयी - “कुसुम तैयार हुई की नहीं...उसे मंडवा में बैठना है अब शादी की रस्में आरम्भ होंगी..।”

रोहण ने सुना। वह उधर से गुज़र रहा था।

गांव की एक औरत ने रोहण से कहा-“बेटा पता करो कि कुसुम तैयार हुई कि नहीं वरना जाने से पहले भी उसे अपनी सौतेली मां की चार बातें सुननी पड़ेंगी।”

रोहण उस कमरे की ओर बढ़ गया जिस ओर उस महिला ने इशारा किया था..किवाड़ अधखुला था। रोहण ने आहिस्ता से किवाड़ के भीतर झांका..कमरे में कुसुम अकेली थी और आईने के सामने शृंगार के लिए बैठी थी।

रोहण ने पूछा-“कुसुम क्या तुम तैयार हो गयी?...अब तुम्हें मंडप में जाना है।”

कुसुम ने पलट कर उसे देखा-“रोहण जी, आप लाजो दीदी के घर से आये हैं न! कोई बता रहा था। बैठिये खाट पर मैं अभी तैयार हो जाती हूं।”

रोहण-“लेकिन तुम तो तैयार हुई ही नहीं.. यह क्या शृंगार किया है... तुम्हें तो ठीक से संवरना भी नहीं आता...क्या मैं तुम्हें तुम्हारी मदद करूं। मैं नाटकों में काम करता रहा हूं और मुझे मेकअप की अच्छी समझ है। झिझको नहीं... मैं तुम्हारा मेकअप कर देता हूं।”

और रोहण ने उसका मेकअप कर दिया।

इस बीच उनकी बातें होती रहीं...

रोहण-“तुम कहाँ तक पढ़ी हो...?”

कुसुम-“कक्षा नौ तक..अब दसवीं में जाने वाली थी..”

रोहण-“क्या तुम्हें पता है तुम्हारी शादी जिससे हो रही है उसकी उम्र क्या है और वह पहले से शादीशुदा है..?”

कुसुम-“हां, उनके दो बच्चे हैं..बड़ी बेटी मेरे ही बराबर है..और वे मेरे पापा के दोस्त हैं..”

रोहण-“क्या तुम्हें कोई ऐतराज नहीं..?”

कुसुम-“जो पापा चाहते हैं मैं उसी में खुश हूं।”

रोहण-“क्या यह तुम्हारी सौतेली मां ने तय किया है.. सुनते हैं वह तुम्हें बहुत सताती है..”

कुसुम-“नहीं मां का कोई दोष नहीं है। मैं बहुत छोटी थी तो मेरी मां मर गयी। मेरे पापा ने मेरे लिए ही मेरी सौतेली मां से शादी की। उस समय मेरी सौतेली मां भी बहुत कम उम्र की थी। मेरी सौतेली मां को कुछ नहीं मिला। मेरे कोई-भाई बहन नहीं हुए। पापा अब भी मेरी मां को भूल नहीं पाये हैं। मेरी सौतेली मां का स्वभाव धीरे-धीरे कठोर होता चला गया। वह दिल की बहुत अच्छी है मगर वह अपना दिल किसी के सामने नहीं खोलती। मेरे पापा कर्ज में डूबे हैं। यदि मेरी शादी नहीं होगी तो उनका कर्ज भी अदा नहीं होगा। मेरी मां के इलाज में मेरे पापा ने सारे खेत बंधक रख दिये थे। मेरे होने वाले पति मेरे पापा के सारे कर्ज चुकता करने वाले हैं और हमारे खेत उन्हें वापस मिल जायेंगे। मैं इसलिए खुश हूं कि मैं अपने पापा के किसी काम तो आयी।”

रोहण-“कुसुम तुम बहुत नेकदिल हो। मैं तुम्हें पसंद करने लगा हूं। मेरे पापा अमीर हैं। मैं तुम्हारे पापा के कर्ज चुकता कर दूंगा। तुम यह शादी मत करो। यह दूल्हा तुम्हारे लायक नहीं है। मैं तुमसे शादी कर लूंगा। फिलहाल तो तुम इस शादी से इनकार कर दो और कुछ दिन बाद हम शादी कर लेंगे। या फिर मेरे साथ भाग चलो.. यूँ भी तुम्हारी उम्र कम है...वे किसी नाबालिग की शादी नहीं कर सकते.. पुलिस तुम्हारा साथ देगी।”

कुसुम-“क्या कह रहे हैं रोहण जी? मैं ऐसा कुछ नहीं करने वाली। यह सब करने से मेरे पापा गांव में मुंह

दिखाने लायक नहीं रहेंगे। फिर मेरे जीने का क्या अर्थ। मेरी सौतेली मां कैसे जियेगी... उसने तो कोई सुख देखा ही नहीं। गांव वालों के ताने कैसे सुनेगी। अब आप जाइये। मैं साड़ी बदल कर मंडप में आ रही हूं। मेरी मां से कह दीजिएगा, अब और देर नहीं होगी।”

रोहण कमरे से बाहर निकला तो सन्न रह गया। बाहर कुसुम की सौतेली मां खड़ी थी और शायद उसने दोनों की सारी बातें सुन ली थीं... क्योंकि उसकी आंखों में आंसू थे... उसने रोहण से कुछ नहीं कहा।

शादी हो चुकी थी। बाराती खा-पीकर अपने शामियाने में लौट चुके थे। गांव के एक प्राइमरी स्कूल में उनके ठहरने की व्यवस्था की गयी थी।

सुबह की पहली किरण फूटने से पहले ही बेटी की विदाई होनी थी। मुश्किल से दो-तीन घंटे बचे थे। घर वाले झपकी ले रहे थे। राकेश, रोहित व रोहण भी अपने कमरे में विश्राम कर रहे थे। उन्होंने पहली बार लोगों को पंगत में खाना परोसा था। इस नये अनुभव से वे रोमांचित थे किन्तु थोड़ा थक गये थे। रोहण को नींद नहीं आ रही थी। वह दोनों को जगाकर बता रहा था कुसुम के बारे में। वह सारी बातें जो उसके व कुसुम के बीच हुई थीं। और यह भी कि कुसुम के त्याग व भोलेपन पर वह फ़िदा हो चुका है। कुसुम के प्रति उसके दिल में एक खास जगह बन गयी है। तभी कहीं से एक

हल्की सी आवाज़ सुनायी दी। रोहण ने दोस्तों से कहा- “सुनो, यह कैसी आवाज़ है, अब क्या हो रहा है?”

रोहित ने मज़ाकिया लहजे में कहा- “यार, तुम्हारी हिरोइन आंगन में झाड़ू लगा रही होगी.. वह सर्वगुण सम्पन्न जो ठहरी..”

राकेश- “यारो अब इतना भी न फेंको, चलो देख ही लेते हैं आखिर रोहण साहब का इस घर से दिल का जो रिश्ता है!”

तीनों उठकर खड़े हो गये और उन्होंने आवाज़ का पीछा किया... यह क्या... सचमुच कोई आंगन में झाड़ू लगा रहा था.... और वह कुसुम ही थी.. जिसकी अभी-अभी शादी हुई थी... और जाने से पहले वह अपने आंगन को साफ़ कर रही थी।

तीनों अवाक् यह दृश्य देखते रहे और उनका मन भींगता रहा... तीनों लौटे लेकिन कोई किसी से एक शब्द नहीं बोल पाया।

भोर की पहली किरण फूटने से पहले रस्म के अनुसार कुसुम विदा हो गयी। पति के साथ ट्रैक्टर पर आगे बैठकर। विदा के वक्त सिर्फ़ पिता नहीं रोये थे... उसकी सौतेली मां भी सचमुच फूट-फूटकर रोई थी। गांव वालों की आंखें भी नम थीं और उन तीनों की आंखों में भी आंसू थे, जो ज़िन्दगी के नये अनुभव से गुज़रने आये थे।

संपर्क: सन्मार्ग, १६० बी, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७००००७, मो. ९८३०२७७६५६

वह शाम

डॉ. वसुंधरा मिश्र

बहुत अजीब लगा था जब मैंने पहली बार सविता से शादी के लिए हाँ की। बचपन में एक साथ खेलना और छोटी-छोटी बातों पर लड़ना फिर आपस में खिलौने लेना- देना सब याद आने लगा था। उसकी माँ मेरे लिए कुछ न कुछ बना कर भेजती रहती थी। आलू के परांठे और हरे धनियाँ की चटनी का स्वाद सोचकर अभी भी मुँह में पानी आ जाता है। घर में सविता को सब्बो नाम से पुकारते थे। सब्बो के साथ जब मैं खेलता था तो पड़ोस में रहने वाला राम भी उसके साथ खूब खेलता था। तब मुझे अच्छा न लगता। राम का नाम लेने पर मैं उसका हाथ मरोड़ देता। शिकायत जाती तो हम सबको डांट पड़ती। सब्बो शुरू से ही चंचल स्वभाव की थी। उसका भाई मेरे बड़े भाई का दोस्त था। सब्बो के पिता अपने व्यापार के सिलसिले में शहर से बाहर जाते रहते थे। उसके पिता जब नहीं रहते थे तो हमलोग खूब खेलते थे। उसका भाई और मेरा भाई दोनों एक ही स्कूल में पढ़ते थे। होमवर्क, किताबें और रिजल्ट सब शेयर होते रहते।

मेरे जन्म के पहले ही मेरे पिता एक मनहूस शाम को जब सड़क पार कर रहे थे तो ट्रक और बस के एक्सीडेंट में उनकी बलि चढ़ गई। माँ तो जैसे टूट ही गई। हमलोगों की सारी जिम्मेदारी माँ और बड़े भाई पर आ गई। घर में एक प्रकार से खामोशी-सी ही फैली रहती। माँ सिलाई और खाना बनाने का कार्य करती रही जिससे घर का खर्चा चलता। खाने की कमी कभी महसूस नहीं हुई। भाई भी पढ़ने में अच्छा था और ट्यूशन करके घर चलाने में सहयोग करता। न जाने मैं कहाँ से बचपन की यादें लेकर बैठ गया।

खैर छोड़ो! मैं धीरे-धीरे घर की ओर जा रहा था।

घर में घुसते ही लगा जैसे किसी कबाड़ खाने में आ गया हूँ। लोहे की पुरानी पड़ गई छड़ों का छोटा-सा गेट, उसमें लगे छोटे से लोहे के गोल छल्ले जो दोनों दरवाजों को बंद करने में मदद करते थे। गेट पर कोई हाथ भी रखता तो लगता कि अभी खुल जाएगा। घर में अंदर प्रवेश करते ही बायीं ओर बरामदा है, जिससे सटे हुए दो कमरे। फर्श भी लाल और बरामदे को सहारा देने वाला वह खम्भा भी लाल सीमेंट का है। उसी के सहारे खड़ी होकर सविता बाहर सड़क की ओर देखती रहती थी। जब वह थक जाती तो बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ जाती। घर की बाउंड्री छोटी होने के कारण खड़े होने पर सड़क का सब कुछ दिखाई पड़ता था, लेकिन बैठ जाने से सिर्फ अशोक के पेड़ की फैली हुई शाखाएँ ही दिखाई पड़तीं जिसकी पत्तियों की छाया उसे

आत्मिक संतोष प्रदान करती थी। भोर की पहली किरण भी तो अशोक के पेड़ से छन कर ही हमारे बिस्तर पर आती थी।

सुबह होते ही नौकरी पर जाने की तैयारी में लग जाता। बड़ी मुश्किल से तो एक मोदी की दुकान में नौकरी मिली थी, नहाना- धोना पूजा- पाठ और दो जोड़ी कपड़ों को संभालते रहते। सविता चीजों को जहाँ-तहाँ रख देती। मैं झल्ला पड़ता पर वह चुपचाप सामान खोज कर दे देती। मैं शर्मिंदगी महसूस करता। तेल की शीशी, कंघी, टूटी कुर्सी की मैली गद्दी और वह छोटा-सा आईना मेरे चेहरे को जवान बना देते।

बड़ी मुश्किल से हाथ आई इस नौकरी को नहीं जाने दे सकता था। सुबह नौ बजे से रात नौ बजे तक मालिक काम करवाता तब जाकर हमारे घर का खर्च चल पाता। मालिक यदि एडवांस न देता तो यह छत भी नसीब नहीं होती।

सविता ने पूछा- आ गए अनिल ? वह रसोई में रोटियाँ सेंक रही थी।

मैंने कपड़े बदलते हुए कहा-हाँ। मैंने बात बढ़ाते हुए कहा- कोई आया था।

उसने कहा- हाँ।

-कौन?

-भूत। कब्रिस्तान में एक और दफन हो गया आज।

-एक खमोशी छा गई।

रोटी और दाल की थाली लेकर सविता कमरे में आ गई। और फिर वही रिकॉर्ड चालू। कहने लगी- इस विराने में सिवाय मेरे कौन है? यहाँ बगल में कब्रिस्तान है, सूनसान है। अनिल मेरा दम घुटता है। न जाने इस विराने में कब बस्ती होगी?

अनिल - चिंता क्यों करती हो? जब गृहस्थी ही बसाली है यहाँ, तो निराशा क्यों? कुछ ही दिनों की तो बात है। एक-दो साल तक लोग आ ही जाएंगे। कल मालिक बता रहा था कि एक आदमी अपने बच्चों को लेकर इधर ही रहने आ रहा है।

सविता- कब आएंगे? दो साल से तो रह रहे हैं मुझे तो अब अकेले रहने की आदत हो गई है। मेरे मूक मित्र मेरे साथ हैं।

अनिल- नई नई कॉलोनी है। इतनी सस्ती जमीन हमें शहर में कहाँ मिलती? पैसे भी तो चाहिए। क्या करूँ? (समझाते हुए कहता है) लोन चुक जाए तो हमारे घर में भी अपना एक नन्हा मुन्ना आ जाता। तुम बिजी हो जाती। अनिल खाना खाते-खाते प्यार से खिड़की की ओर देखते हुए उससे एक रोटी और माँगता है।

सविता परिस्थितियों पर झुंझलाती हुई रोटी उसकी थाली में डाल देती है। ये सब तो रोज की ही दिनचर्या में शामिल था। अनिल का चेहरा बुझा बुझा लगने लगता। निराशा और बेबसी में वह सिर झुका लेता और टालने की कोशिश करता। वह उसकी परेशानी और अकेलेपन को महसूस करता। वह भी कौन-सा सुख भोग रहा है सारा दिन माथा-पच्ची। महीने भर काम करो तो तनख्वाह हाथ आती।

बिस्तर पर लेटे-लेटे सविता अपने परिवार के बारे में सोचने लगी। संयुक्त परिवार के बीच रहने वाली माँ- पिता की लाडली आज घर से कितनी दूर विराने में रहने लगी। सबसे दूरी हो गई। बेचारे पिता काम के सिलसिले में अधिकतर बाहर ही रहते। बड़े पापा के नाम सरसों तेल की एजेंसी थी। पापा उनका पूरा काम करते थे। महीने पर भी पूरा पैसा नहीं देते थे। पापा कुछ बोलते नहीं थे। हमलोग चार भाई और मैं अकेली बहन। बाहर जाने के कारण पापा अपनी चिंताओं और झुंझलाहट को छिपाने के लिए शराब पीने लगे। लीवर कैंसर से पीड़ित होने के बाद माँ भी टूट गई। जो पूंजी थी वह पानी की तरह बह गई। अस्पताल ने उन्हें छुट्टी दे दी। चारपाई पर उनकी सांस कब तक चलेगी बस इसी का इंतजार रहता। वह मनहूस घड़ी भी आ गई। वह कोना भी खाली हो गया जहाँ पिता लेटे रहते। पापा ने ही कहा था कि सविता की शादी हो जाती तो मैं चैन से मर जाता। अनिल के पिता न थे। मेरे भाई का मित्र और मेरे बचपन का मित्र होने के कारण माँ ने अनिल से मेरा संबंध करा दिया। पापा की मौजूदगी में ही एक मंदिर में सीधे-साधे ढंग से विवाह हो

गया। बस उन्हें इस बात का संतोष था कि सविता को अनिल कभी भी भूखा नहीं रखेगा।

एक महीने के अंदर ही पापा चल बसे। हमलोग अनाथ हो गए। बड़े पापा ने हमारे परिवार से नाता ही तोड़ लिया। बड़े भाई ने छोटी उम्र में ही घर की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

माँ का विश्वास सही था। आत्मसम्मान से भरे अनिल के पास अपना घर भी हो गया। बस विराने को भोगने का दर्द उसके हिस्से में आया। चैन इस बात का है कि कभी न कभी तो दुख का यह बादल भी छटेगा।

इन्हीं ख्यालों में खोई थी कि हवा के झोंके के साथ अशोक के वृक्ष की मादक गंध ने उसके विचारों की कड़ियों को तोड़ दिया। अशोक का वृक्ष सितारा के अकेलेपन का साथी था। उससे वह जब तब बातें कर लेती। सीमित आकाश के अपने झरोखे से कभी-कभी उसे लगता कि पूरा सूरज ही कमरे में उतर आया है। उसके प्रकाश को अपनी बांहों में समेट लेती और पूरे मुंह पर हाथ फेरती हुई उसे महसूस करती। जब सुबह बिस्तर छोड़ती तो सबसे पहले खिड़की से अशोक को देखती। उसकी हर नयी पत्तियों की ललाई देखती। कितना खिला खिला लग रहा है। बहुत जलाता है। दूसरा ही पेड़ लगा लेती तो अच्छा होता। मन ही मन उसे चिढ़ाती। दूसरा पेड़ लगाने की बात सोचते ही उसकी अंगुलियां कांप उठती थीं। उसकी देह में यहाँ-वहाँ बिना कुछ हुए ही स्पर्श की अनुभूति होती। वह अपने को वहाँ से छूती है जहाँ अनदीखे हाथ पड़ते हैं, गर्दन छातियां और पतली कमर तक। उसके नीचे बहुत बड़े अनुमान से ज्यादा उसके बहुत बड़े हाथ पहुंचने लगते थे। घर में भीतर - बाहर चक्कर लगाती। अपने ही कपड़ों को अपने हाथों से हटाती है। अपनी आंखों से अपनी देह को देखती, खुली देह, ढकी देह, गर्म देह, ठंडी देह। खुद अपनी सुंदरता पर मोहित हो जाती। अपने को ही छेड़ने लगती है।

सविता सामने उस अकेले पेड़ को देखती है, सोचती है यह तो मुझे मार ही डालेगा। यहां कोई दूसरा पेड़ क्यों नहीं

हुआ? दूसरा पेड़..... दूसरा पेड़..... पेड़ों का एक लंबा सिलसिला। ठंडी छाया और छाया से सुलगती वह स्वयं। अपनी उंगलियों से कहने लगती है .. उन पेड़ों पर नजर डालती सविता अपने ऊपर नजर डालने लगती है। और फिर मन मसोस के रह जाती है।

दोपहर से ही हल्की बारिश शुरू हो गई थी। काली घटाएं और बिजली कड़क रही थी। “गगन घन गरजत घनघोरा” वह डरने लगती है। और दूसरा पेड़ और दूसरा पेड़, सविता के डर का सिलसिला थोड़ी दूर पर फैले हुए कब्रिस्तान तक फैल जाता है। हवा का झोंका उधर से आ रहा था, कोई वर्षा में भीग रहा था। धीरे धीरे उसे ऐसा एहसास होता है कि वह खुद भीग रही है। बाहर पानी बरस रहा था पर पता नहीं अपने ही तन में अपने अंदर से रिसते पानी से वह भीगने लगती है। उसे डर लगता है और वह अपने को छूते हुए अपने से इतनी अलग हो जाती है, उसे लगता है कि कोई दूसरा उसे छू रहा है, उसे छेड़ रहा है, उसे सहला रहा है। वह कब्रिस्तान में भीगते हुए शव की तरह लगती है, बिस्तर पर लेटी हुई बैचेन हो जाती है। सविता उससे संग और प्रसंग करने लगती है।

सविता ने एक बार अनिल से कहा था कि अशोक का यह वृक्ष मुझे कई बार बुलाया और मुझे अपनी बांहों में भर लेता है।

उस समय अनिल ने कहा था- ‘सवि, मुझे छोड़कर तुम जड़ या चेतन किसी से भी वह आनंद नहीं प्राप्त कर सकती हो जो मैं तुम्हें दे सकता हूँ। मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरी हो।’

सविता जानती थी कि अनिल की अपनी बहुत-सी लाचारियां हैं जिससे मेरा अकेलापन लड़ रहा है। मेरी मर्यादाएं टूटती जा रही हैं। अनिल अपने प्यार की रक्षा करने के लिए प्रतिबद्ध है लेकिन वह भी समय की मार के कारण निराशा से घिरने लगता था। वह अनिल की सभी इच्छाओं को पूरा करती, तन-मन लगा देती पर फिर भी वह प्यासी ही रह जाती। वह कभी-कभी किसी मेले में, किसी मठ पर, किसी

मजार पर, किसी योगी के पड़ाव पर नंग-धड़ंग राख में लिपटे नागाओं, सूफियों, कलंदरों को अपने आसपास चक्कर लगाते देखती।

कई हाथ, कई नंगी मजबूत शारीरिक आकृतियां उसे अपनी पकड़ में लेने लगती।

कई लोगों के लिए वह अकेली भी बिछ जाना चाहती थी। हाथ, पाँव, मुँह, आँख, कान, देह के सभी द्वारों से अपने ही रस को भोगना चाहती, वह अपने को पाना चाहती थी।

हवा चल रही थी, चुपचाप उदास बैठी सविता बारिस की बूँदाबांदी में नहा रही थी। वे बूँदे उसके शरीर पर जहाँ-तहाँ गिरकर उसे छेड़ रही थी। वह कल्पनाओं की दुनिया में न जाने कहाँ-कहाँ घूम लेती। कब्रिस्तान से आने वाली धूप की सुगंध हवा के साथ उड़-उड़ कर उसकी नाक से टकरा रही थी। लगता था बारिश में कोई मुर्दा भीगने आ गया है और गीली मिट्टी की सोंधी खुशबू में अपने को मिलाने लगा है। गूलर, महुआ और चंपा- तीनों पास पास थे जिनकी मादक गंध अशोक तक आने लगी थी। सविता भयमिश्रित प्रेम के लेपन से नहा उठी। सविता याद करने लगी अनिल की मजबूरी और लाचारी। उसकी

पूर्णता और अपेक्षाएं तो अनिल से ही जुड़ी हैं। उसकी गरीबी ने मन की इच्छाओं पर भी ताला लगा दिया है।

शाम हो चली। अनिल अब तो आ जाओ (मन-ही-मन बुदबुदाते हुए सविता उसकी राह देखने लगी)।

वर्षा भी तेज हो चली। बरामदे में बैठी ठंडी हवा का स्पर्श उसकी कल्पना के धागों को बार बार तोड़ रही थी। बादलों की अंगड़ाई बढ़ती जा रही थी।

तभी लोहे के छल्लों के खुलने की आवाज ने उसे धरती से जोड़ दिया, वह खोई हुई ही रही। अनिल उसके पास ही बैठ गया। मौसम ने उसकी आँखों में शरारती बना दिया।

कहने लगा - अरे भीग गई! देखो तुम्हारा अशोक भी भीग गया। मुझे भी देख लो सवि।

चलो कमरे में। तौलिये से सिर तो पोछ दो। सवि को बाँहों में लेते हुए अनिल ने उसे अपनी चारपाई पर लाया। बड़बड़ाते हुए सवि ने सुना- आज तो मैंने तुम्हें पूरी तरह से पा लिया है।

चाय की चुस्कियां लेते हुए अनिल ने सवि की आँखों में बहुत ही हसरत से देखा। बारिश रंग लाने लगी थी। सविता के जीवन की दोपहरी धीरे-धीरे शाम में बदल गई, आसमान में सतरंगी इन्द्रधनुष जन्म ले रहा।

संपर्क:

हिंदी विभाग, भवानीपुर एडुकेशन सोसायटी कॉलेज

५, लालालाजपत राय सरणी, एलीन रोड, कोलकाता-७०००२०, मो. ९८७४९७७३८२

सामंतो बाबू का रेडियो

पंकज मित्र

वैसे तो मोहब्बत के लिए जान कुर्बान कर देने का इतिहास बहुत पुराना है पर जिस चीज से उतनी मोहब्बत करता था कोका वही एक दिन उसकी जान जाने की वजह बन जायेगी यह नहीं सोचा था। वैसे लोग तो मानते थे कि कोका क्या सोचेगा, और सोच भी लिया तो बोलेगा कैसे, और बोल भी दिया तो लोग समझेंगे कैसे। कोका जिस भाषा में बोलता था वह लोग समझते नहीं। शब्दों की जगह ऐ-ऐ-ई-ई-ए ३-३ जैसे स्वरवर्ण और भावभंगिमा, हाथों के इशारे, चेहरे पर उतेजना। और हँसी की उजास- यही सब मिलाकर समझ पाये तो ठीक नहीं तो कोका यह जा वह जा। कोका नाम तो लोगों ने रख दिया था यह मानकर कि वह सुन भी नहीं पाता लेकिन जिस तन्मयता से वह सामंतो बाबू के बजते ट्रांजिस्टर को सुनता था और सामंतो बाबू के नाँब पर धूमती उँगलियों के साथ-साथ उसकी मुखमुद्राएँ बदलती थी उससे इस धारणा की पुष्टि नहीं होती थी- मसलन समाचारों के आते ही एक निराशा और चिढ़ का भाव और गाने आते ही खुशी और सिर का हिलाना। पर ज्यादातर समय सामंतो बाबू उसे खुश होने का मौका नहीं देते थे और कोका सोचता कि वहीं चिढ़ और निराशा तो सामंतो बाबू को समाचारों को सुनने से होती है- बल्कि वह तो बड़बड़ाते भी है- सिर्फ बड़बड़ाते नहीं अंग्रेजी में कुछ बोलते भी है जिसका मतलब कोका नहीं समझता पर मुखमुद्रा और आवाज की गुर्राहट बताती है कि निश्चित रूप से वे अंग्रेजी में गालियाँ बकते हैं। अब इतने मोतबर आदमी हिन्दी में या देसी भाषा में गाली थोड़े ही देंगे। कोका समझ नहीं पाता कि जब इतनी चिढ़ होती है तो समाचार सुनते ही क्यों हैं। गाने सुना करे और खुश रहा करे जैसे वह रहता है। जब रेडियो बजना बंद हो जाता है तो कोका अपने स्वरवर्णी गानों को गुनगुनाकर खुश रहा करता है और सामंतो बाबू के घर का कामकाज निबटाता है। पूरे गाँव के लोग कोका के बारे में नहीं जानते कि वह कहाँ से आया था। पर अब उस बात को कई बरस हो गये थे। और अब तो कोका इस गाँव का स्थायी निवासी हो चुका था- बाकायदा- बड़ों के लिए रे कोकवा! और छोटे के लिए- कोका भैया! लोग तो सामंतो बाबू के बारे में भी बहुत कुछ नहीं जानते थे अलबत्ता उनके बाबूजी के बारे में जरूर जानते थे। इसी गाँव में उनकी कामत थी। रहते वे शहर की एक आलीशान कोठी में थे तब जूनियर सामंतो बाबू भी दाढ़ी काली थी और पैर भी ठीक था मतलब अभी की तरह भचक कर नहीं चलते थे जिनके चलने की नकल कोका छोटे बच्चों के सामने करता था जब छोटे बच्चे उसे लालच देते थे- 'ऐ कोका भैया! बुढ़वा कैसे चलो हो देखाउ न एक बार। लेमचूस देबो। पहले तो कोका प्रबल वेग से सिर हिलाता था और हाथों को भी नहीं-नहीं के अंदाज में। पर बच्चे जब लेमचूस सचमुच दिखाते तो लालच से पार नहीं पाता और यह सुनिश्चित करने के बाद कि इस

जगह पर सामंतो बाबू की नजर नहीं पड़ेगी, वह ठीक सामंतो बाबू की तरह भचक कर चलता और बच्चे पीछे-पीछे ताली बजाते। इस जुलूस का विसर्जन तब होता जब सामंतो बाबू के रेडियों की आवाज गूंजने लगती- दिस इज ऑल इंडिया रेडियो। द न्यूज रेड बाय..... बस कोका दौड़कर सामंतों बाबू के कमरे के दरवाजे पर खड़ा हो जाता मंत्रबिद्ध सा। रेडियो की आवाज के साथ उसे वह दृश्य भी देखना रहता था जब समाचारों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ सामंतो बाबू घायल शेर की तरह तेज-तेज चहलकदमी करते थे पीछे हाथ बाँधे और अंग्रेजी में कुछ-कुछ बिड़-बिड़ करते हुए- कुछ तो था जो सामंतो बाबू को पसंद नहीं आ रहा था- या तो रेडियों की आवाज या फिर उस पर बोली जा रही बात। यह दृश्य तब तक चलता जब तक लोकगीत आने नहीं लगते। सामंतो बाबू एकदम शांत होकर झूलने वाली आराम कुर्सी पर बैठ जाते थे और आँखें बंद कर गीत सुनते- चेहरे पर अपूर्व शांति का भाव लिए ओर इस बीच कब शांति आकर तिपाई पर रखे चाय के पॉट को भरकर रख देती वह देखते भी नहीं आँख खोलकर। दरवाजे पर खड़े कोका को शांति वहाँ से जाने का इशारा करती- अपनी सफेद दंत पंक्तियाँ दिखाती हुई और झाड़ू देने लगती बेआवाज। रेडियो पर आती लोकगीत की यह आवाज सामंतो बाबू और कोका दोनों पर जादू सा असर करती थी। सामंतो बाबू आँखें मूंदकर बल्कि कभी-कभी तो आँखों की कोर से निःशब्द दुलकते आँसुओं की बूँद भी देखी थी कोका ने और कोका सिर हिला-हिलाकर उस गीत के दर्द को और सांद्र कर देता था। दर्द की एक ऐसी चिलक थी इस आवाज में कि गीत के बोल नहीं समझते हुए भी कोका का कंठ रूँध जाता था जो आवाज निकलने के मामले में तो पहले से ही रूँधा हुआ था। कल सुबहे जब शांति आयेगी तो इस गीत को गुनगुनाने को कहेगा कोका बल्कि इसका अर्थ भी बताने को कहेगा। शांति जरूर समझती है यह भाषा क्योंकि कोका ने सुना है गुनगुनाते हुए उसे कई बार यह गीत, पर यह भी मालूम है उसे कि वह सफेद दंतपंक्तियाँ दिखाते हुए वह टाल देगी बतायेगी नहीं। ऐसा दिखावा करेगी कि कोका की बात वह समझ ही नहीं

रही है। शाम को शांति अपने घर चली जाती है। सामंतो बाबू और कोका के लिए खाना पकाकर रख देती है और शाम के बाद भी सारी जिम्मेदारी कोका की- छः बजे के समाचारों के साथ ही धूप-लोबान का धुआँ पूरे घर में करना, ताकि मच्छर भाग जाये, साढ़े सात बजे पानी का जग गिलास लाकर रखना और वह शानदार बोतल भी जिसे कोका हसरत की निगाहों से देखता है, एकाध बार सूँघा भी है ढक्कन हटाकर, बस इससे आगे नहीं। उसे बहुत अच्छा लगता है जब आठ से पौने नौ बजे के बीच फिल्मी गानों के बीच आमतौर पर गुरू गंभीर रहने वाले सामंतो बाबू काफी प्रगल्भ हो जाते हैं और कोका से बहुत सारी बातें करते हैं जिसमें ज्यादातर बातें उसकी समझ से परे होती हैं और वह अपनी तरफ से तो खैर...

हिन्दी-अंग्रेजी समाचारों के बाद कोका का काम है खाना गर्म कर परोस देना और सामंतो बाबू को तेज-तेज खाते देखना जैसे कोई बोझ सर से हटा रहे हो। बर्तन वगैरह समेटकर मच्छरदानी लगा देना जिसके अंदर टेबल लैप जलाकर देर रात तक सामंतो बाबू पढ़ते रहते थे उन किताबों को जो उनके बिस्तर का अधिकांश हिस्सा घेरे रहती। रेडियों थोड़ा धीमा हो जाता और इसी वक्त गाने आते थे जिन्हें सुनने के लिए कोका को बड़ी मशक्कत करनी पड़ती थी। जरा से खटक के से ही सामंतों बाबू की जोरदार- कौन है? चंदू-चंदू! गूंजती थी जो कोका के दिल को दहला देती और सहला भी देती क्योंकि इसी वक्त कोका को अपने होने का, अपना भी एक नाम होने का अहसास होता और यह अहसास उसे शांति से भर देता था। शांति हमेशा उसके सम्पूर्ण नाम से बुलाती थी, वह नाम जो शांति ने ही उसे दिया था - चंदन! सुनते ही बघवा नदी के पास बने मंदिर के पुजारी जी की टुन-टुन बजती पूजा की घंटियाँ बजने लगती थी जैसे। कहते हैं कि बघवा नदी इसका नाम इसलिए पड़ गया था कि कभी बाघ इसमें पानी पीने आते थे तब चारों तरफ जंगल था। अब इस तरफ तो जंगल रहा नहीं। उस तरफ भले अभी भी है जंगल जिधर से सियारों के हुआँ-हुआँ की आवाजें आती थी रात को और कभी-कभी भूतों की आँखों के जलने-बुझने के

दृश्य भी दिखते थे। बाहर बरामदे पर सोया कोका चादर को आपादमस्तक ओढ़कर गुड़ी-मुड़ी होकर सो जाता था। खटाक की आवाज के साथ टेबल लैप और रेडियो एक साथ बंद हो जाते थे जिसका मतलब था सामंतो बाबू सोने की तैयारी करेंगे। हाँ! तैयारी ही करनी पड़ती थी क्योंकि वह कब सोते यह न कोका जान पाता न खुद सामंतो बाबू। कोका प्रार्थना करता कि उसकी खुद की नींद न टूटे अधबीच रात और वह भूतखेला के दृश्य देखना नहीं चाहता। लेकिन उस दिन तो देख ही लिया था - ओह रे बाप! - बघवा नदी की तरफ से कई भूतों की जलती बुझती आँखें और इधर से भी एक बड़ी सी जलती आँख, फिर नदी के पास सबका मिलना-जुलना। डर गया था कोका। जब उसने भूत के इस महारास का जिक्र शांति से किया- बड़ी मुसीबत से समझा पाया अपनी बात...- ऐ-उ-भू करके तो शांति ने उड़ा दी बात - दुर! भूत का करेगा तुम तो अपने बड़का भूत के साथ रहता है। खाली टोकना मत रात बेरात - कहकर सफेद दंतपंक्तियाँ दिखलाती चली गई शांति। श्यामवर्णा शांति की उज्ज्वल दंतपंक्तियाँ कोका के रूधिर में एक झनझनाहट भर देती थी। निष्पलक ताकता रह जाता था कोका शांति के चेहरे की ओर। ऐसा नहीं था कि शांति समझती नहीं थी पर खिलखिलाती पहाड़ी नदी का क्या तो समझना और क्या बूझना।

सात बजे शाम जग-गिलास और नमकीन पनीर भुने जीरे के पाउडर के साथ वाले कार्यक्रम के दौरान जब रेडियो बज रहा था और उसी कलाकार की सोज भरी आवाज जब गूँज रही थी और सामंतो बाबू का जिरह बख्तर कुछ पिघल चुका था तो कोका को चौंका दिया सामंतो बाबू ने एकतरफा वार्तालाप में - अच्छा चंदू! तुमको शांति कैसी लगती है? कोका के दोनों कान सुन्न हो गये। तो क्या सामंतो बाबू ने वह हड़प्पा लिपि पढ़ ली जिसे बड़े जतन से कोका ने गोपन रखा था। वह सिर झुकाये खड़ा रहा।

- अरे! शर्माओ मत। अच्छी लड़की है शांति। जानता है चंदू! - सामंतो बाबू की जीभ की अर्गला खुल चुकी थी पूरी की पूरी। - इस्पात पिघल-पिघल कर अगल-बगल बह

गया था और एक निष्पाप शिशु की तरह मुँह खोले कोका की तरफ देख रहे थे वे।

-शांति मुझे किसी की याद दिलाती है। इसलिये इसको काम पर रखने में एक मिनट देर नहीं किया। गुनगुनाते हुए सुना है तुमने कभी शांति को? एकदम अविक्ल कंठस्वर.....

रेडियो पर समाचारों की उद्घोषणा के साथ ही फिर जिरह बख्तर चढ़ गया। सामंतो बाबू का चेहरा तनावपूर्ण..... ध्यान से सुन रहे थे और हर बार शासन के जिक्र के साथ ही मुखमुद्रा और कठोर होती जा रही थी। तभी कोका को याद आया कि अरे जा! आज मच्छर भगाने का उपक्रम तो किया ही नहीं उसने और न बाबू ने याद दिलाया। दौड़कर लोबान सुलगाकर ले आया। सामंतो बाबू बरस पड़े कोका पर और दाँत पीस का बोले- ये खून चूसने वाले ऐसे मरने वाले नहीं है। इन्हें घर बंद कर, धुआँ देकर दम घोटकर मारने की जरूरत है, समझा!

कोका कुछ नहीं समझा। सिर्फ इतना कि बाबू उसपर नाराज है और कल से वह ऐसी गलती कभी नहीं करेगा। दूसरे दिन शांति के सामने बाकायदा कान पकड़कर जीभ भी निकाली उसने। माजरा समझकर शांति खिलखिलाकर हँस पड़ी ओर कोका के बालों पर हाथ से कंधी कर दी उसने- पागल कहीं का। सामंतो बाबू खाना खा चुके थे और बिछावन पर लेटकर दिवानिद्रा का सुख ले रहे थे और शांति अपनी गुईया के साथ बघवा नदी की ओर जा रही थी। अब दोनों मिलकर मछलियों की तरह छप-छप करेगी छिछले पानी में। चमकता जल और रोशनी की चिलक मारते बालू में अभ्रक के कण... सर्र से छोटी सी मछली निकल जाती थी पास से। कभी-कभार कोका गमछे में मछली पकड़ लाता था और शांति और वह मछली को शाल के पत्ते में लपेटकर आग में भूनकर खाते। सामंतो बाबू का रेडियो दोपहर में ही शुरू हो जाता उनकी दिवानिद्रम खत्म होते ही। शांति को उनके जगने से पहले ही खाना-वाना खाकर, बरतन वगैरह धोकर, चाय का पानी तैयार रखना पड़ता था। आज फिर उसी गायिका का वह गीत आ रहा था जिसे आरामकुर्सी पर

बैठकर आँखें मूंदकर सुनते थे सामंतो बाबू - अम्बा मंजरे मधु मातलय रे/तइसने पिया मातल जाय/नाग-नागिन काँचूर छोड़लय रे/तइसने पिया छोड़ल जाय (आम्र मंजरियाँ मधु से मताये हैं वैसे ही पिया माताल है। जैसे नाग-नागिन केंचुली छोड़ते हैं। वैसे ही पिया छोड़कर जा रहे)

वही दर्द की चिलक-पिया के जाने की कसक -

-बाबू! चाय !

-अँ-हाँ- ओ, शांति..... रख दो, पी लूँगा।

-पी लीजिये - ठंडा जायेगा - अधिकार के दर्प से भरी आवाज।

-सुना तुमने शांति - वही आवाज - तुम्हारे से मिलती

-केतना बार बतायें बाबू - उ हमारी आयो (माँ) नहीं थी। हमारे बाबा बताये थे कि आपके जेल जाने के बाद वह एकदम बौरा गई थी और कभी हाट में, कभी बाजार में गीत-नाद करले चलती थी - तभी रेडियो वाला लोग उसको ले गया था - बोला था, गाना रेडिया पर देगा - तो बात रखा न उ लोग।

दरवाजे के बाहर खड़े कोका का माथा बन्न-बन्न घूम रहा था - बाबू क्यों मानते हैं कि इस आवाज की स्वामिनी ही शांति की माँ थी? और बाबू जेल क्यों गए थे? इन सारे लटकते-झटकते सवाल का जवाब सिर्फ शांति दे सकती थी पर वह देगी नहीं हर बार की तरह। किसी और से पूछने का कोई लाभ नहीं। एक बार कोशिश की थी उसने गोविन्द साव की चाय दुकान पर बड़ी मशक्कत से बाबू का इशारा समझा पाया था और लोग जब तक समझे और गाँव के सबसे बुजुर्ग आदमी सोमरा महतो ने जब समझा कि वह सामंतो बाबू के बारे में जानकारी चाह रहा है तो सबको जैसे सांप सूँघ गया। सबकी आँखों में एक डर सा महसूस किया कोका ने - और सोमरा महतो लाठी टेकते उठ खड़ा हुआ- चलते हैं आलू देख ले जरा। रमेश भी खैनी मलता हुआ बघवा नदी की तरफ। गोविन्द साव कोका की तरफ जलती निगाहों से देखने लगा कि सारे संभावित ग्राहकों को भगा दिया उसने। कोका माथा खुजलाता रहा कि बाबू का जिक्र आते ही सब के चेहरे पर आशंका और भय क्यों दिखने लगा।

जवाब मिला खुद सामंतो बाबू से सात बजे के बाद वाले उस सत्र में जब बापू के चेहरे का इस्पात पिघल जाता था- क्या रे चंदू! बहूत पूछता रहता है मेरे बारे में - काफी नरम होकर कहा था लेकिन कोका डर गया कि बाबू को कैसे पता चला इस पूछताछ के बारे में।

आँख-कान खोलकर रखना पड़ता है रे, नहीं तो तब बचता कैसे 'आपरेशन स्टीपलचेज' में? खाली टाँग में गोली लग गया गलती से। गलती से था कि जान बूझकर पता नहीं - कोलकाता प्रेसीडेंसी में था तब। रोज छुप कर मीटिंग करता - एक दिन पता लग गया इस्पेक्टर घोष को। मेरे बाबा का दोस्त था। टाँग में गोली मार के हॉस्पिटल में भर्ती कर दिया। बाबा आया था हॉस्पिटल में दूर से देखकर चला गया। ठीक होते ही यहाँ भेज दिया.... जबरदस्ती।

पूरी तरह नहीं समझने के बावजूद कोका को लग रहा था सुनता ही रहे बाबू की कहानी उन्हीं की जुबानी। लेकिन तभी वही... समाचार शुरू हो गये रेडियो पर और बाबू के चेहरे पर फिर से इस्पात की चादर चढ़ गई। इसी पृथ्वी के इसी देश के इसी राज्य के इसी कोने के लिए कोई समाचार था जिसे सुनकर सामंतो बाबू का चेहरा ऐंठकर विकृत हो गया था और गुराहट निकलने लगी। कोका निकल आया कमरे से और खाना गरम करने में लग गया। दूसरे दिन दोपहर में जब बाबू दिवानिद्रा में थे तभी शांति बघवा नदी की तरफ जाती दिखी- अकेली- आज गुईया नहीं थी - कोका ने इशारे से पूछा। शांति ने इशारे में जवाब दिया - गुईया को बुखार है। इशारे से पूछा - मैं साथ चलूँ? इशारे में जवाब मिला - मार खायेगा। स्नान के बाद गीले तन और गीले मन के साथ बालू पर बैठी शांति बाल सुखा रही तो कोका पीछे-पीछे आ गया और औचक सामने आ गया - डर गयी शांति और कोका हँसते-हँसते लोट-पोट। जैसे शांति को डरा देना उसकी एक बड़ी उपलब्धि हो - एकदम भोले शिशु सा - हँस रहा था जोर-जोर से। शांति हँसती हुई मारने दौड़ी- गिर गया कोका पास ही। लड़खड़ाकर गिर पड़ी शांति - दोनों की सम्मिलित हँसी और बघवा नदी की छपक-छपक मिलकर एक आनंद संगीत रच रही थी- अलस

भाव से जब वे उठे तो नदी के बालू पर सोहराई चित्रकला उकेर दी थी उनके पाँवों ने - लता गुल्मों की, उन पर बैठे पखेरूओं के, मोरों का नर्तन, था तो इंद्रधनुष की छटा थी। बघवा नदी साक्षी बनी इस महामिलन की।

- चंदन!

- हूँ!

- तू मुझे गाने कहता है न - तो सुन आज -

- हम नहीं जानली/पीरिति जोड़ोली/भरल नदिया में झाँप जे देली/(मुझे नहीं मालूम/प्रीत जोड़ा मैंने/ भरी नदियां में कूद गई जैसे)

बाबू ठीक कहते हैं, एकदम अविकल कंठस्वर उसी लोक गायिका का। बालू पर रेडियो का चित्र उकेर कर समझाया - शांति समझ गई।

- बाबू जब आये और यहाँ रहने लगे तभी प्रेम हो गया। बड़े बाबू कहां अंग्रेजी गाना सुनने वाला आदमी और उनका बेटा देस वाली गायिका को चाहने लगा। बड़े बाबू आये एक बार बंदूक लेकर - बाप-बेटा में खूब झगड़ा हुआ। बड़े बाबू के जाते ही दूसरे दिन कलकत्ता से पुलिस आई और बाबू को पकड़कर ले गई जेल। कहते हैं बड़े बाबू ने खुद फोन पर पुलिस को बताया था। क्या तो बाबू आमार-बाड़ी तोमार-बाड़ी नक्सलबाड़ी में थे। वही चार्ज लगाकर दे दिया जेल। कमजोर वाला धारा लगाया तो दो साल में बेल हो गया। फिर आये और खूब खोजा उसे। कहाँ-कहाँ नहीं खोजा, रेडियो स्टेशन भी गये लेकिन कोई बता नहीं पाया उसका पता। थक-हार कर लौट आये।

कोका चुपचाप उसका मुँह ताक रहा था जैसे एक-एक शब्द पी रहा हो चुपचाप। इशारे से पूछा - तुम्हारी आयो (माँ)?

- नहीं रे - बोला न मेरी माँ नहीं थी वह - सिर घुमाकर आँखों में दुलक आये आँसू की बूंद को पोंछ डाला।

सुबह खबर जंगल की आग की तरह फैल गई। सामंतो बाबू निःखोज थे - गायब थे - कोका तो बरामदे पर ही सोया था। रात में भूतों की जलती आँखों का खेल भी देखा था उसने। फिर देर तक नींद नहीं आई थी उसे। सुबह जब ठंडी ठंडी हवा चली तो रात्रि जागरण की खुमारी ने घेर

लिया और वह बेसुध होकर सो गया था। नींद खुली थी पुलिस के बूट की ठोकर से।

- रे मादर - उठ। कहाँ है सामंतो उर्फ राजो दा उर्फ जितू दा।

कोका फटी-फटी आँखों से देखने लगा। पूरा गाँव जमा था। शांति को भी दो-तीन जवानों ने घेर रखा था और गालियों के साथ-साथ थप्पड़ भी लगा रहे थे। वह भी जैसे जड़ हो गई थी।

- लगता है हुजूर! इन्फार्मेशन मिल गया था। मुँह अँधेरे भाग गया। इन दोनों को ले चलो।

फिर एक छोटे पुलिस वाले ने मँझले से बात की मँझले ने बड़े से फिर तीनों से सिर हिलाया।

- सुनो - दोनों से मुखातिब थे। कुछ खबर मिले तो चौकीदार को बताना, ठीक है नहीं तो दोनों के पिछवाड़े इ वाला डाल देंगे। - हाथ में पकड़ा एसाल्ट राइफल दिखाया। शांति जड़ थी पर उसने कोका की ओर इशारा कर हाथ जोड़े पुलिस अधिकारियों के सामने -

- क्या बोल रही है? - गरजा मँझला वाला।

- हुजूर! बोल रही है कि उसे छोड़ दिया जाय वह तो कोका है।

- मतलब?

- मतलब बोल-सुन नहीं सकता। गाँव के किसी ने डरते हुए कहा।

- जब डंडा डालेंगे तब बोलने-सुनने लगेगा - यह सी.आर.पी.एफ. वाला था और तुम लोग सालों किसी को पता नहीं था कि एक इतना खतरनाक आदमी तुम्हारे बीच रह रहा है - सब साले मिले हुए हैं मादर चलो फिर आयेंगे हम। बीच-बीच में दबिश देनी होगी। जब से पावर प्लांट आने की बात हुई है इन लोगों का मूवमेंट काफी बढ़ गया है।

- हजोर! - एड्रियाँ चटकी थी।

फिर से आने के लिए ज्यादा इंतजार भी नहीं करना पड़ा। पूरे गाँव की नींद उस खबर से खुली कि बघवा नदी के किनारे एक महिला की लाश पड़ी है जो पट होकर पड़ी है

इसलिए चेहरा देखना संभव नहीं है पर हुलिया और कपड़ों से लगता है शांति की है। यह खबर गांव में फैलते ही सारे मर्द किसी न किसी बहाने गाँव छोड़कर दो-तीन दिनों के लिए निकल पड़े - किसी को शादी में जाना, पड़ा, किसी को मुकदमे के सिलसिले में। कोई अस्पताल में भरती हो गया तो कोई रिश्तेदारी में निकल पड़ा।

गोविन्द साव की दुकान की पटिया गिरा दी गई थी और जैसी कि आशंका थी पुलिस और सी.आर.पी.एफ. की एक संयुक्त टुकड़ी हाँय-हाँय साइरन बजाते हुए धमक पड़ी। लाश को कब्जे में ले लिया गया। दो-तीन गोलियाँ मारी गई थी और एक गोली तो बिल्कुल ऐसी जगह मारी थी कि पता भी नहीं लग पा रहा था कि मारने से पहले क्या कुछ घटा था उसके साथ। सायरन की आवाज सुनते ही कोका जो तब तक शांति के शव को देखकर लगातार रोये जा रहा था, अचानक भागकर सामंतो बाबू के बरामदे पर गया गुदड़ी के नीचे से रेडियो निकाला जो एक लोभनीय वस्तु थी, जिसको पाना उसके लिए स्वर्ग पाने जैसा था और बाड़ी के पीछे जहाँ घूरा था, कबाड़ फेंका जाता था वहीं छुप गया। वहाँ से वह घर में हो रही गतिविधियों पर नजर रख सकता था और पुलिस की निगाहों से बचा भी रह सकता था।

- व्हाट डू यू थिंक मि. सिंह?

- हमको लगता है सर कि नदी के पास वाले जंगल से लोग आये होंगे।

- बट मोटिव क्या रहा होगा?

- इन्फार्मर का शक रहा होगा सर।

तभी भय से या असावधानी से छिपे हुए कोका के हाथ से रेडियो का नॉब घूम गया और बड़े जोर से रेडियो बजने लगा। आसपास खड़े सी.आर.पी.एफ. जवानों की राइफलें एकाएक घूम गयी उस ओर जिधर से आवाज आई थी।

- देखो, कौन है उधर।

रीड़ की हड्डी तक में डर की एक ठंडी लकीर दौड़ गई थी कोका के। सफेद कफन में लिपटा शांति का शव पड़ा था पुलिस वालों के आगे बालू पर। कोका पसीने-पसीने हो गया। बूटों की धमक पास आती जा रही थी। वह रेडियो लिए हुए भागा।

- गेट दैट बास्टर्ड।

कोका बगटुट भागा जा रहा था। रेडियो को दोनों हाथों से सिर के ऊपर उठाये जैसे कोई विजय का स्मृति चिन्ह हो।

- देखो, नदी पार न करने पाये, उधर चला गया तो जंगल में घुस जायेगा। हाथ में क्या है उसके? सावधान!

- वायरलेस जैसा कुछ है सर।

- कोई मैसेज पास कर रहा है लगता है -

मैसेज के नाम पर कोका घबराहट में ऐ-ऐ ऊ-ऊ की आवाजें निकाल रहा था।

- शूट हिम। - आदेश था तो पालन होना ही था।

हाँय! तीन बार लुड़क गया कोका। एक हृदय विदारक चीख निकली अंतिम बार और शायद पहली बार भी। बालू पर जहाँ शांति और उसके पाँवों ने चित्रकला उकेरी थी कभी, उसमें उसके और शांति के रक्त ने रंग भर दिये थे। कोका का गाढ़ा लाल रक्त और शांति का धीरे-धीरे सूखकर काला पड़ गया रक्त।

- इ क्या है। देखो चेक करो! बी केयरफुल। ट्रॉजिस्टर बम भी हो सकता है।

- सर! इ तो रेडियो हैं। बस... जवान ने नॉब घुमाई।

गीत आ रहा था -

हम नहीं जानली/पीरिति जोड़ोली/भरल नदिया में झाँप जे देली।

(गीत-पारंपरिक एवं डॉ० रामदयाल मुंडा की रचनाओं से साभार)

संपर्क: फ्लॉट-१०२, हरिओम शांति अपार्टमेंट, साकेत विहार, हारमू, रांची-८३४००२ मो. ९४७०९५६०३२

चश्मा

सुशांत सुप्रिय

“पापा, भगवानजी तो इंसानों को बड़ी मेहनत से बनाते होंगे। जब एक इंसान दूसरे इंसान को मार डालता है तो भगवानजी की सारी मेहनत बेकार हो जाती होगी न।”

-एक पांच साल का बच्चा अपने पिता से।

एक जलती हुई प्यास-सा था वह दिन। और मैं उसमें एक तड़पता हुआ प्यासा। मैंने विज्ञानेश्वर जी के बारे में जान-पहचान वालों से सुन रखा था कि वे एक लेखक थे जो अपने समय को डीकोड करने की कोशिश करते रहते थे। हालाँकि उनसे मिलने का मेरा मकसद केवल उनका लेखन नहीं था। देर रात जब उनसे मिलने मैं उनके घर पहुँचा तब मैंने उनके भीतर से एक उदास रोशनी फूटती देखी। उसके साये तले बैठकर वे अपना लेखन कर रहे थे। उनसे मिलने के बाद मुझे समय के कोने उतने तीखे और चुभने वाले नहीं लगे। सच बताऊँ तो वे मुझे अपने उदास समय के इकलौते वारिस लगे।

उन्हें प्रणाम करके मैं उनके पास बैठ गया। वह फ्यूज जुगनुओं वाली एक भोरहीन भारी रात थी।

“मैं आप की कहानियों का प्रशंसक हूँ। चाहे आपकी कहानी ‘बंजर आकाश’ हो या ‘सूखी नदी’ हो, आप जीवन की बारीकियों को बड़ी कुशलता से पकड़ते हैं। हमारे जीवन में व्याप्त असुरक्षा और मृत्यु के भय को आपकी कहानियाँ बड़ी बारीकी से उकेरती हैं। कई बार ऐसा लगता है जैसे आपकी कहानियाँ कहानियाँ न होकर कविता का विस्तार हों। आपकी कहानियों में शिल्प के प्रयोग के साथ एक सजल संवेदना बहती है।” मैंने कहा।

वे एक सूखी हँसी हँसे। उसमें आकाश के कई सितारों के टूटकर गिर जाने का दर्द था। उनकी आँखों में कोई मुस्कान नहीं थी। वहाँ भय का अजगर कुंडली मारे बैठा था। भूरा और मटमैला भय।

“लेकिन आज आपसे मिलने आने का मेरा मकसद दूसरा है। मैं आपसे उस चश्मे के बारे में जानना चाहता हूँ जो आपके परिवार के पास कई पीढ़ियों से है। यदि आपको ऐतराज न हो तो।” मैं बोला।

थोड़ी देर हमारे बीच एक स्याह खामोशी बिखरी रही।

“कहाँ से शुरू करूँ?” आखिर खुद को सहेजते हुए वे बोले- “१८५० के आस-पास मेरे एक पूर्वज को एक कबाड़ी वाले की दुकान से यह चश्मा मिला। वे उन दिनों दिल्ली के चाँदनी चौक इलाके में रहते थे। उन्हें पुरानी और अजीब चीजों को इकट्ठा करने का शौक था। कबाड़ी वाले से ले लेने के बाद साल-छः महीने यह चश्मा यूँ ही कहीं दबा पड़ा रह गया। एक दिन कुछ ढूँढ़ते हुए मेरे इस पूर्वज को यह चश्मा दोबारा मिल गया। उसे साफ करके जब उन्होंने अपनी आँखों पर लगाया तो वे दंग रह गये। यह कोई साधारण चश्मा नहीं था। इसे पहनकर उन्हें अजीब-अजीब दृश्य और छवियाँ दिखती थीं। मानो वे खून-खराबे या मार-पीट वाली कोई फिल्म देख रहे हों। हालाँकि उस समय फिल्म जैसी कोई-कोई चीज ईजाद नहीं हुई थी। इस चश्मे से दिखने वाले कई दृश्य रोंगटे खड़े कर देने वाले थे।

“मेरे यह पूर्वज ठीक से समझ नहीं पाए कि आखिर माजरा क्या है। हालाँकि बाद में १८५७ की क्रांति के समय जो दर्दनाक घटनाएँ घटीं उन से जोड़ कर देखने पर उन्होंने पाया कि उनका चश्मा उन्हें ये दृश्य तो कई साल पहले दिखा चुका था। और तब जाकर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि यह चश्मा भविष्य में होने वाली घटनाओं के बारे में बताता था।

‘एक बात और मेरे पूर्वज जब भी यह चश्मा पहनते, उसके बाद कई दिनों तक उनकी आँखों में असह्य

दर्द रहता और उनकी आँखोंसे खून गिरता रहता।’

वह तब पर जल गई रोटी-सी काली रात थी जब मैंने उनसे पूछा- “क्या आपके इस पूर्वज ने किसी को इस चश्मे का सच बताने की कोशिश नहीं की?”

“कई बार की लेकिन लोग उन्हें सनकी और पागल समझने लगे। लोग कहने लगे कि बुढ़ा सठिया गया है। उनका पूरा जीवन एक लंबा सिर दर्द बन गया। हार कर उन्होंने इस चश्मे की सच्चाई दूसरों को बताने की बात मन से निकाल दी। उन्होंने इस चश्मे को एक पेट्टी में बंद करके अंधेरी कोठरी में डाल दिया।”

“लेकिन...।” मैंने कुछ कहना चाहा।

“मुझे बीच में ही टोकते हुए वे बोले- “आप ही बताइये, वे और क्या करते? उस जमाने में यदि कोई आप से कहता कि उसके पास भविष्य देखने वाला चश्मा है तो क्या आप भी उसे सिरफिरा नहीं कहते?”

मैंने हाँ में सिर हिलाया। वह ठंड में हो रही बारिश में भीगते कुत्ते-सी बेचारी रात थी जब उन्होंने अपनी बात दोबारा शुरू की...” आखिर अपनी मृत्यु शैय्या पर पड़े मेरे इस पूर्वज ने उस चश्मे का राज अपने यानी मेरे परदादा जी को बताया। यह चश्मा पा कर परदादाजी की मुसीबतें भी बढ़ गईं। उनके पास एक ऐसा राज आ गया है जिस पर किसी को यकीन नहीं था।

“मेरे परदादा जी ने एक काम किया। उन्होंने अपने यार-दोस्तों को बुलाया और उन्हें वह चश्मा पहना कर अपनी बात को प्रमाणित करने की कोशिश की। लेकिन विधि को कुछ और ही मंजूर था। उनके किसी भी दोस्त को चश्मा पहनने पर भी कुछ भी अजीब नहीं दिखा। परदादाजी की परेशानी बढ़ गई।

“उन्हीं दिनों एक दिन परदादाजी के पाँच साल के बेटे यानी मेरे दादाजी और उनके नन्हें दोस्तों ने यह चश्मा चुरा कर कौतूहलवश उसे पहन लिया। उन बच्चों को वे सारे दृश्य और छवियाँ दिखने लगीं जो भविष्य में होने वाली घटनाओं से संबंधित थीं। पाँच साल के मेरे दादाजी और उनके साथी चकित हो गये। उन्होंने वह चश्मा लाकर परदादा

जी को वापस कर दिया और उन्हें सारी बात बताई। बच्चों ने मार-काट वाले दृश्यों की निंदा की।

“परदादाजी सोच में पड़ गये। भविष्य में होने वाली घटनाओं के दृश्य बच्चों को तो नजर आए किंतु परदादाजी के मित्रों को ऐसा कुछ भी नहीं दिखा। इसके पीछे क्या राज था? अंत में परदादाजी ने इस रहस्य की गुत्थी खुद ही सुलझा ली। बार-बार बच्चों और बड़े लोगों पर इस चश्मे का प्रयोग करके वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इस चश्मे से केवल उसी व्यक्ति को भविष्य दिखाता था जिसका अंतर्मन साफ होता था। कलुषित और कलंकित हृदय वाले लोगों को यह चश्मा पहन कर भी कुछ भी नजर नहीं आता था। क्योंकि बच्चे मासूम और निश्छल होते हैं इसलिए उन्हें यह चश्मा पहनने पर भविष्य में घटने वाली घटनाओं के दृश्य साफ नजर आने लगते थे।”

“फिर क्या हुआ?” मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी।

“मरते समय परदादाजी वह चश्मा दादाजी को सौंप गए। १९१५ के आस-पास एक बार दादाजी को वह चश्मा पहनने पर नर-संहार के कुछ भयावह दृश्य दिखे जिसमें अंग्रेज सैनिक किसी बाग में इकट्ठे हुए हिंदुस्तानियों को गोलियों से भूनते नजर आए। दादाजी की रूह काँप गई। जाहिर था कि वह निहत्थी भीड़ स्वतंत्रता-संग्रामियों की थी। लेकिन यह बर्बर हत्याकांड कहाँ और कब होने वाला था? दादाजी के दिन का चैन और रातों की नींद उड़ा गई। उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े कुछ नेताओं से इस बारे में बात की। लेकिन उन नेताओं ने सोचा कि दादाजी उनसे मजाक कर रहे हैं। कोई भविष्य में घटने वाली किसी घटना के बारे में पहले से जान सकता है, ये मानने के लिए वे लोग तैयार ही नहीं हुए। “आखिर १४ अप्रैल, १९१९ के काले दिन अमृतसर में जलियावाला बाग का नृशंस हत्याकांड घटित हो गया। अंग्रेजों ने सैकड़ों निहत्थे हिंदुस्तानियों को गोलियों से भून दिया। अँधेरे ने रोशनी में संध लगा दी थी। दादाजी स्तब्ध रह गए। सबसे ज्यादा दुख उन्हें इस बात का था कि इस नरसंहार के बारे में दी गई उनकी चेतावनी पर किसी ने भी यकीन नहीं किया था। मरते दम तक दादाजी

को इस बात का मलाल रहा। वे अपनी बात का प्रचार करने के लिए अखबारों के दफ्तरों में भी गये किंतु अखबार वालों ने भी उन्हें कोई 'हिला हुआ' बूढ़ा मान लिया। संपादकों और संवाददाताओं ने उनके चश्मे को पहना पर दुर्भाग्य से उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। एक-दो अखबारों ने उन्हें एक 'खिसका हुआ' बूढ़ा करार दिया और उनके चश्मे की बात को एक अप्रैल का झूठा मजाक कहा। जाहिर है, इस सबसे दादाजी बेहद आहत हुए।

“दादाजी के मौत के बाद वह चश्मा पिताजी के पास आ गया। पिताजी ने भी उस चश्मे को सहेज कर रखा जैसे वह चश्मा उनकी धरोहर हो। विरासत में मिली चीज को आप कितना संभाल कर रखते हैं। वही हाल पिताजी का था। वे बड़े उथल-पुथल से भरे वर्ष थे। स्वाधीनता-संग्राम अपनी चरम सीमा पर था। अंग्रेज उसे कुचलने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। पिताजी जब भी यह चश्मा पहनते, उन्हें पुलिस-बर्बरता के दृश्य दिखाई देते। लेकिन उससे भी भयानक वे वहशियाना दृश्य थे जिनमें हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दंगे हो रहे होते। दरिंदे निर्दोष लोगों को मार-काट रहे होते। औरतों की इज्जत लूटी जा रही होती। व्यापक स्तर पर आगजनी और लूट-मार हो रही होती।

“भविष्य में घटने वाले ये भयानक दृश्य देख कर पिताजी सन्न रह जाते। कई-कई दिनों तक उनकी आँखों से लगातार खून गिरता रहता और रात में नींद नहीं आती। ऐसी मनःस्थिति में उन्होंने सोचा कि वे गाँधी जी या नेहरू से मिलकर उन्हें इस बारे में आगाह करेंगे। पता नहीं, पिताजी गाँधीजी या नेहरू से मिल पाए या नहीं। इतिहास की किसी किताब में इस बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उस जमाने के समाचार-पत्र भी ऐसी किसी घटना के बारे में खामोश हैं। यदि पिताजी समय रहते गाँधीजी या नेहरूजी से नहीं मिल पाए तो इसका क्या कारण रहा, यह बात अब हम कभी नहीं जान पाएँगे।

“हम सब अब यह तो जानते ही हैं कि देश की आजादी और विभाजन के समय लाखों बेगुनाह लोग मौत के घाट उतार दिए गये थे। लाखों औरतें विधवा हुई थीं। लाखों बच्चे अनाथ हुए थे। पिताजी की मानसिक दशा धीरे-धीरे खराब होने लगी

थी। वे इस बात से दुखी थे कि पहले से जानते हुए भी वे इस खून-खराबे को रोकने के लिए कुछ नहीं कर सके थे।

“किंतु उन्हें असली सदमा लगना तो अभी बाकी था। उन्हीं दिनों पिताजी ने जब एक बार वह चश्मा लगाया तो उन्हें भविष्य में होने वाली गाँधी जी की हत्या का दृश्य साफ नजर आया। यह देखकर उनकी आँखों के आगे अंधेरा छा गया। तब तक अंग्रेजों ने देश छोड़ कर जाने की घोषणा कर दी थी। पिताजी ने स्वतंत्रता-संग्राम से जुड़े लोगों से मिलकर उन्हें गाँधी जी के जीवन पर मँडराते खतरे के बारे में आगाह करने की भरपूर कोशिश की। किंतु देश को मिलने वाली आजादी के खुमार में डूबे लोगों ने इस खतरे को गंभीरता से नहीं लिया। लोगों ने पिताजी का मजाक उड़ाया- भला गाँधी जी जैसे सम्मानित आदमी को मारने की कोशिश कोई क्यों करेगा? उन्होंने इस आशंका को पिताजी की कपोल कल्पना करार दिया। स्वयं गाँधी जी इस खतरे से बेपरवाह हिंदू-मुस्लिम दंगों को रोकने के लिए बंगाल प्रांत में पद-यात्राएँ कर रहे थे।

“अंत में वह दिन भी आ गया जब अंधेरा रोशनी को साबुत निगल गया। दिशाएँ चीत्कार उठीं। देश के सूर्य को सदा के लिए ग्रहण लग गया। ३० जनवरी, १९४८ के मनहूस दिन गाँधी जी की हत्या कर दी गई। यह खबर सुनकर पिताजी की ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह गई। उन्हें इस घटना से गहरा आघात पहुँचा। वे उस दिन के बाद से विक्षिप्त से हो गए। ऐसी स्थिति में कोई भी संवेदनशील व्यक्ति अपना मानसिक संतुलन खो बैठता। गाँधीजी केवल एक व्यक्ति नहीं थे, वे समूची मनुष्यता थे।” किसी खुले घाव-सी थी वह रात जब मैंने उनसे पूछा- “क्या अब वह चश्मा आपके पास है?” पिछले साठ बरस से मैं इस चश्मे का ‘केयर टेकर’ हूँ। इस दौरान मैंने कई बार कोशिश की कि मैं इस चश्मे की सच्चाई पूरी दुनियाँ को बता दूँ। लेकिन हर बार मुझे उपहास का पात्र बनना पड़ा। समाज में शीर्ष पदों पर बैठे जिन नीति-नियंताओं को मैंने इस चश्मे का सत्य बताना चाहा वे सभी स्वयं इतने कलंकित निकले कि उन्हें यह चश्मा पहनने पर भी कुछ

नहीं दिखा। उन सबकी आत्मा का प्रकाश जीरो वॉट के बल्ब जितना मंद था। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि उन सब ने मेरी इस सच्ची बात को मजाक समझा। कई लोगों ने व्यंग्य में मुझे सलाह दी कि मुझे आगरा या रांची के पागलखाने में जा कर अपनी मानसिक स्थिति का इलाज करवाना चाहिए। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि मुझे 'साइंस-फिक्शन' लिखना शुरू कर देना चाहिए।'' यह कहते-कहते वे अचानक चुप हो गये। लगा जैसे झंकार के चरम पर पहुँचकर सारंगी का तार टूट गया हो।

वह सड़क पर पड़ी लावारिस लाश-सी रात थी जब मैंने उनसे पूछा- "क्या आप वह चश्मा अपने बेटे को सौंपकर जाएँगे?"

"सच पूछिए तो यही दुविधा अब मुझे भीतर से खाए जा रही है। एक अकुलाहट समूची शिला-सी बहती है मेरी धमनियों में। बेचैनी मेरे अंतस् का स्थायी भाव बन गई है। कभी-कभी मैं अर्थी पर लेटे मुर्दे-सा अकेला महसूस करता हूँ। जब भी कभी मैं यह चश्मा लगाता हूँ, वक्त के आइने में इंसानियत की नंगी छवि देखकर शर्मशार हो जाता हूँ। मेरी पीठ पर भविष्य का बोझ है। कभी-कभी बीच रात में समूचा विश्व मेरे जहन में नगाड़े-सा बजने लगता है। कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे कोई पागल मेरे कानों में शहर के घंटा-घर का घंटा लगातार बजाता जा रहा हो। जिस दिन से पिता ने मुझे यह चश्मा दिया है, मेरी दुनिया बेहद उदास है। मेरे भीतर हुए धमाकों से मेरा अंतस् क्षत-विक्षत हो गया है। अभिशप्त हूँ मैं जिसकी पीठ पर यह पीड़ा का 'क्रॉस' लदा है। क्या मैं अपने पुत्र को भी यही धूसर उदासी, यही यंत्रणा विरासत में दूँ?" उनकी कराहती आवाज के भीतर कुछ मर रहा था जिसे मैं साफ महसूस कर रहा था। उनके चेहरे की जमीन कटे हुए जंगल-सी उजाड़ लग रही थी।

हथेलियों के बीच ऐंठन-सी थी वह रात जब वे विचलित होकर बोले- "मैं नहीं चाहता कि मेरा बेटा भी मेरे पूर्वजों और मेरी तरह तबाहियों का नपुंसक राजदार बनकर रह जाए।" लगा जैसे बादलों के बीच बिजली की बैंगनी रेखा कौंध गई।

"अब आप इस चश्मे का क्या करेंगे?" मैंने पूछा।

"मुझे नहीं मालूम। मेरे भीतर असंख्य चिड़ियों के नुचे हुए पंख पड़े हैं। अब मैं इन हाँफते हुए काले, टभकते दिनों की लम्बी कतार का हमराज नहीं बनना चाहता।" पानी आने से पहले जैसे नल में फुसफुसाहट होती है, उस स्वर में वे बोले। उनकी आँखों में कई-कई परछाइयाँ लम्बी होती चली गईं। फिर थोड़ी देर बाद संयत होकर उन्होंने कहा- "हम उस युग में जी रहे हैं जब मिट्टी को भी कीड़ा लग गया है। हवा को फफूँद लग गई है। रोशनी को लकवा मार गया है। इस संक्रमण काल में सारे रंग केवल काले रंग में बदलते जा रहे हैं। लेकिन मेरा मानना है कि अच्छाई एक मशाल है जो बुराई की तेज हवाओं में काँपती तो है पर बुझती कभी नहीं। मेरे जीवन की आखिरी इच्छा इस चश्मे को सही हाथों में सौंप देने की है ताकि इंसानियत का भला हो सके।" कहकर वे चुप हो गये। मुझे लगा जैसे बहती हुई नदी का मीठा पानी कहीं रुक गया हो। या जैसे भीषण गर्मी में ठंडी हवा का झोंका चलना बंद हो गया हो।

वह एक परित्यक्त-सी उदास, सुबकती हुई रात थी जब मैंने उनसे पूछा- "आप तो हिंदी के समर्थ कहानीकार हैं। आप अपने इस चश्मे पर कहानी क्यों नहीं लिखते?"

वे बोले- "जिस भाषा में मैं पढ़ता-लिखता, सोचता और सपने देखता हूँ, उसे दरिद्रों की भाषा माना जाता है। इस दरिद्रों की भाषा में लिखी गई मेरी यह सत्य कथा लोग कभी पढ़ेंगे, मुझे इसमें संदेह है।" विज्ञानेश्वरजी बात सुनकर मुझे लगा जैसे गर्म सलाखों-सा जलता हुआ यह युग सीधा मेरी आँखों में उतर गया हो।

चलने के पहले इस विषय पर कहानी जैसा कुछ लिखने के लिए मैंने उनकी अनुमति ले ली। फिर उन्हें प्रणाम करके मैं लौट आया। मैं एक प्रतिष्ठित गुप्तचर एजेंसी का निदेशक हूँ। फिर भी मुझे हिम्मत नहीं हुई कि मैं स्वयं वह चश्मा पहनकर देखता। शायद मैं उस सच का साक्षात्कार करने से डरता था कि जिसे बच्चों ने देख लिया था। पता नहीं वह चश्मा पहनने के बाद मुझे कुछ दिखता या नहीं।

संपर्क: ए-५००१, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-२०१०१४ (उ.प्र.), मो. ८५१२०७००८६

जियो और जीने दो

देवी नागरानी

मैंने चाय की दूसरी बार प्याली भर ली, और उसके खत्म होते ही गलीचे पर अपने पेट के बल लेट गई। सिलसिलेवार आँसू थमने का नाम ही नहीं ले रहे, कितने तो मैं चाय की पहली प्याली के साथ पी गई थी। इस तन्हाई के आलम में यही सोचती रही कि शायद अपनों का साथ पाना मेरे हिस्से में न था या मैं खुद को उसके लिये तैयार ही न कर पाई थी।

‘ये अपने पास निशानी के तौर पर रख लो। कभी याद के गलियारे से गुजरो तो इस भाई को ज़रूर याद करना’, छोटे भाई सुरेन के ये शब्द मुझे आज भी याद हैं।

जब बाबा गुज़र गए तो हम दोनों भाई-बहन अपने-अपने शहरों से हवाई जहाज़ से उनके आखिरी दर्शन करने आ पहुँचे। पर क्या हम बाबा को देख पाए ? नहीं ! उनके चरण तक न छू पाए। अपने दर्द को सहलाते हुए जब हम वहाँ पहुँचे तो देखने को मिली उनके शरीर की अस्थियाँ जो शोलों के होम से इक मुट्ठी भर छार बनकर रह गई थी। क्या देखने की तमन्ना थी और क्या देखने को मिला ? बाबा की उँगली से निकाली गई अंगूठी, जो बाद में सुरेन को दी गई, वही मोती की अंगूठी जुदा होने के पहले सुरेन ने मुझे दी थी। आज उसे देखकर मुझे भाई की बहुत याद आई। जाने क्यों लगा कि उड़कर भाई के पास जाऊँ उसके सीने से लगकर रोऊँ। बाबा की कोठी की चाबियाँ भी उसने मुझे दे दी थीं। सिसकियाँ लेकर रोते हुए मुझे अहसास हुआ कि कोई मेरे पीछे खड़ा है।

‘अम्मा’, मैंने आवाज दी। अम्मा अधेड़ उम्र की बेवा थीं, जिसका इस जहान में अपना कोई न था। काम की तलाश में एक दिन वह मेरी चौखट पर आई और मैंने उन्हें घर के अन्दर ले लिया। आज तक वह जी जान से मेरी खिदमत करती आ रही हैं, कभी उस चौखट के बाहर न जा पाई। इस घर की वीरान चारदीवारी में उसने जैसे जान फूँक दी, जहाँ वीराना बसता था वहाँ बहारों की ताज़गी ले आई। सुन्दर फूलों को लाकर गुलदान सजाती, भारी भरकम पर्दे उतारकर जालीदार पर्दे चढ़ा देती, जहाँ से बाहर की पारदर्शी सुन्दरता भी अन्दर झाँकने लगती। कभी बालों में तेल डालकर अपनी उँगलियों से मस्तिष्क को सहलाती, कभी अपनी गोद में सर रखकर बालों को सहलाती और यही अहसास मुझे मेरा बचपन लौटा देता। व्यंजन बनाकर खिलाने में भी उसका जवाब न था। पाँच दिन तो काम पर जाने की आपाधापी में कुछ कर न पाती थी, पर शनिवार, रविवार को वह ख़ूब पकाती और गर्म-गर्म पकवान सामने रखकर खाने का आग्रह इतने प्यार से

करती कि मैं ना नहीं कह पाती। कभी दाल-पकवान, तो कभी बेसन की भाजी, कभी जवारी की रोटी, ऊपर से मक्खन धरा हुआ, तो कभी शीरा-पटाटा-पूरी! वो खासकर उस दिन बनाती जिस दिन उमेश आने वाला होता। उसे हर एक की पसंद-नापसंद का खयाल रहता था।

‘कहो उर्मि, मैं यहीं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ। देख रही हूँ कि तुम्हारी चाय ठंडी हो गई। उठो, मैं एक गर्म कप चाय बनाकर लाती हूँ।’

‘अच्छा, पर एक नहीं दो बना लाओ, मेरे और अपने लिये भी।’

अम्मा रसोई की तरफ मुड़ी और मैं अपने ही कथन पर हैरान होती रही, सदा एकान्त में अपनी तन्हाइयों को ओढ़कर बैठी रहने की आदी, गुमसुम से, खोई हुई अपने ही सोच के संसार में, आज तक कभी किसी के साथ अपने आप को बाँटने की कोशिश नहीं की, पर आज...? अतीत की यादें मेरी सोच का हिस्सा बन चुकी हैं, और उनके साथ जीना मेरी फ़ितरत। पर बीते कुछ दिनों से एक घुटन का अहसास मेरे मन को मथता रहा। उमेश ने मेरा बहुत समय अपने नाम कर लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि उसमें मेरी चाहत भी शामिल रही। ऑफ़िस के काम के बाद लौटकर घर आते ही मैं शाम के सात बजने का इन्तज़ार करती। हर शाम वह इसी समय मुझे लेने आता, कभी कार में तो कभी मोटर बाईक पर और हम दोनों घंटों तक हवाओं की लय-ताल पर कभी समन्दर के किनारे, कभी रेस्टोरेंट में कॉफी पीते, टहलते, खुली फ़िज़ाओं का आनंद लूटते। मुझे लगने लगा जैसे उमेश मेरे साथ खुश है, बहुत खुश। वैसे वह भी मुझे भाने लगा था, मैं भी उसकी सोहबत में खुश थी, बहुत खुश। आज भी उसका मुस्कुराता सुंदर चेहरा मेरी आँखों के आगे बिन बुलाये आ जाता है। विश्वास कहीं या अंधविश्वास पर उन दिनों मुझे कभी यह ज़रूरत ही नहीं महसूस हुई कि मैं उसके बारे में कुछ ज़्यादा जानूँ, कभी मुड़कर कोई सवाल करूँ। वो कहता रहता था - “उर्मि तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो, शायद तुम मेरे लिये ही इस ऑफ़िस में आई हो, मैं तुम्हारा बॉस ही नहीं तुम्हारा दोस्त भी बनकर रहना चाहता

हूँ, उसी दायरे में जिसकी नींव पर हमने दोस्ती की शुरुआत की।” इस प्रकार की गुफ़्तगू की ओर मैं ज़्यादा ध्यान न दे पाई, बस उसके साथ की खुमारी में खो जाया करती थी।

उमेश की शख्सियत का यह पहलू मुझे मुतासिर किया करता था कि उसने कभी भी मेरे साथ कोई बदसलूकी नहीं की। मेरे काम को सराहते हुए मेरी हिम्मत अफ़ज़ाई की। शामें साथ गुज़ारते हुए जो हसीन यादें बीते पलों की साथ हैं, वही अब मेरी अपनी धरोहर है। फिर भी जाने क्यों आज मेरे दिल में उमेश के लिये कोई भाव नहीं उभरता? उससे नफ़रत कर पाऊँ यह तो मुमकिन ही नहीं। वह अच्छी तबीयत और साफ़ दिल वाला इन्सान है, जिसने आज़ादी का सही अर्थ समझा। ‘जियो और जीने दो’ उसके निजी क़िरदार की पहचान रही और शायद इसी कारण मुझे उसकी नज़दीकी भाई। उसके साथ प्रेम का नाता जोड़ा जो अरसे तक क़ायम रहा, पर आज यह भी मेरा फ़ैसला है कि मैं उसके साथ की मोहताज कम और एकांत की शाइक बनी हुई हूँ। सालों तक साथ रहा पर सुविधा के आधार पर कोई भी किसी की रुकावट नहीं बना और न ही किसी ने चाहा कि कोई बंधन उन्हें बाँधे।

“तुम बात का ग़लत मतलब निकाल रही हो उर्मि ! मुझे दायरे में क़ैद करने की कोशिश कर रही हो। मैं खुद आज़ादी का कायल हूँ, तुम्हें मैंने पहले भी कहा था कि हम कभी भी एक दूसरे के लिए रुकावट नहीं बनेंगे।”

एक दिन मैंने उसके सामने शादी का प्रस्ताव रखा और वह तुरंत ‘हाँ’ न कर सका। कारण जानने की कोशिश में मैंने क्या उधेड़ दिया पता नहीं ? पर उमेश की नाराज़गी ने हम दोनों को सवालियों-जवाबों की कतार में लाकर खड़ा कर दिया।

‘उर्मि हम अच्छे दोस्त हैं, और मैं वादा करता हूँ कि हमेशा ही तुम्हारा दोस्त रहूँगा, इससे ज़्यादा तुम मुझसे कुछ उम्मीद मत रखना।’

यह सच है कि उमेश की और मेरी इस सिलसिले में कभी कोई भी बात न हुई थी। उसका व्यवहार हमेशा फ़र्म में मुलाज़िम जैसा और बाहर एक अच्छे दोस्त जैसा रहा। वह

उस दिन से मेरा खैरख्वाह रहा, जिस दिन मेरा इन्टरव्यू लेकर मुझे अपनी सेक्रेटरी की जगह पर नियुक्त किया। इसे मैं उसकी ख़ासियत कहूँ या सद्गुण कि वह ऑफिस में सबको इज़्जत देता और अपने मुलाज़िमों से इज़्जत और वफ़ादारी की उम्मीद भी रखता। वह मुझसे बहुत खुश था पर इन लक्ष्मण रेखाओं में मैं भी शामिल थी। ऑफिस में वह जितना सोबर और सीरियस रहता था, बाहर मेरे साथ उतना ही खुश, बच्चों की तरह मुस्कुराता, खिलखिलाता, गुनगुनाता हुआ, कभी-कभी मेरे ज़ोर देने पर वह यह ग़ज़ल गाता... 'सीने में सुलगते हैं अरमाँ आँखों में उदासी छाई है....। ये आज तेरी दुनियाँ से हमें तकदीर कहाँ ले आई है....।' और उस दौरान उसकी उदास आँखों में नमी तैर आती।

दरवाज़े पर आहट के साथ आवाज़ आई 'उर्मि उठो चाय लाई हूँ, गर्म-गर्म पी लो' कमरे की बत्ती जलाते हुए अम्मा ने कहा। शाम ढलकर रात होना चाह रही थी, साढ़े पांच बजे ऑफिस से आकर गुमगुम-सी खोई रही, अब साढ़े सात बजे थे। दो घंटे का समय सोचते हुए कैसे गुज़र गया पता ही न चला।

'अम्मा तुम भी चाय लेकर मेरे पास बैठ जाओ।' कहने भर की देर थी, वह ज़मीन पर मेरे सामने बैठ गई। चाय की चुस्की भरते हुए सोचती रही कि यह तन्हाई भी कितनी नीरस है जो इन्सान को यादों की गहरी वादियों की अंधेरी गुफ़ाओं में ले जाती है। अगर घर में अम्मा न होती तो मैं न जाने और कितने घंटे इन्हीं सोच में खोई रहती।

'अम्मा तुम शाम को इसी तरह मेरे साथ चाय पिया करो।'

'उर्मि, आज उमेश तुझे लेने नहीं आया?' घड़ियाल की ओर देखते हुए अम्मा ने पूछा।

'नहीं, अब वह कभी नहीं आएगा।' मैंने भीगी-सी आवाज़ में कहा।

'क्यों उर्मि क्या हुआ है?' अम्मा ने अपना हाथ मेरे घुटनों पर रखते हुए फिर सवाल किया।

'यही तो मुझे नहीं मालूम और न मैं जानना चाहती हूँ। आज २८ तारीख है, परसों तीस तारीख से मैं ऑफिस

का काम छोड़ दूँगी। फिर हम यहाँ नहीं रहेंगे, बाबा की कोठी में चलेंगे, तुम मेरे साथ चलोगी न अम्मा?' ऐसा कहते हुए मेरा गला भर आया। मैंने अपनी रुलाई को विराम देने के लिये चाय की प्याली को होठों तक ले आने की चेष्टा की। पर दुख ने कुछ यूँ घेरा कि न मैं चाय पी सकी, न आँसू। प्याली वापस रखते हुए अम्मा का हाथ अपने हाथ में लेकर चूमते हुए कहा- 'अम्मा तू मुझे अकेली छोड़कर न जाना, अब मेरा यहाँ कोई नहीं है, बाबा भी चले गये, भाई..!'' कहकर मैं बच्चों की तरह रोने लगी और उन आँसुओं के अक्स में मैंने उमेश को फिर-फिर कहते सुना, 'पर मैं तुमसे शादी नहीं कर सकता, उर्मि मुझसे बार-बार उसका कारण न पूछो। हम दोस्त हैं, दोस्त रहेंगे, प्लीज़ समझने की कोशिश करो।'

'क्या समझूँ? तुम कुछ कहो तो समझूँ। अभी तो मुझे यही समझ में आ रहा है जैसे मैं तुम्हारे लिये सिर्फ़ एक साधन हूँ शाम का वक़्त गुज़ारने का। जिसके साथ तुम दो-तीन घंटे मन बहलाते रहते हो...।'

'यह गलत है उर्मि, न मेरी नीयत में कुछ है, न तुम्हारी... बस हमारी समझ अब मेल नहीं खाती।' ऐसा कहकर उमेश ने अपना सर दोनों हाथों के बीच जैसे नोचना चाहा।

'पर मुझमें क्या कमी है कि...?' मैंने अपने ही सवाल के जवाब में फिर सवाल किया।

मेरी बात को काटते हुए उमेश ने मेरा चेहरा अपने हाथों में लिया और आँखों में आँखें डालते हुए कहा- 'उर्मि फिर कभी यह लफ़्ज इस्तेमाल न करना, कमी तुममें नहीं मुझमें है.... बस!' इतना कहकर वह बच्चों की तरह रोने लगा।

मैं हैरान और परेशान उसे देखती रही, उसके मासूम चेहरे को जिसको उसके ही आँसुओं ने अभी-अभी धोया था। किसी गहरे घात से हल्दी की तरह ज़र्द हुआ था उसका चेहरा।

दूसरे दिन ऑफिस में उसने मुझसे और मैंने उससे आँखें चुराई, बिना ज़्यादा बातचीत के दिन गुज़रा और शाम

को घर आई। उमेश के बहुत समझाने के बावजूद उसके साथ बाहर घूमने न जा सकी। दिल को कोई तो चोट पहुँची है, कहीं तो दरार आई है जो दिल जुड़ने का नाम ही नहीं लेता।

‘सर में थोड़ा गर्म तेल डालती हूँ राहत मिलेगी।’ कहते हुए अम्मा एक तसरी में गरम तेल ले आई। मेरा सर अपने घुटनों पर रखते हुए अपनी उँगलियों के पोरों से मेरे खुले बालों में तेल डालती रही फिर काफी वक़्त कंधी से मेरे बालों को लसारती रही। मुझे बहुत आराम मिला। शायद तेल का असर था या अम्मा के सामीप्य का था जो मुझे राहत देता रहा।

मुझे अपनी नौकरी व उस अधूरे प्यार को खोने का ज़्यादा अफ़सोस न था जितना अपने आप को उस गहरे आघात से बचाने पर संतोष था। बाबा के बारह दिन के बाद जब सुरेन वापस जा रहा था तो कोठी की चाबियाँ मुझे देते हुए बोला- ‘उर्मि ज़िन्दगी में छोटे-बड़े हादसे दरपेश आएँगे। कभी तुम्हें ज़रूरत पड़े तो बाबा की यह कोठी आकर बसाना, मुझे खुशी होगी।’

चाबी लेते मुझे बहुत हैरानी इस बात पर हुई कि छोटा होते हुए भी वह बड़ी गहरी बात कह पाया।

भविष्य के गर्भ से इन्सान को क्या हासिल होता है यह आज जानना मुश्किल है। हाथों में था वही चाबियों का गुच्छा, सामने बंधा हुआ सामान और नीचे टैक्सी लेने गई हुई अम्मा।

‘जियो और जीने दो’ कितना सही कहा था उमेश ने। उसने वाकई मुझे जीने दिया पर शायद मैं ऐसा न कर पाई। औरत की फ़ितरत ही शायद ऐसी है: वह पूर्णता चाहती है। जिसे अपना समझती है उसे बंटा हुआ नहीं देख सकती, चाहे वह प्यार ही क्यों न हो। उसे पूर्णरूप में पाने के लिये वह जीना तो क्या मरने तक को तैयार हो जाती है। मगर एक अपूर्ण, अधूरी ज़िन्दगी को गुज़ारना ‘जीना’ तो नहीं! ‘जीने दो’ तो बहुत दूर की बात है, कौन किसको जीने दे यह एक अनसुलझी गुत्थी है।

मैं फिर सोच के जाल में उलझ गई। इन्सान कितना मतलबी होता है, अपनी सुविधा से अक्षरों का जाल बुनकर एक आज़ाद ज़िन्दगी को कैद बख़्शाता है।

‘उर्मि चलो, नीचे टैक्सी खड़ी है।’ सामान के पीछे-पीछे मैं भी उसी राह पर चली जहाँ बाबा की कोठी, उसका आँगन मेरी बिखरी जवानी को आगोश में लेने के लिये आतुर था।

संपर्क:

९-डी, कार्नर व्यू सोसाइटी, १५/३३ रोड, बांद्रा, मुम्बई- ४०००५०

Email: dnangrani@gmail.com

दूसरा वसंत

देवनाथ द्विवेदी

छः साल पहले आशु को तुमने अंगुली पकड़ कर चलना सिखाया था... अब वह मुझसे साइकिल मांगने लगा है। कहता है कि ट्राइसाइकिल चलाना अच्छा नहीं लगता... सब साथियों के पास साइकिलें हैं... उसे भी चाहिए...। सोचती हूँ अगले महीने में उसके आठवें जन्मदिन पर दे ही दूँ।
छः साल का यह समय कैसे बीता, तुम्हें कैसे बताऊँ ?

देह और मन, दोनों की अलग-अलग भाषा है... और एक साथ दोनों को ठीक से समझ पाना कठिन है... कहूँ तो असम्भव सा है... कम से कम मेरे लिए तो है ही। जब तुम थे तो ऐसी दुविधा कब सामने आई ? शरीर कब मन में बदल जाता था और कब मन में से शरीर के अंकुर फूट आते थे यह जान लेना आसान था क्या ? तुम्हारे सांसों के सैलाब में मैं कब टिक पाती थी ? मन हो चाहे देह, उसे तो बस बहना ही होता था... उतनी दूर तक जहाँ तक तुम चाहो... बीच में रुकने की न इच्छा होती थी और न ही सामर्थ्य। नाव पर बैठे हों और पतवार किसी भरोसेमन्द हाथों में हो तो देह और मन ठौर ठिकाने पर कहाँ टिक पाते हैं!

घर से कॉलेज और कॉलेज से घर लौटना मेरे लिए रोज होने वाली एक आम बात थी... लेकिन तभी तक जब तक तुम्हें नहीं देखा था मैंने। और तब उस दिन पहली बार तुम अपने किराए के घर में बालकनी पर खड़े दिखाई दे गए थे मुझे। तुमने मुझे शायद उस दिन देखा तक नहीं था... बस अपने सामने, दूर किसी एक अनिश्चित बिन्दु पर लगातार टिकी तुम्हारी दृष्टि ने ही मुझे परास्त कर दिया था... कि कैसा है यह लड़का जो अपनी बालकनी में अकेले खड़ा है और सड़क पर जाती एक लड़की को देखने के बजाए कहीं और किसी फालतू सी चीज़ में उलझा पड़ा है!

सच कहूँ तो तुम मुझे एक बोर और कुछ सनकी जैसे ही लगे थे... और उस दिन के बाद मैंने जब भी तुम्हें कहीं भी देखा तो कुछ इसी तरह कि देखो तो जरा! आजकल के जमाने में भी ऐसे भोंदू टाइप के लड़के हैं! पर मुझे तब क्या पता था कि मेरी जिन्दगी में यही भोंदू लड़का मेरा अपना होकर आएगा। तुम आ तो गए पर इतनी जल्दी, इस तरह अचानक मुझे अकेला छोड़कर क्यों चले गए ? और तुम्हारे चले जाने का भयावह सच मैं अभी तक आत्मसात नहीं कर पायी हूँ। तुम मुझे लगातार आसपास ही दिखाई देते रहते हो।

हम दोनों ने काफी चतुराई से काम लिया था.... अपनी पसन्द को अपने कामन दोस्तों के जरिए से अपने गार्जियन्स तक पहुँचाया था.... और एक प्रेम प्रसंग को उनकी आसान सी स्वीकृति मिल जाने से हमारे अबोले सपनों को मानो पंख मिल गए थे....। फिर तो कितनी सारी बातें एक साथ होती चली गईं... बेरोक टोक और एकदम सहज ! जीवन मानों अपने ही हाथों से लिखी गई एक खूबसूरत सी रोमांटिक मूवी की तरह आंखों के आगे सजीव होने लगा था.....।

लेकिन हमने यह कब चाहा था कि....कि.....जीवन की इस मूवी में ऐसा भयावह मोड़ आ जाए ! अभी तो शुरुआत भर हो पाई थी कि सब कुछ एक झटके में खत्म भी हो गया। जब तुम गए तो आशु तो एकदम अबोध ही था...उसे कुछ समझ में नहीं आ पाया था कि आखिर यह सब क्या हो रहा है....आज आठ साल का होकर भी वह तुम्हारे अचानक बीमार होने और फिर हमेशा के लिए चले जाने की घटना को ठीक से समझ नहीं पा रहा है...उसके प्रश्नों के उत्तर दे पाने के लिए जितना धैर्य और कौशल चाहिए वह मुझमें कहाँ है ? और इसीलिए या तो वह मेरी डांट खाकर चुप हो लेता है या फिर मुझे रोता हुआ देखकर सहम जाता है..... और तब ठीक तुम्हारी तरह ही..... देर तक देखता रहता है....दूर किसी अदृश्य वस्तु को लगातार टकटकी बांधकर....। अपने बेटे की सूरत में ही नहीं उसकी आदतों तक में तुम ही हो जो अपनी यादों के पाश में कस कर बांध लिया करते हो मुझे।

मन की कोई उम्र होती है या नहीं, यह मैं नहीं जानती। लोग कहते हैं कि नहीं होती। जो ऐसा सोचते हैं शायद सही हों या कौन जाने गलत ही हों...। आज तुम होते तो इस बात को उठाने की जरूरत ही क्यों पड़ती? तुम्हारे रहते मन और देह की उम्र तो जैसे उसी मुकाम पर ठहर सी गई थी जहाँ से हमने अपना साझा सफर आरंभ किया था।

तुम्हारे जाने के छः साल बाद आज मैं इस दुविधा में क्यों पड़ गई हूँ? कभी मन से लड़ना पड़ता है तो कभी देह से। और कभी एक साथ दोनों से ही। देह की उम्र को लेकर तो कोई झगड़ा है ही नहीं। बाइस की थी मैं जब एक साथ दो

बातें हुईं....पहले तुम्हें कालेज की लेक्चररशिप मिली फिर हमारी शादी हुई....दो साल बाद आशु आया और उसके दूसरे जन्मदिन से ठीक पन्द्रह दिन पहले तुम हमेशा के लिए साथ छोड़ गए.....तो अब पूरे बत्तीस की है यह देह....पर मुझे अक्सर लगता है किकि बत्तीस की हो या बयालिस की, क्या फर्क पड़ता है अब ? पर लोगों को कहते सुनती हूँ कि.....और मेरे आफिस के बॉस तो बार बार कहते हैं कि....अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है कृतिका ? तुम्हें अपने बारे में नए सिरे से सोचना चाहिए....। मेरे सेसन में मेरे साथ फायनैन्स के केसेज़ डील करने वाला समीर भी एकाध बार ऐसा ही कुछ कह देता है...।

मेरा मन तो किसी को दिखाई नहीं देता। वे अगर उसे देख पाते तो शायद...शायद मुझे मेरे हाल पर छोड़ देते....पर उन्हें तो दिखाई देती है मेरी उम्र जो अभी बत्तीस की है और वे इस उम्र को अपने हिसाब से एक्सप्लेन भी करना चाहते हैं और शायद एक्सप्लोर भी....। या कम से कम वे यह तो चाहते ही हैं कि मैं इस देह को एक्सप्लोर करने के बारे में नए सिरे से विचार करूँ...। पर आखिर क्यों करूँ मैं ऐसा ?

मेरे मन को तुमने आज तक नहीं छोड़ा है....पहले तो एक महा बोर बन कर छाए रहे महीनों तक मेरे दिल और दिमाग पर.... फिर जाने कैसे तुम्हें भी लड़कियों में देखने लायक कुछ लगने लगा था....और तुम मेरी ही एक सहेली से भोंदू किस्म का लगाव दिखाने लगे थे...न वो मजनू जैसा प्यार था और न देवदास जैसा....। तुम्हें बात करते मानों डर लगता था और दूर खड़े होकर देर देर तक घूरते रहने में शर्म भी नहीं लगती थी। तुम्हारे इस कम्प्यूजन को हम लोग कितना एन्जॉय करते थे, यह तुम्हें क्या पता!

फिर क्या हुआ कि सारी सयानी और चतुर चालाक लड़कियों में से मेरे ही सिर पर सहानुभूति का शैतान सवार होना था! हाँ, यह सच है कि तुमसे प्यार तो बाद में हुआ....इसके पहले तो मुझे तुम पर तरस ही आता रहा...कि बेचारा कितना सीधा है! न लड़कियों के मन की परख है इसे और न ही प्यार का ककहरा इसे आता है...। मुझे वो दिन

याद है जब मैंने ही तुम्हें बताया था कि मेरी सहेली को अपने जेहन से निकाल दो.... वह और उसके साथ की और कई लड़कियाँ भी तुम्हारे इस 'दूरस्थ प्रेम कार्यक्रम' का मजाक उड़ाती हैं... थोड़ा प्रैक्टिकल होने की सलाह भी मैंने तुम्हें दे डाली थी...। उसके बाद क्या हुआ.... तुम्हें डिप्रेशन जैसा कुछ हुआ.... अदृश्य चीजों पर तुम्हारी निगाहें अब ज्यादा ही देर तक ठहरने लगीं थी....। और फिर तो हद ही कर दी थी तुमने...! आए दिन, राह चलते तुम मुझसे पूछने लगे थे कि प्रैक्टिकल होना किसे कहते हैं? बताओ कृतिका, वे लड़कियाँ मेरा मजाक क्यों उड़ाती थीं? क्या तुम भी मेरा मजाक उड़ाती हो? क्या मैं सचमुच ऐसा हूँ कि लोग मेरा मजाक उड़ाएँ? शुरू-शुरू में तो मैं परेशान ही हो गई थी तुमसे।

परेशान तो अब भी हूँ मैं तुमसे... या कहूँ कि तुम्हारे अचानक साथ छोड़ जाने से। परेशान होती हूँ मैं और भी कई तरह से.... कभी अपने मन को लेकर तो कभी अपने शरीर को लेकर... और कभी अपने ऑफिस के लोगों के कमेन्ट्स को ले कर, जो वे अक्सर मेरी पीठ पीछे और कभी सामने भी करते ही रहते हैं। उनकी बातों में से सहानुभूति, व्यंग, चटखारेबाजी और चाहना के तत्वों को अलग अलग कर पाना और उनके ठीक-ठीक मंतव्यों तक पहुँच पाना कितना कठिन होता है...! ऐसी उलझने वाली स्थिति में मुझे तुम्हारे ही फार्मूले को आजमाने से कुछ सुकून मिल पाता है.... मैं ठीक तुम्हारी ही तरह कुछ भी न समझ पाने का नाटक करते हुए दूर किसी अदृश्य वस्तु को घूरने लगती हूँ।

ये आफिस भी क्या चीज है! जब कोई टारगेट फिक्स हो तो सारे लोगों पर काम का भूत सा सवार रहता है.... न हँसी न मजाक.... न कोई हल्की फुल्की बात.... बस काम, काम और सिर्फ काम। बीच बीच में कॉफी स्नैक्स के अनगिनत दौर...! कभी कभी काम के बोझ में एक दूसरे पर खीझना और चिल्लाना और कुछ इस तरह से बातें करना मानों झगड़ ही रहे हों... और जब टारगेट पूरा हो गया तो एकदम से रिलैक्स्ड...! बेवजह का हँसना, एक दूसरे पर कमेण्ट पास करना.... कभी-कभी एकदम से बेहूदा किस्म के कमेण्ट्स

भी करते हैं लोग.... और सब कोई करते हैं... बस समीर को छोड़कर.... समीर तो हर हाल में मानों एक जैसी स्थिति में रहने और व्यवहार करने का अभ्यस्त सा है... लगभग हमेशा ही अपने आप में खोया और डूबा हुआ। मेरे प्रति उसका क्या रुख है या वह मेरे बारे में औरों जैसा ही सोचता है या कुछ अलग... यह मैं आज तक नहीं जान सकी हूँ। उसकी सबसे अच्छी बात तो यही है कि वह मेरे बारे में औरों की तरह एग्रेसिव होकर न तो बात करता है और न ही ज्यादा कन्सर्न शो करता है... हाँ उसकी दृष्टि में अति गूढ़ सी कोई भाषा है जो अक्सर गहराई में उतर कर समझने का आमंत्रण सा देती रहती है। मेरा विगत, आगत और वर्तमान भी सबके अनुमान और बहस का मुद्दा है.... मानों एक खुली किताब हो जिसे यदि पढ़ा जा सके तो बहुत ही अच्छा और ऐसा न हो पाए तो पढ़े बिना ही समीक्षा कर पाने का सुख तो हर कोई पाना ही चाहता है। मेरी इस खुली किताब पर सबका हक है लेकिन समीर को न तो कोई पढ़ने की कोशिश करता है और न ही समीक्षा के योग्य ही मानता है। उसके अकेलेपन में किसी को भी खोजबीन लायक या फिर ज़ायकेदार जैसा कुछ क्यों नहीं लगता? मुझे इस लैंगिक विभेद को सहने की अब आदत सी पड़ गई है।

समीर की यह रहस्यमयी मुद्रा और मकड़जाल सा व्यक्तित्व मुझे अपनी ओर खींचता है.... और अक्सर मैं इस खिंचाव की तुलना तुम्हारे भोंदूपने से उपजी अपनी सहानुभूति से करने लगती हूँ.... वही सहानुभूति, जिसके चलते मैं पके आम की तरह ही तुम्हारी झोली में टपक पड़ी थी, और मुझे इसका कभी और किसी तरह का पश्चाताप भी नहीं हुआ.... बल्कि यूँ लगा था मानों मेरे जीवन में पहले वसंत का आगमन हुआ हो! तो अक्सर जब मैं समीर के इस अनमनेपन को देखती हूँ तब मैं इस बत्तीस साल की देह में बैठे मन को पूरे आठ साल पीछे ले जाकर तुम्हारी आरंभिक स्मृतियों से जुड़ जाती हूँ....। तब... ये बेवकूफ सा दिखता समीर तुमसे जुड़ने के उपकरण के रूप में भला सा लगने लगता है। और तब मेरे मन का यह नया रूप मेरे लिए अजनबी सा हो जाता है।

मन के इस अजनबीपने से मुझे अक्सर डर सा लगने लगता है.....बहुत डर लगता है..... जब यह समीर के रास्ते पर चलते हुए मुझे तुम्हारी यादों के करीब ले जाना चाहता है....मैं नहीं चाहती कि मेरी और तुम्हारी यादों के बीच समीर एक सोपान की तरह आए.....।

मैं कई बार खुद पर खीझ उठती हूँ....कभी इसका कारण यह समीर होता है तो कई बार मेरा अपना ही मन। मुझे लगता है कि आज अगर तुम होते तो शायद बहुत कुछ इसी समीर जैसे ही होते...आत्मलिप्त से....और अपनी इस आत्मलिप्तता में कहीं गहरे तक मुझसे जुड़े हुए....मेरे इर्द गिर्द ही अपनी दुनिया को तलाशते हुए.....और अपनी इस तलाश को भरसक अपने से भी छुपाते हुए.....कि कहीं यह कोशिश खुलकर बाहर आ गई तो इसका क्षरण न होने लगे....कि जैसे हर खुली चीज पर हवा, पानी, समय, धूप छांव, गर्मी सर्दी वगैरह का प्रभाव पड़ता हैतो उसी तरह तुम्हारी इस तलाश और आत्मलिप्तता और मुझसे जुड़ाव की यह कोशिश कहीं छीजने न लगे...कि कहीं वस्तुओं की तरह भावनाओं के स्वरूप पर भी इन अनेक कारकों का दुष्प्रभाव न पड़ जाए.....। तुम्हारे स्वभाव में यह जो एक अजीबपना था और जिसके चलते ही मैं शायद दूसरों के बजाए तुम्हारी ओर ही खिंच कर आ गई थी.....मैं अब सोचती हूँ कि शायद मैं भी तुम्हारी तरह ही कुछ अलग मिट्टी की ही बनाई गई थी....और कुछ ऐसी ही मिट्टी इस समीर के लिए भी जुटाई गई होगी.....अगर ऐसा न होता तो आज छह साल बादहाँ.....पूरे छह साल बाद... तुम्हारी यादों को ताजा करने के लिए क्यों बार बार समीर की यह आत्मलिप्तता मेरे निजी एकान्त में बेधड़क जब तब आती रहती है.....।

इन दिनों जो भी कुछ मेरे मन में चल रहा है....उसे किसी संज्ञा, सर्वनाम या विषेशण के साथ जोड़कर देख पाना कठिन है। यही मेरी खीझ का कारण है....और इस खीझ को खाद पानी देने का उपक्रम यह समीर कर रहा है....मैं तुम्हारी स्मृति का दामन थामे वर्षों का वीरान सफर तय कर सकी हूँ.... आगे भी कर लूँगी....। इस रास्ते में मेरा शरीर

मेरे साथ, मेरे नियंत्रण में रहेगा....। विवाह के चार वर्षों की अवधि में मेरी देह मेरी होकर भी मेरी कब रही है ? इसका एक नये तरीके से भी प्रयोग हो सकता है....यह तो मुझे तुम्हारे साथ ने ही सिखाया था...और इस देह को साधन बना कर मैं तुम्हारे मन से तुम्हारी देह को अलग करते हुए देख और भोग पाती थी.....वरना तुम अपने मन के दायरे से बाहर कब निकल पाते थे ? अब जब कि तुम मुझसे दूर चले गए हो तो ...तो यह देह मुझे वापस मिल गई है....अब यह फिर से मेरी है और इस पर मेरा उसी तरह का नियंत्रण है जैसा तुमसे जुड़ने के पहले था...। तो मेरी चीज जो मेरे पास वापस लौट कर आ गई है उसे मैं संभाल लूँगी...। इसके लिए मुझे किसी की सहानुभूति या सलाह या संवेदना की जरूरत नहीं.....। और फिलहाल मेरे सामने हमारे बेटे आशु की देखरेख से बढ़कर और कोई वरीयता भी नहीं है....।

तुम्हारे न रहने पर बाबूजी और अम्मा यानी कि आशु के बाबा दादी ने ही जिद करके मुझे यह ऑफिस की नौकरी कर लेने को कहा....इसलिए नहीं कि पद और वेतन अच्छा है बल्कि इसलिए कि बाहर निकलने से मन लगेगा, आर्थिक निर्भरता रहेगी और अपने दुख को धीरे धीरे शायद भुला पाना भी आसान हो जाएगा....तो मैंने यह जॉब पकड़ ली और जॉब के नाते ही यहाँ शहर में आशु को लेकर आ गई....शुरू में कई कई महीने तक कभी अम्माजी तो कभी बाबूजी यहाँ मेरे पास रह कर मेरी गृहस्थी को हर तरह से सहारा देते रहे... इतना तक कि मेरी बूढ़ी माँ और मेरे दोनों बड़े भाइयों को कभी कुछ सोचने या करने की जरूरत ही नहीं पड़ी..... और मैं भी सब का मन रखने के लिए प्रत्यक्ष सामान्य सी दिखने का ढोंग करती रही....पर तुम्हीं कहो, तुम्हारे जैसे साथी के अचानक चले जाने की वेदना को कोई कैसे सहे? तो मैं अपनी वेदना को छुपाकर जीना सीखने का जतन करने लगी। और जब मैं थोड़ा अपने को संभाल पाई हूँ तो बाबूजी और अम्माजी पूरी तरह से गाँव में ही रहने लगे हैं.....साल में एकाध बार ही यहाँ आते हैं....कहते हैं कि आशु को देखने चले आए हैं....मानो मैं

उनके लिए कुछ भी नहीं हूँ। एक बार पूछ बैठी तो कहा कि बेटी, जमाने के रफ्तार के हिसाब से चलना सीखो....हम बूढ़े लोग कब तक साथ दे पाएँगे ? तुम्हें अब अपने बारे में खुद निर्णय करने की छूट होनी चाहिए....। मैं नहीं समझ पाती कि आखिर वे कहना क्या चाहते हैं...या फिर मुझे निर्णय की छूट देकर अपना निर्णय मेरे ऊपर थोपना चाहते हैं?

सबके सब, यहाँ तक कि तुम्हारे मम्मी पापा भी मुझे एक खास नजरिए से देखते हैं। मानो मैं कोई ऐसी वस्तु हूँ जो कभी भी गिर कर टूट फूट जाने वाली है...जो अकेले रह ही नहीं सकती...या जिसे अकेले नहीं रहना चाहिए....पर मैं क्या करूँ ? मैंने कब और किससे यह अकेलापन मांगा है ? लेकिन अब जब यह मेरे हिस्से में आ ही गया है तो मुझे क्या करना उचित है ? और आशु के रहते हुए मैं अकेली कहाँ हूँ ? मैं अपने ढंग से सोचना चाहूँ, अपने लिए कोई नियम तय करूँ तो इसके लिए दूसरे तमाम लोगों की सहमति लेना जरूरी है क्या?

कभी कभी कुछ न सोचना ही फायदेमन्द होता है....और अब मैं अक्सर ही यही करने लगी हूँ। बस आँख मूँद कर चुपचाप पड़ी रहती हूँ या फिर देर तक शून्य को निहारती रहती हूँ। तुम्हारी तरह आत्मलिप्त हो जाना चाहती हूँ। बिखराव को रोकने के लिए अपने को समेटना जरूरी है.....।

और यही बात एक बार समीर ने भी बताई थी.....और तब मैं यह बिल्कुल ही नहीं समझ पाई थी कि एक बिखरा हुआ व्यक्ति किसी और के बिखराव को समेट लेने की सलाह किस प्रकार दे सकता है ?

उस रोज एक टारगेट को पूरा करने के लिए मुझे और समीर को देर तक ऑफिस में रोका गया था..... दस बजे ऑफिस की गाड़ी हमें हमारे घरों पर छोड़ने के लिए निकली थी।

रास्ता करीब पौन घण्टे का था। समीर तो खैर हमेशा की तरह चुप ही रहने वाला था लेकिन मुझे यू दम साधकर बैठे रहना अच्छा नहीं लग रहा था। पाँच मिनट बाद ही मैंने

बात शुरू करनी चाही तो वो बोला कि कहीं बैठकर चाय या कॉफी लेते हुए बात करें तो कैसा रहेगा?

उस दिन हमने पहली बार एक दूसरे से खुलकर बातें कीं...और देर तक की। मकान मालकिन को फोन किया कि अभी ऑफिस में ही हूँ...थोड़ी और देर लगेगी...। ऐसा एक दो बार पहले भी हो चुका था। मैं ऑफिस में देर तक रुकी थी और मेरे मकान मालिक की दोनों सयानी बेटियों ने आशु को पूरे समय तक अच्छी तरह से संभाल लिया था। लेकिन यह पहला मौका था जब मैं झूठ बोली.....कि मैं अभी ऑफिस में ही हूँ....। बाद में देर तक खुद से ही तर्क करती रही कि समीर के साथ कॉफी हाउस में बैठने की बात मैं किस से छुपाना चाह रही थी....आशु से, मकान मालकिन से या अपने आप से ? अगर खुद से छुपाना था तो गई ही क्यों...?

और अगर साथ बैठ कर कॉफी पी ली तो इसमें छुपाने लायक क्या हुआ?ऑफिस में भी तो कई बार हम लोग एक दूसरे के टेबिल पर टिफिन और चाय कॉफी शेयर करते रहते हैं।

लेकिन आठ दिन पहले.... उस रात दस बजे.... कॉफी हाउस की धीमी रोशनी में आमने सामने बैठकर कॉफी पीना.... अपने अतीत की बातें करना, बातों के बीच में देर तक चुप हो जाना, एक रोमांच को अपने चारों ओर पसरते हुए अनुभव करना, और यह अनुभूति भी रह रह कर उठना कि इस रोमांच की तरंगों का स्पर्श मन और तन दोनों को आह्लादित सा कर रहा है, यह सब कुछ जो हो रहा है वह एक सर्वथा नए मनोभाव को जगा रहा है..... भीड़ भरे उस कॉफी हाउस में हमने मानों अपने एक निजी, एकान्तिक कोने का सृजन कर लिया था.....।

.हाँ, उस वक्त हम अपने आप में जितना अकेले अकेले से थे, लगभग उतने ही एक दूसरे से जुड़े हुए भी थे.....हमारा यह जुड़ाव हमारे अकेलेपन से पैदा हुआ था और अकेलेपन की तरलता के विपरीत एकदम ठोस था...इतना कि वह हम पर किसी भारी बोझ सा जमकर आ बैठा था.....।

तो यह सब और इसी तरह की कई कई बातें अब आठ दिन गुजर जाने के बाद भी, मुझे बार बार याद क्यों आती हैं ? और याद आती हैं समीर के अतीत की कुछ झलकियाँ.....जो उस दिन बहुत कहने पर उसने संक्षेप में ही बताई थी मुझे। तभी से....हाँ...उसी दिन से....समीर का अनमनापन मुझे कुछ कुछ समझ में आने लगा है.....।

समीर और सौम्या सहपाठी थे। जाति और आर्थिक स्तर के अन्तर के बावजूद वे धीरे धीरे दोस्ती की तरफ बढ़े...फिर बात कुछ आगे..... और आगे बढ़ी.....शायद अति प्रगतिवादी विचारधारा का जुनून हावी था उन पर.....इसी के चलते उन्होंने किसी भी तरह के रुकावटों को अपने रास्ते का रोड़ा नहीं माना। सपने उगे....वायदे किए गए.....वायदे निभाने के लिए सौगंध ली गई....और बाकायदे मंदिर में देवप्रतिमा के सामने ली गई ! साथ साथ सिविल सर्विसेज की तैयारियाँ भी चलती रहीं...पहली बार दोनों ही असफल रहे....दूसरे वर्ष केवल सौम्या का ही चयन हो पाया....और समीर को अगले तीन वर्षों तक भी सिर्फ भटकाव ही हाथ लगा। इस बीच सौम्या आई ए एस पद का प्रशिक्षण पूरा करके पोस्टिंग भी पा चुकी थी।

दूरी बढ़ी, मिलना कम हुआ और बातों का सिलसिला भी टूट गया। समीर एक स्ट्रगलर और सौम्या सफलता के ऊँचे शिखर पर। तो बातों के लिए कोई साझे का विषय भी नहीं रहा उनके बीच। इसके बाद तो साझे सपनों और वायदों को निभाने वाली कसमों को ही बेमानी होना बाकी था। सौम्या के नए रुतबे और जीवन शैली के आगे यह भी हुआ और अनुमान से पहले ही हुआ। सौम्या ने समीर को भुला दिया लेकिन समीर....जो एक अलग ही मिट्टी का बना है....उसने मौन का अभेद्य कवच पहन लिया....लेकिन इस कवच के नीचे से सौम्या की बेवफाई का जहर उस दिन कॉफी हाउस में बाहर रिसते हुए मैंने देखा था....और तब मुझे अपने अन्दर समीर के प्रति सहानुभूति के नन्हें सोते फूटते से लगे थे.....जैसे कभी तुम्हारे लिए हुआ था।

मेरे जीवन से जो भी लोग जुड़े हैं.....और इनमें तुम सबसे ऊपर हो.....इन सबने मिलकर मेरी मुश्किलें बढ़ा दी हैं.....।

आशु के जन्मदिन पर बाबूजी आए, अम्मा आई और समीर भी आया। जो साइकिल मुझे देनी थी आशु को, वह समीर ही ले आया था....क्योंकि हम बाद में भी कई बार मिले थे...उसी कॉफी हाउस में जहाँ हम पहली बार बैठे थे....और मुझे ठीक से याद नहीं, लेकिन.....अपनी तमाम निजी बातों में मैंने समीर को आशु की सायकिल वाली बात भी शायद बताई थी...तो उसने तीन दिन पहले ही मेरे सामने सायकिल का कैशमेमो लाकर रख दिया था....।

आशु के जन्मदिन के चार दिन बाद बाबू अम्मा वापस गाँव चले गए। इस बीच समीर रोज ऑफिस से आकर आशु को सायकिल चलाना सीखने में मदद करता रहा....।

गाँव जाने से पहले बाबूजी और अम्मा ने समीर से कुछ बातें जरूर की होंगी...हो सकता है कि आशु को भी शामिल किया हो इस बात में....क्योंकि गाँव जाने से पहले उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा कि बेटी, अब समय आ गया है कि तुम अपने बारे में कोई निर्णय ले लो.....। तुम और समीर जब भी चाहो हमें बुला लेना....हम फौरन आ जाएँगे....।

आशु के जन्मदिन को आज दो महीने हो चुके हैं.....अपनी मुश्किलों को अब मैं कम कर लेना चाहती हूँ.....समीर की मदद से.....।

बाबू और अम्मा को हम अगले हफ्ते यहाँ बुला रहे हैं...उनका आशीर्वाद लेने के लिए.....मुझे मालुम है....तुम यहीं कहीं, मेरे आसपास ही हो.....और मेरे इस फैसले से खुश हो....क्योंकि समीर के रूप में एक बार फिर से मैंने तुम्हारा ही वरण किया हैमैं तुम्हें फिर से पाना चाहती हूँ....समीर को सोपान बना कर..। दूसरे वसंत के आगमन पर तुम्हें मेरे पास रहना होगा....। तुम मुझे छोड़ कर कभी गए ही नहीं... तो मैं तुम्हें छोड़कर कहीं और कैसे जा सकती हूँ ?

संपर्क: ए/९, अशोक विहार, इस्माईलगंज, फैजाबाद रोड, लखनऊ-२२६०२८, मो. ९९१९८९९८२७

हिलसा

डॉ. पंकज साहा

सब्जी बाजार के लिए वह निकलने लगा, तो माँ ने डरते-डरते कहा, “कई दिनों से एक बात कहना चाहती थी, तुम्हारे पिता जी हिलसा मछली खाने की जिद कर रहे हैं। अंतिम इच्छा समझकर पूरी कर दे बेटा.....।” कहते-कहते माँ की आँखों में आँसू आ गये और वह पल्लू से आँखें पोंछती हुई अंदर चली गयी।

साइकिल लेकर जब वह सब्जी बाजार को चला, तो उसकी आँखें भी नम थीं। उसके पिता को आँत का कैंसर था। अंतिम स्टेज था। डॉक्टर ने कह दिया था कि एक-दो माह से अधिक नहीं जी पायेंगे।

उसकी माँ भी जानती थी कि हिलसा मछली उनके लिए हानिकारक होगी, पर अब उनके शरीर को बचाये रखने से अधिक सार्थकता उनके मन को खुश रखने में थी।

हिलसा अत्यंत स्वादिष्ट मछली होती है। बंगाल में इसे इलिश माछ कहा जाता है। बंगाल में हिलसा मछली खाना स्वाद के साथ स्टेटस सिंबल भी माना जाता है। खास बात यह है कि इसके बिना बंगाली रसोई को संपूर्ण नहीं माना जाता। पाँच-छह सौ ग्राम से छोटी हिलसा को खोका इलिश कहा जाता है। अमूमन एक किलो से बड़ी मछली का डिमांड अधिक होता है। गंगा, पद्मा या मेघना नदी की हिलसा का डिमांड सर्वाधिक होता है। दरअसल हिलसा मूलतः समुद्री मछली है, लेकिन जब अंडा देने का वक्त आता है, तो वे मीठे जल की ओर भागती हैं। मीठे जल में वे जितना अग्रसर होती हैं, उनमें उतनी ही चर्बी चढ़ती जाती है। यह चर्बी ही हिलसा को स्वादिष्ट बनाती है। इसीलिए उसकी कीमत बहुत अधिक होती है। पोइला बैशाख, जामाय षोष्ठी, दुर्गा पूजा में तो इस मछली की कीमत दो-तीन हजार रुपये प्रति किलोग्राम तक हो जाती है।

सब्जी बाजार में हिलसा एक ही मछलीवाले के पास थी। उसकी कीमत सुनकर उसका खून जम-सा गया। पाँच-छह सौ ग्राम वाली हिलसा की कीमत सात सौ रुपये प्रति किलो थी। एक हिलसा एक किलो तीन सौ ग्राम की थी। उसकी कीमत बारह सौ रुपये प्रति किलो की दर से पंद्रह सौ साठ रुपये होती, पर समूची मछली लेने पर साठ रुपये की छूट थी। मछली वाला आधा काटकर देने को तैयार था, पर इस शर्त पर कि बाकी आधा का भी कोई ग्राहक हो। बड़ी हिलसा और छोटी हिलसा की कीमत में इतना फर्क की वजह उसने यह बताया कि बड़ी वाली पोंदा (पद्मा) नदी की है, जबकि छोटी दीघा के तटीय क्षेत्र की।

उसके पिता अपने सेवा-काल में पश्चिम बंगाल के ही शहरों में रहे। यहाँ रहकर वे मछलियों के बारे में बहुत कुछ जान गये थे। 'पॉन्डा इलिशोर टेस्ट दारुण' (पन्ना नदी की हिलसा का स्वाद अभूतपूर्व) यह जुमला उन्होंने अपने बंगाली सहकर्मियों से सीखा था। उन्हीं के कारण हिलसा का चस्का उन्हें लग गया था। हिलसा के विभिन्न आइटम जैसे- भाँपा इलिश, दोय इलिश, पोस्तो इलिश, सोंरसो इलिश आदि बंगाली सहकर्मियों के घर खाते और उनकी पत्नियों से रेसिपी सीखकर आते एवं माँ से बनवाते। खुद भी जी भरकर खाते और मित्रों को भी खिलाते।

उसके पिता 'खाने' और 'पीने' के अत्यंत शौकीन थे। इसी शौक के कारण उन्हें आँत का कैंसर हो गया था। वे ट्रैफिक पुलिस में सिपाही थे। वेतन कम था, पर ऊपरी कमाई इतनी थी कि घर में कभी किसी चीज का अभाव नहीं रहा। माँस, मछली या अंडा रोज बनता था। माँस दो किलो से कम न आता। एक किलो तो वे अकेले खा जाते। मछलियों में पॉन्डा इलिश एवं गोलदा चिंगरी उन्हें बहुत पसंद थीं। छोटी हिलसा का काँटा अत्यंत महीन होता है और वह उतनी स्वादिष्ट भी नहीं होती। इसीलिए वे उसे 'सतुआ' कहा करते थे। पिता को प्रसन्न करने के लिए वह बड़ी हिलसा ही लेना चाहता था, पर वह उसकी औकात की झोली से काफी बड़ी थी।

उसने मछलियों को गौर से देखा। सभी मरी हुई थीं। बावजूद इसके वे अत्यंत लुभावनी लग रही थीं। मरा हुआ आदमी, भले ही वह अत्यधिक सुंदरता का स्वामी या स्वामिनी हो, अपने प्रेमीजनों में भी जुगुप्सा की भावना भर देता है और यह भावना अंततः निर्वेद के सुप्त पौधे को सींच जाती है। परंतु मछली मर कर भी सुंदर लगती है और अपने प्रेमीजनों की रसना गीली कर देती है। हिलसा यों भी अत्यंत खूबसूरत होती है। उसका सारा बदन मानो चाँदी के शल्कों से ढँका रहता है। अत्यंत चिकना।

आकार रोहू की तरह लंबा, लेकिन थोड़ा चिपटा। दोनों किनारों पर ढलान, एक किनारा कुछ अधिक ढाल

लिये। सिर्फ स्वाद के कारण नहीं, खूबसूरती के कारण भी हिलसा को मछलियों की रानी कहा जाता है।

उन मछलियों को देखकर कुछ लोगों की आँखें चमकतीं, पर वे दूर-दूर ही निकल जाते। कुछ कीमत पूछने का साहस कर लेते और लंबी साँस लेकर या 'बाप रे' कहकर चल देते। यह छोटा बाजार था। बड़ा सब्जी बाजार जो 'बाबू बाजार' कहलाता है, करीब एक किलोमीटर दूर था। वहाँ सब्जियों और मछलियों की अनेक वेराइटी मिल जाती है, पर वहाँ हरेक वस्तुओं की कीमत यहाँ से कुछ अधिक होती है।

“यह हिलसा अगर 'बाबू बाजार' में होती, तो कब की बिक चुकी होती”, मछली वाले ने कहा तो उसे लगा कि वह सच कह रहा है। बाबू लोगों के पास पैसों की कमी नहीं होती है।

उन मछलियों को देखकर उसे शहर में बनने वाले छोटे-बड़े हाउसिंग कॉम्प्लेक्स की याद आ गयी। फुटपाथ पर रहने वालों अथवा मजदूरों, रिक्शा-ठेला चालकों, खोमचा लगाने वालों आदि के लिए ऐसे कॉम्प्लेक्स के फ्लैट सपने जैसे ही होते हैं, अतः वे उन्हें देखकर आहें मरकर रह जाते हैं। साधारण नौकरीपेशा वाले व्यक्ति अथवा छोटे-मोटे दूकानदार कीमत पूछने का साहस कर लेते हैं, पर लेने की औकात उनकी भी नहीं होती। कुछ लोग एक-एक पैसा जोड़कर अथवा लोन लेकर कम कीमत वाले फ्लैट का जुगाड़ कर लेते हैं, पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो ऊँची कीमत के एक नहीं कई एक फ्लैट एक झटके में बुक कर लेते हैं। ये नवधनाढ्य लोग होते हैं, जिनके पास धन न तो परिश्रम के रास्ते से आता है, न उन्हें ईश्वर छप्पर फाड़कर देता है बल्कि उन्हें जिन्नातों से धन मिलता है। जिन्नात इस बात का भी ख्याल रखते हैं कि धन पाने वाले का छप्पर न फटे ताकि किसी को पता न चले कि उसके घर में धन आया है। कुछ जिन्न इतने मेहरबान होते हैं कि अपने कृपापात्रों के देश-विदेश के बैंक खातों में धन जमा कर देते हैं। कभी-कभी उन जिन्नातों और उनके कृपापात्रों के किस्से 'घोटाला'

के झंडे तले उदित होते हैं, पर घोटालेबाजों का झंडा ऊँचा ही रहता है और किस्सा किस्सा बनकर ही अस्ताचल गामी सूर्य की तरह लुप्त हो जाता है।

उसे मछली वाले की ओर झपटकर आता एक आदमी दिखा। क्षण भर को उसकी आँखों में आशा की ज्योति चमकी। शायद वह आधी मछली लेने को तैयार हो जाय। पर, उसके निकट आने पर जब वह उसे पहचान गया, तब उसकी आशा धूमिल हो गयी। वह एक छोटा-मोटा लैंड-ब्रोकर था। उसकी देह पहले की तुलना में थोड़ी भर गयी थी। पिचके हुए गालों में थोड़ी रौनक आ गयी थी। कपड़े भी पहले की तरह मैले-कुचैले नहीं थे। पाँच-छह वर्ष पूर्व उसके मन में जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा खरीदने की लालसा जगी थी। तब उसी ब्रोकर ने उसे कुछ भूखंड दिखाये थे। कुछ पसंद नहीं आये, जो पसंद आये, वे उसकी औकात से बाहर थे। फिर उसके पिताजी बीमार पड़े और उनके इलाज में पैसा पानी की तरह बहने लगा।

उसके पिता ने कहा था, पर कुछ बचाया नहीं था। 'यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत्' के सिद्धांत को अपनाकर खाया, पिया और उड़ाया। माँ भविष्य के लिए कुछ बचाने का मनुहार करती तो वे एक पुरानी उक्ति उछालकर उन्हें निरुत्तर कर देते- 'पूत सपूत तो का धन संचय, पूत कपूत तो का धन संचय।'

वह एकलौता पुत्र था। पिता को उससे बड़ी आशाएँ थीं। उनकी इच्छा थी कि बेटा आई. ए. एस., आई. पी. एस.

अफसर बने। वह एक औसत विद्यार्थी था, फिर भी पिता की आशा पूर्ण करने की उसने पूरी कोशिश की, पर सफलता नहीं मिली। बड़ी मुश्किल से सत्ता पार्टी के एक नेता को पकड़ कर, कुछ पत्रम्-पुष्पम् देकर प्राइमरी स्कूल के शिक्षक की नौकरी जुटा पाया था। प्राइमरी स्कूल के शिक्षक की औकात ही कितनी होती है? पर उस दलाल से तो वह निश्चित बेहतर स्थिति में था। वह दलाल तो एक कप चाय भी अपने पैसों से नहीं पीता था। बीड़ी भी आधा पीता और आधा बाद के लिए बचाकर रख लेता था। ऐसा व्यक्ति हिलसा खरीद पायेगा? वह तो कीमत सुनकर ही फुर्र हो जायेगा।

परंतु वह आसमान से गिर पड़ा, जब उसने देखा कि वह बिना मोल-भाव किये, पंद्रह सौ रुपये देकर हिलसा लेकर चलता बना। पंद्रह सौ रुपये उसने यों दे दिये मानो पंद्रह रुपये दे रहा हो। पाँच-छह वर्ष पूर्व हिलसा की कीमत आज की तुलना में आधी से भी कम थी, पर तब भी हिलसा ठगिनी की तरह नैना मटकाती थी, आज जब उसका वेतन लगभग दोगुना हो गया है, तब भी हिलसा नैना मटकाती और मुँह चिढ़ाती अपने स्वामी संग चली गयी। वह विस्फारित नेत्रों से उसे जाते हुए देखता रहा, फिर लंबी साँस लेकर मछली वाले से पूछा, 'वह कालू दलाल था न?'

मछली वाले ने वाउंसर फेंका, 'मिस्टर कालाचंद बोलिए। आज वे करोड़पति हैं।'

संपर्क:

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज,
खड़गपुर-७२१३०५ (प.बंगाल) मोबाइल सं. ९४३४८९४१९०

लेखकनामा

सिद्धेश

साहित्य का कोई घटक दलाल नहीं होता और न बिचौलिया। साहित्य सत्यान्वेषणा की जगह होता है। याने जो साहित्य में सत्य का अन्वेषण करता है, वह लेखक है। जो कुछ हम सामने देखते हैं वह यथार्थ है, लेकिन यथार्थ जितना है, वह साहित्य नहीं है। उसके भीतर जो अदृश्य है, उसे ढूँढ़ निकालना, उसका अनावरण करना सृजनशीलता है।

यथार्थ नग्न होता है, इसे ढंकने के लिए आवरण की जरूरत पड़ती है। जहाँ तक लेखक सत्यान्वेषी होता है तो यह भी सच है कि यथार्थ की तह तक गये बिना रचना की गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता। यथार्थ के पीछे एक और यथार्थ होता है, जो अदृश्य है, इस सत्य की पड़ताल किये जाने पर ही एक अच्छा लेखक बन सकता है।

एक और 'काल्पनिक' यथार्थ होता है। याने ईश्वर की पहचान इसी यथार्थ से हो सकती है!

लेखक के लिए दो तरह की अनुभूति की जरूरत पड़ती है, 'स्वानुभूति' एवं 'सहानुभूति' कौन-सा लेखक के लिए अभिप्रेत है? दोनों में खास दूरी नहीं है। इसे इस तरह समझा जा सकता है, याने लेखक की 'स्वानुभूति' नायक (पात्र) के प्रति होती है, वह खुद महसूस करता है उसकी पीड़ा या दुर्दशा को जब नायक को विद्रोह न कर पाने की दशा में लेखक पाता है, तो उसके प्रति 'सहानुभूति' होती है।

इसके बड़े उदाहरण आपको प्रेमचंद की कहानियों में मिल सकते हैं।

कामरेड सन्तू का वोट

आगामी वोट का दमामा बज चुका था। सन्तू अपनी दुकान के सामने खड़ा सदा दीवार पर रंगीन अक्षरों में प्रार्थी का नाम अंकित करते हुए सत्ता के युवा कर्मियों को देख रहा था। वह जिस पार्टी से जुड़ा था, उसके विपरीत पार्टी के प्रार्थी का नाम देखकर मन में चिढ़ पैदा हो रही थी। शैलेन देव तो उसी की पार्टी में था?

सन्तू की पार्टी पिछले इलेक्शन में धाराशायी हो चुकी थी। विगत पांच सालों में वह अपने इलाके में अकेला पड़ गया था। लोग उसे कॉमरेड सन्तू के नाम से जानते हैं। पूरा नाम सनातन पाण्डे है।

उसकी एकमात्र दुकान 'साड़ी इम्पोरियम' अपने मकान के नीचे बनी थी। उसके सामने

एक छोटा पार्क, जिसकी वह गाहे-बगाहे देखरेख करता था। दो तल्ले के मकान में ऊपर के फ्लैट को किराये पर उठा रहा था। पीछे वाले फ्लैट में वह खुद पत्नी के साथ रहता था। सुबह दस बजते ही भीतर की सीढ़ियों से नीचे उतरकर दुकान की शटर खोलता, खुद ही झाड़ लेकर सामने रास्ते को बुहारता। रात में सोये पड़े कुत्तों को ताली पीटकर भगाता। 'धत्त-धत्त' करने के बाद भी जब कुत्ते टस से मस नहीं होते तो वह रास्ते के किनारे पड़े ढेले उठा लेता और उसके पीछे उसको खदेड़ते हुए दूर तक ले जाता। जब उसे भरोसा हो जाता कि वे लौटकर नहीं आयेगे वह लौट आता। तब तक पत्नी नीचे उतरकर दुकान को करीने से सजाती, नीचे पड़ी धूलों को झाड़ती, बुहारती। यह उनकी दिनचर्या थी। और तब सन्तू निश्चिंत होकर दुकान के सामने पॉकेट में हाथ डाले पूरी तैनाती में रखवाले की तरह खड़ा रहता। बैठने की जरूरत नहीं समझता। एक टूल रखा हुआ था, जिस पर वह कभी-कभी बैठता, मगर उसकी नजर ग्राहकों के खरीद-फरोख्त में लगी रहती।

सन्तू अपने मकान की दीवार पर पिछले इलेक्शन में लिखे प्रार्थी के नाम को जब पढ़ता, जो कि अब धुंधला पड़ गया था, उसे पढ़कर अफसोस के साथ चिढ़ भी पैदा होती थी। उसकी पार्टी का यह प्रार्थी हार गया था, मगर वह मन ही मन हार को स्वीकार नहीं कर पाया था। इसलिए अपनी उसी पार्टी के आदर्श और लड़ाई में अपने को शामिल मानता था। यही कारण है कि दीवार पर धुंधला पड़ गये नाम को ज्यों का त्यों छोड़ रखा था। उसने जानबूझकर चूना नहीं पुतवाया था। वह इश्तहार इतना धुंधला और गंदा हो गया था कि उसके मकान के नीचे की दीवार की रौनक ही चली गयी थी।

काफी दिन हो गये थे, अतः धीरे-धीरे अपनी पार्टी का स्लोगन और मेनीफेस्टो जेहन में धुंधली पड़ने लगी थी। मगर उसे भरोसा था कि इस बार न सही अगली बार पार्टी जरूर जीतेगी। वह सपने में अपनी हार का ढिंढोरा पीटते विरोधी पार्टी के लोगों को देखता तो वह कांप उठता। और उसकी नींद गायब हो जाती। वह लाल कपड़ा या रंग देखता

तो बेवजह दहशत में पड़ जाता। अगर उसके वश का होता तो अपने मकान का रंग लाल चूने से रंगवा देता। अब यह हास्यास्पद होगा।

लोगों का कहना था कि इसमें भी सन्तू बाबू की कोई चाल है। वह अब कॉमरेड नहीं रहे। मगर इन सब बातों पर ध्यान न देकर दुकान के सामने खड़ा वह मुस्करा रहा था, जब उसकी नजर सामने वाले मकान की दीवार पर पड़ी। दीवार पर लिखा इश्तहार था, - 'इस बार शैलेन देव को हरे रंग की पार्टी के चिह्न पर वोट देकर विजयी बनायें।' शैलेन ने पिछली पार्टी बदल ली? सन्तू अवाक् होकर सोचता रहा, यही शैलेन ने पिछली बार लाल चिह्न पर लड़ा था। इस बार उसने पार्टी बदल ली है? सुविधावादी निकला। जिधर का पलड़ा भारी, उधर तो जायेगा ही! हरामी!

सन्तू को रात में नींद नहीं आती। कभी-कभी चिह्नक कर उठ बैठता। उसे लगता, उसने भारी गलती कर ली है। अब राजनीति में आदर्श और प्रतिबद्धता जैसी बात नहीं रह गयी है। मानो वह पार्टी से निष्कासित कर दिया गया है! लोग उसकी दुकान की तरफ भी नहीं आ रहे। लगता है, फिर उसे फुटपाथ पर अब बैठना पड़ेगा या किसी दूसरी दुकान में पहरेंदारी या 'सेल्समैन' की नौकरी करनी पड़ेगी।

वोट के पहले बहने वाली हवा का मुआयना करना पड़ रहा था। तो क्या वह भी 'शैलेन' की तरह पार्टी बदल ले?

बहुत दिनों बाद इस तरफ से सन्तू का पुराना साथी बीशू गुजर रहा था, तो उसने उसे रोक लिया। बोला, 'क्या बात है बीशू, इधर आना ही छोड़ दिया। कैसे हो?'

'मत पूछो, वोट में बेकारी खट रहा हूँ।'

'बेकारी क्यों?'

'जो मिलता है, उससे चलता थोड़े ही है।'

'अरे भाई, तुम तो झंडे के नीचे सरदारी करते थे न। उस यूनियन का क्या हुआ?'

'वह टूट गया। अब सोच रहा हूँ। वोट पर्व खत्म हो तो कुछ करूँगा।'

'क्या करोगे?'

‘दुकान दूँगा। फुलौड़ी-जलेबी या और कुछ।’
 ‘तो क्या तुम भी पार्टी छोड़ रहे हो?’
 ‘नहीं। पर क्या करूँ। रोटी-दाल तो चाहिए न।’
 सन्तू ने देखा, बीशू की आँखें छलछला आयी हैं।
 उसने दीवार पर लिखे इशतहार की ओर उंगली उठाकर कहा, ‘देख लो, क्या लिखा है। तुम भी-’ ‘नहीं। राजनीति में पैसे कमाना और झूठ बोलने के अलावा रह क्या गया है। वह (शैलेन) दोगला है।’ बीशू ने गले में फंसे बलगम थूककर कहा, ‘अब चलता हूँ।’
 सन्तू दुकान के ओटे से नीचे उतरकर अपने मकान की दीवार पर पिछली बार लिखे इशतहार की तरफ देखता रहा। वह काफी धुंधला और गंदला हो गया था।
 उसने सोचा, इस बार वोट के बाद दीवार पर सादा रंग पुतवा देगा।
 देखते-देखते वोट देने का दिन आ गया। भोर-रात से पूरे मोहल्ले में गहमागहमी शुरू हो गयी थी।
 कॉमरेड सन्तू याने सनातन पाण्डे बूथ की तरफ बढ़ने ही वाला था कि सामने से आती हुई गाड़ी में शैलेन नजर आ गया। सन्तू आज सज-धज कर निकला था। लाल रंग की शेरवानी और ऊपर सफेद रंग का शॉल।

‘भई वाह! खूब सज रहे हो।’ गाड़ी से उतरकर शैलेन ने कहा। सन्तू ने पूछा, ‘गाड़ी कब खरीदी?’
 ‘गाड़ी खरीदी नहीं है। जिस पार्टी की तरफ से खड़ा हुआ हूँ, उसी ने बूथ तक आने के लिए मुहैया करायी है।’ शैलेन को देखकर कुछ लोगों ने फब्तियाँ कसीं।
 ‘वह देखो, दगाबाज! सत्ता में आने के लिए किस तरह करवट बदल ली।’
 शैलेन ने न सुनने का भान किया और बूथ की लाइन में खड़ा होकर अपनी पारी का इंतजार करने लगा।
 चारों तरफ दहशत थी। पता नहीं, कब क्या हो जाये। वोट देने के बाद सनातन पाण्डे और शैलेन देव दोनों आगे बढ़े। सन्तू ने पूछा, ‘‘कैसे जाओगे?’’
 ‘चलो रिक्शा करते हैं।’ शैलेन बोला। उसने सनातन की बांहों में बाहें डालकर कहा, ‘तुम्हें एक राज की बात बताता हूँ। किसी से कहना नहीं।’
 ‘हाँ बोलो।’ सन्तू बोला।
 ‘मैं अब भी तुम्हारे साथ हूँ। भाड़े का टटू क्यों बनूँ। मैं तुम्हारी पार्टी को ही वोट दे आया हूँ।’
 सनातन याने कॉमरेड सन्तू सोच रहा था, राजनीति में किसी का कोई भरोसा नहीं है।

संपर्क:

१/१७, आदर्श पल्ली, पो. रिजेन्ट एस्टेट,
 कोलकाता- ७०००९२, मो. ९८३०८५९६६०

सिद्धेश की रचना यात्रा और उनका नया कहानी संग्रह 'वेणुगोपाल का झूठा सच'

गीता दूबे

अकथा दौर के सशक्त हस्ताक्षर सिद्धेश की सृजन यात्रा तकरीबन पांच दशक पहले आरंभ हुई थी और खुशी की बात यह है कि यह यात्रा आज भी निरंतर जारी है। १७ अगस्त १९३८ में बिहार में जन्म ग्रहण करने वाले सिद्धेश ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिंदी भाषा-साहित्य में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की। तकरीबन एक साल आपने आनंदबाजार समूह से प्रकाशित होने वाली हिंदी पत्रिका 'मेला' में उप-संपादक के तौर पर काम किया जिसके संपादक थे, योगेन्द्र कुमार लल्ला। एक साल बाद पत्रिका बंद हो गई और इनका काम भी। तब बांग्ला भाषा में इनकी दक्षता के कारण उसी समूह की बांग्ला पत्रिका 'आनंदमेला' के संपादक और बांग्ला के जनप्रिय कवि नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने उन्हें अपनी टीम में शामिल कर लिया। वहाँ तकरीबन १९ साल तक काम करने के बाद १९९८ में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। उसके बाद कुछ समय तक वागर्थ पत्रिका में प्रभाकर श्रोत्रिय और हिमांशु जोशी के दौर में संपादकीय सहयोग भी किया। आजीविका के लिए किए जाने वाले इन कामों के साथ ही लेखन के प्रति भी पूरी तरह से समर्पित सिद्धेश की प्रतिबद्धता का प्रमाण उनकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या को देखकर ही मिलता है। सृजनात्मक लेखन के साथ ही इन्होंने बांग्ला की बहुत सी रचनाओं को हिंदी में अनूदित करके दोनों भाषाओं के बीच सांस्कृतिक सेतु का कार्य भी किया। उनके एक कथा संग्रह का बांग्ला भाषा में अनुवाद भी हो चुका है। इसके अलावा इन्होंने भारतीय भाषाओं और हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों का बांग्ला में संपादन भी किया है।

१९१६ में प्रकाशित एक अनाम कथा संग्रह से अपनी रचना यात्रा का आरंभ करने वाले सिद्धेश ने तकरीबन बारह कहानी संग्रहों, एक कविता संग्रह, दो लघु उपन्यासों की रचना की है। इनका एक कथा संग्रह बांग्ला भाषा में अनूदित और प्रकाशित हो चुका है। सबसे बड़ी प्रसन्नता की बात यह है कि उम्र के जिस पड़ाव में अक्सर कथाकारों के कलम की स्याही सूखने लगती है और शारीरिक-मानसिक स्थिति भी उन्हें लेखन से विरत होने को बाध्य कर देती है, उस दौर में भी उन्होंने कलम को मजबूती से थाम रखा है और देशभर की सम सामयिक पत्र पत्रिकाओं में उनकी कहानियां लगातार छप रही हैं। लेखन के प्रति उनके समर्पण को उन्हीं के समकालीन कथाकार स्व. अनय ने इस तरह से व्याख्यायित किया है, 'सिद्धेश में रचना कर्म के प्रति अगाध दुर्जय इच्छा शक्ति है।.... उनकी कहानियां प्रश्नाकुल संसार में ले जाती हैं। बहुत ही शांत परिवेश से शुरू होने वाली कहानी अंत तक पाठक को अपने अनुभव का सहभागी बनाकर बेचैन कर देती है।' वस्तुतः रचनाकार सिद्धेश का एकमात्र लक्ष्य पाठकीय समाज है और उसके बदलते सरोकारों और चिंताओं के साथ ही लेखक के रचनाकर्म में भी बदलाव की बयार महसूस की जा सकती है। यह

बदलाव ही सिद्धेश जी के रचना कर्म की पूंजी है और इसीलिए उनके विपुल रचना जगत में दोहराव तकरीबन नहीं मिलता है। किसी भी खास विचारधारा की जड़ता से मुक्त होकर वे हर रंग तेवर और विषय वस्तु की कहानियां सहजता के साथ कहते हैं। मूल रूप से महानगरीय बोध की कहानियां लिखने वाले सिद्धेश के यहां ग्राम्य जीवन की कुछ कहानियां भी मिलती हैं और 'पारो' (लघु उपन्यास) जैसी प्रेम कथा भी। टूटते परिवार और व्यक्ति केंद्रित जीवन के चित्र तो यहां हैं ही, बदलते मूल्यों और निरंतर छीजती संवेदनाओं की कथा भी है जो आज के तथाकथित सभ्य समाज के सामने एक बड़ा संकट है। बांग्ला और हिंदी के बीच मजबूत कड़ी की तरह काम करने वाले सिद्धेश की भाषा हो या शिल्प दोनों अत्यंत सहजता से पाठकों को बांध लेते हैं। संवेदना के महीन रेशों से बुनी इनकी कहानियां हौले-हौले पाठकों के दिलों की गहराई में उतर जाती हैं। विमल वर्मा ने इनके बारे में एकदम सही लिखा है, 'ऐसे कथाकार के बारे में एक पुस्तक लिखना भी अपर्याप्त है।' अभी हाल ही में सिलीगुड़ी से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'आपका तिस्ता हिमालय' ने सिद्धेश जी के साहित्यिक योगदान को रेखांकित करते हुए, 'आपका तिस्ता हिमालय साहित्य सृजन सम्मान-२०१९' से इन्हें नवाजते हुए पत्रिका का एक अंक विशेष (जून-जुलाई-२०१९) इन पर केंद्रित किया है।

कथाकार सिद्धेश की रचनाशीलता का एक और सार्थक प्रमाण हमारे सामने आता है, २०१८ में प्रकाशित उनके नए कहानी संग्रह 'वेणुगोपाल का झूठा सच' के माध्यम से। इस संग्रह में कुल १३ कहानियां हैं जिनमें से कुछ तो उनके पुराने संग्रहों से ली गई हैं और कुछ एकदम नई नक़ोर और ताजी हैं। दो-एक कहानियां ऐसी भी हैं जो लिखीं तो बहुत पहले गई थीं लेकिन इसी पुस्तक में संभवतः पहली बार शामिल की गई हैं, ऐसी कहानियों में से एक है 'झील के पत्थर' जिसके बारे में सिद्धेश जी ने 'वेणुगोपाल का...' की भूमिका में लिखा है, 'श्रीपत राय ने एकबार मेरी एक लंबी कहानी 'झील के पत्थर' पर अपने सशक्त विचार देते हुए लिखा था कि इसे उन्होंने कई बार पढ़ा है और हर बार अच्छी लगी है।'

आलोच्य संग्रह में शामिल इन नई-पुरानी कहानियों से गुजरना दरअसल एक रचनाकार की रचना यात्रा के विभिन्न मोड़ों और पड़ावों से गुजरने जैसा है, जिससे सिद्धेश के रचना-संसार को समझने में मदद मिलती है। किसी भी रचनाकार की सबसे बड़ी पूंजी होती है, उसके अपने जीवनानुभव, जिसे आधार बनाकर भाषा और शिल्प के रचाव से कथा के सूत्र में गूँथकर पाठकों के सामने परोस देता है, उसे पढ़ने-समझने स्वीकारने या नकारने के लिए। रचनाकार सिद्धेश ने पूरी ईमानदारी से ठीक यही कोशिश अपने ताजा संग्रह में भी की है। वार्धक्य के अभावों, अशक्तताओं और अवसाद की छाप कुछ एक कहानियों में एकदम साफ-साफ देखी जा सकती है। जिसमें से एक है "सुबह की चाय" जो लिखी तो बहुत पहले गई थी जैसा कि भूमिका से ही पता चलता है लेकिन पढ़ते हुए लगता है कि जैसे वह रचनाकार के बिल्कुल ताजा अनुभवों की कथा है। लेखक ही नहीं उन तमाम बुजुर्गों की रिक्तता और अकेलेपन के संकट को इस कहानी में बेहद जीवंतता से उकेरा गया है जिन्हें उनकी अपनी संतानें हों या यह समाज अपने अकेलेपन से लड़ने, जूझने, उससे उबरने या फिर अवसाद का शिकार होकर तिल तिल कर टूटने और रीतने के लिए बिल्कुल अकेला छोड़ देता है। प्रभा और समीर की तरह न जाने कितने जोड़े एक दूसरे के एकांत को सहलाते या बहलाते हुए इस चिंता और नोकझोंक में जिंदगी के दिन गुजारते चले जाते हैं कि उस अनंत यात्रा पर पहले कौन जाएगा और उसके बाद दूसरे सहयात्री का क्या होगा। प्रभा सुबह की चाय पर मिले पति के टुकड़े भर साहचर्य को संबल मानते हुए इस संतोष के साथ जिंदगी बिता देती है कि पता नहीं कब उसकी जिंदगी से यह टुकड़ा भी छिन जाए। 'समय' कहानी भी उन अवकाश प्राप्त बुजुर्गों की कहानी है जिनके पास एक समय किसी के लिए समय नहीं होता रहा होगा लेकिन आज यह इतनी इफरात में है कि काटे नहीं कटता। और इस खाली समय को भरने के लिए तरह तरह के प्रवचनों के अड्डों का सहारा लेते नजर आते हैं लेकिन वह भी तभी तक जब तक शरीर में ताकत रहती है। शरीर के अस्वस्थ और अशक्त

होने पर यह अवलंब भी हाथ से जाता रहता है, फिर तो खाली दीवारें और छत की सूनी कड़ियाँ ही अवलंब बन जाती हैं। कहानी में व्याप्त अवसाद का रंग तब और भी गहरा हो जाता है जब उस प्रवचनकर्ता की बीमारी की वजह से वह अट्टा उजड़ जाता है जहाँ सभी बुजुर्ग इकट्ठा हुआ करते थे। बुजुर्गों का अकेलापन आज के शहरी जीवन की बड़ी समस्या है। जिनके पास पर्याप्त धन है वह भी इस भय से कांपते रहते हैं कि जाने कब अपने ही देखभाल करनेवालों के हाथों ठग लिए जाएंगे या फिर मार दिए जाएंगे। आए दिन अखबारों में इस तरह की घटनाएँ पढ़ने में आती हैं जो आधुनिक पर संवेदनहीन समाज की सच्चाई को बयां करती हैं। आज के दौर के इस बड़े संकट को कलमबद्ध करते हुए सिद्धेश की बेचैनी मानो भागते हुए समय के साथ शरीर की क्षीजती हुई ऊर्जा को भी कसकर पकड़ लेना चाहती है लेकिन समय भला किसके रोके रुका है। इसलिए समय जनित इन तकलीफों से निबटने का कोई न कोई उपाय तो हम आधुनिक मनुष्यों को सोचना ही होगा।

आज का दौर तकनीकी विकास का दौर है, मानव समाज निरंतर विकास की सीढ़ियाँ तय करता जा रहा है और इस विकास ने हमारे सोचने- समझने के तरीके एवं जीवन मूल्यों को भी प्रभावित किया है। हालांकि हर दौर में बदलते हुए मूल्यबोध हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं और बहुधा दो पीढ़ियों के बीच द्वंद्व या अंतर्द्वंद्व का कारण भी बनते हैं।

संग्रह की कई कहानियों में इस अंतर्द्वंद्व की गहराई अथवा दो पीढ़ियों के बीच की वैचारिक खाई को महसूस किया जा सकता है। ऐसी ही कहानी है 'जन्मभूमि' जहाँ अवकाशप्राप्त विकास बाबू अपनी बची- खुची जिंदगी गुजारने के लिए अपने गांव लौटते हैं। उन्हें यह सोचकर सुकून मिलता है, 'अपनी जन्मभूमि में लौट सका हूँ, यही सबसे बड़ी प्रसन्नता का विषय है। जीवन सार्थक हुआ" (पृष्ठ ४८) लेकिन एकमात्र पुत्र का बस एक निर्णय उन्हें अपनी जन्मभूमि से पलायन करने को बाध्य करता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या पलायन ही एकमात्र हल है या फिर कोई और रास्ता सहजता से निकाला जा सकता था। विकास बाबू के पलायन के पीछे

क्या उनके आधुनिक पुत्र का निर्णय है या फिर रूढ़िवादी समाज की परंपराएं। विकास बाबू जैसे लोगों की पीढ़ी पुराने और नए के झगड़े में पिसकर अपना जीवन खुद दुखद और संकटपूर्ण बना लेती हैं। विकास बाबू की पीढ़ी को कथाकार ने बड़े दर्द के साथ उभारा है जहाँ वह अपनी छूटती हुई जन्मभूमि को देखकर व्याकुल हो उठते हैं, "उन्होंने ललककर धुंधले प्रकाश में अदृश्य होते गांव को देखा।.... उनकी आंखें अनायास ही भर आईं। मन-ही-मन उन्होंने छूटती जन्मभूमि को प्रणाम किया।" (पृष्ठ ५७) लेकिन क्या वह धनाभाव में भी गांव वालों के सवालियों का सामना नहीं कर सकते थे। शायद यह संकट विकास बाबू का नहीं हमारे उस जड़ मानस का है जो हमें हमारी रूढ़ियों से मुक्त ही नहीं होने देता लेकिन इस कहानी को पढ़ते हुए जो अवसाद मन में जन्म लेता है वह संग्रह की दूसरी कहानी 'लाचारगी' को पढ़कर दूर हो जाता है। नूर अली अपनी गरीबी से तो समझौता कर लेता है लेकिन अपने स्वाभिमान से समझौता करने को कतई राजी नहीं है। तिवारी जी की सहायता के प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते वह मजबूती से कहता है, 'हम किसी का एहसान नहीं लेना चाहते हैं बाबू।.... हमारी अपनी औकात में ही रहने की आदत पड़ गई।.... बदन से लाचार जरूर हो गया हूँ, नसीब है, खुदा आपको सलामत रखे।' (१०४) यह स्वाभिमान नूर अली जैसे लोगों की पूंजी है जिसके बलबूते वह रोते-गाते अपनी जिंदगी गुजार देते हैं। यह कहानी उन तमाम मेहनतकश लोगों की कहानी है जो अभाव में भी स्वाभिमान के साथ जीने की कला जानते हैं। 'दूसरा ताजमहल' और 'भारत पुअर सोसाइटी' जैसी कहानियाँ समाज की विषमता का आईना है जहाँ भूख, गरीबी और भ्रष्टाचार का हाहाकार है। हाशिए के नीचे और उसके आसपास जिंदगी गुजारते हुए लोग हैं और यह विषमता तब और भी खटकती है जब जिंदगी की इन बेबस तस्वीरों के इर्द गिर्द समृद्धि के बड़े-बड़े टापू नजर आते हैं जिसमें से एक ताजमहल है जिसे देखने के लिए गया हुआ नैरेटर उसे देखे बिना लौट आता है क्योंकि ताजमहल के बेमिसाल सौंदर्य के आसपास बिखरा क्षत- विक्षत जीवन और जीवन को संवारने

की कोशिश में लगे हुए लोगों की जिंदगी की बदसूरती उस पर इतना असर डालती है कि ताजमहल देखने की उसकी इच्छा ही मर जाती है।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'वेणुगोपाल का झूठा सच' उन छोटे-छोटे झूठों की कहानी है जो इतनी सफाई और सच्चाई के साथ बोले जाते हैं कि बोलते-बोलते सच से लगने लगते हैं। बहुत से लोगों के लिए जिंदगी गुजारने के लिए ऐसे छोटे-छोटे झूठों का सच लगना भी जरूरी होता है। सच की कब्र पर झूठ से तामीर इमारत का सम्मोहन तब दरकता नजर आता है जब एक दिन अचानक झूठ पकड़ में आ जाता है और नैरेटर पाठकों और वेणुगोपाल दोनों को हतप्रभ छोड़कर कहानी के धागे तोड़ देता है। सवाल यह है कि पाठकों का जुड़ाव किसके साथ होगा, नैरेटर के साथ जिसे या उस जैसे तमाम लोग जिनसे वेणुगोपाल झूठ बोलता है या झूठे वेणुगोपाल के साथ। यह कहानी हमें बेचैन करती हुई सोचने को विवश कर देती है। 'हड़ताल के दिन' पर अकथा की छाप साफ नजर आती है जहां कहानी की रेखाएं गायब मिलती हैं और कई सारे दृश्यों को टुकड़ों में जोड़कर लेखक कथा कोलाज का रूप देते हैं। उन तमाम दृश्यों के पीछे एक दिन है और वह दिन है हड़ताल का जिसे विभिन्न तबके के लोग अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक बताते हैं और जो अलग-अलग वर्ग के लोगों पर अलग-अलग असर डालता है। 'जंगल की आग' कहानी पत्रकार की

मनःस्थिति का वर्णन करके रह जाती है जो जंगल में मंगल करने के उद्देश्य से वहां जाता है लेकिन वहाँ फैलती हुई असंतोष की आग से डरकर, घबराकर अपने विलासितापूर्ण सपनों को पोटली में बांधकर वापस लौट आता है। हालांकि पत्रकार महोदय अगर चाहते तो उस असंतोष को अपनी कलम से जनता तक पहुंचा कर अपने कर्तव्यों का पालन कर सकते थे लेकिन कहानी बस पत्रकार की मानसिकता को सामने रखकर पाठकों को पिन सा चुभाती है, उस चुभन को चीख में बदलने का जोखिम नहीं उठाती है।

आलोच्य संग्रह में संकलित अधिकांश कहानियां छोटी हैं जिनके माध्यम से कथाकार जीवन की छोटी बड़ी तल्लख सच्चाइयों, समस्याओं को सामने लाने की कोशिश करते हैं। लेखक की भाषा भले ही बहुत लच्छेदार नहीं है लेकिन इतनी सक्षम तो है ही कि उनकी कल्पना को कथा रूप में परिणत कर पाठकों के सामने सहजता से पहुंचा सके। लेकिन जहां कहीं वह उद्धरणों में बात करते हैं जैसे 'छोटे छोटे ताजमहल' वहां उद्धरण पूरी तरह सही नहीं हैं। सिद्धेश जैसे मंजे हुए रचनाकार को ऐसी गलतियों से बचना चाहिए।

लेखक: सिद्धेश

समीक्षक: गीता दूबे

वेणुगोपाल का झूठा सच (कहानी संग्रह)

नेशनल पब्लिकेशंस, जयपुर, प्रथम संस्करण २०१८, मूल्य २७५

संपर्क:

एसोसिएट प्रोफेसर, स्कोटिश चर्च कॉलेज

कोलकाता, मो. ९८८३२२४३५९

बांग्ला कहानी

मरने का अभिनय

मूल: सैयद मुज़तबा अली

अनुवादक : सुरेश शॉ

ईरान के एक सौदागर ने एक भारतीय तोता पाल रखा था। तोता वृहस्पति के समान बुद्धिमान और कालिदास की तरह ज्ञानी था। अवसर मिला नहीं कि सौदागर कभी उससे रसालाप करने बैठ जाता, तो कभी तत्वालोचन।

एक दिन सौदागर को यह खबर लगी कि भारत में आजकल कालीन का व्यापार जोरों पर चल रहा है। यह जानकर मन में लाभ की कामना जाग उठी। इसलिए उसने भारत की ओर कूच करने का मन बना लिया। यात्रा की तैयारी जब पूरी हो गई तब वह अपने परिवार के हरेक कुटुंब से पूछने लगा कि वापसी में हिन्दुस्तान से उनके लिए क्या लाना है? उन्हें क्या-क्या चाहिए? इस क्रम में तोता भला वंचित कैसे रह जाता? अतः उसने उससे भी पूछ लिया कि उसे सौगात में क्या चाहिए? उसे क्या पसंद है? आदि-आदि।

“हुजूर, हमारी यारी सालों पुरानी है, फिर भी पिंजरे से बाहर निकलने की चाहत भला किसे न होगी?” तोते ने पुनः फरमाया, - “हिन्दुस्तान में हमारा जातभाई वाला यदि कोई मिल जाए तो उससे मेरी वर्तमान स्थिति और मनोदशा का वर्णन करके उससे मेरे पिंजरे से बाहर निकले का रास्ता पूछ लीजिएगा और उचित लगे तो यहाँ आकर मेरी मुक्ति की व्यवस्था कर दीजिएगा। अगर आप ऐसा कुछ कर पाते हैं तो वही मेरे लिए जीवनभर की अमूल्य निधि होगी-बहुत बड़ी सौगात होगी।”

हिन्दुस्तान आकर सौदागर के माल की बिक्री खूब हुई। अच्छी आमदनी से वह तन-मन से प्रसन्न हो उठा। जब वह अपने वतन लौटने को हुआ, तो परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनकी मनचाही वस्तु की खरीदारी भी उसने यथासमय कर ली। परंतु तोते की चाहत उसे याद ही न रही। वह बिल्कुल ही भूल गया उस परिंदे की सौगात वाली बातों को।

ईरान लौटने के क्रम में एक दिन जब वह जंगल के रास्ते से गुजर रहा था कि अचानक उसकी नजर तोतों से भरी एक खंचिया पर पड़ी। तोते खंचिये में ऊधम मचा रहे थे। उनके शोरगुल और टें-टें की आवाज सुनकर उसे अपने यार (तोते) की बात याद हो आई। वह तत्क्षण उनसे कहने लगा, “तुम्हारा एक बिरादर ईरान देश के एक पिंजरे में कैद है। वहाँ वह जैसे-तैसे अपनी जिन्दगी गुजार रहा है।”

‘खंचिये के अन्दर फुदकने वाली चिड़ियों का ध्यान सौदागर की बातों की ओर नहीं गया। फिर भी इस दुखद संवाद को एक तोते ने सुन लिया और सुनकर उसकी छाती में एक हूक सी उठी और वह वहीं ढेर हो गया। एक निरीह पक्षी की अकाल मृत्यु पर सौदागर को बड़ा अफसोस हुआ। वह अपनी नासमझी पर पछताने लगा। खुद से कहने लगा कि यदि वह दुःसंवाद (तोते को) नहीं सुनाया होता तो उसकी मौत टल जाती। किसी तरह उसने अपने आपको संभाला और मन ही मन प्रण किया कि वह अपनी इस मूर्खता को कभी नहीं दोहराएगा।’

सौदागर के घर लौटने पर और मनपसंद सौगात पाकर उसके परिवार के सभी सदस्य बहुत खुश हुए। उधर अपनी-अपनी मनचाही वस्तु को पाकर बच्चों ने तो अवश्य ही ‘जय हिन्द’ कहा होगा। हाँ, सिर्फ तोते के हाथ कुछ भी नहीं लगा। सौदागर भी तोते वाली कोठरी में कभी नहीं जाता, इस डर से कि कहीं तोता उपहार-सौगात की बाबत कुछ पूछ न बैठे! ‘जो भी हो, जैसे भी हो, हिन्दुस्तान में घटी उस तोते की मौत वाली घटना को वह दबाकर ही रखेगा’, यह बात सौदागर ने मन ही मन सोच रखा था।

किन्तु सोच लेने भर से क्या होता है? वह अल्हड़ सौदागर एक दिन अनचाहे तोते वाले कमरे में सहसा प्रवेश कर गया। इस हाल में अब कहाँ बचने वाला था वह?

‘अस-सलामा-लेकुम! आइए-आइए! हुजूर का आगम शुभ हो! आदि-आदि रसीले शब्दों से तोते ने सौदागर का स्वागत किया।

और सौदागर हाँ जी - हाँ जी, करता रहा, कारण सियार आज ताड़ के नीचे खुद-ब-खुद आ पहुँचा था। ऐसे में उसकी हालत फटे बाँस की सी हो गई थी। जो न पूरी तरह चरचरा सकता था, न पूरी तरह से बन्द ही हो सकता था।

आफत में फँसे सौदागर ने हिन्दुस्तान की उस घटना को जैसे ही अपने यार तोते को कह सुनाया कि उसका कलेजा मुँह को आ गया और वह वहीं धप से गिर पड़ा।

अपने इस जिगरी दोस्त की मौत का नजारा देखकर सौदागर बुक्का फाड़-फाड़कर रोने लगा और खुद से कहने लगा, ‘मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ, एकदम बेअक्ल आदमी हूँ।’ वह पागलों सा अपने ही सिर के बालों को नोचने लगा। पर अब अफसोस करने से क्या होने वाला था!

जब घोड़े की चोरी हो चुकी हो तो अस्तबल में ताला लगाने की क्या जरूरत? आँसू पोंछते हुए सौदागर ने पिंजरे के द्वार को खोलकर तोते की लाश को बाहर निकाला और आँगन के एक कोने में फेंक दिया।

तभी अचानक एक चमत्कार सा हुआ और तोता फुर्र से उड़कर मकान के छज्जे पर जा बैठा। सौदागर विस्मित भाव से उस तोते को निहारता रह गया। बड़ी देर बाद जब सुध आई तो उसे सुनाई पड़ा, तोता कह रहा था, “मेरी दुरावस्था की बात सुनकर हिन्दुस्तान का जो तोता मर गया, वास्तव में वह मरा ही नहीं था, उसने तो मरने का अभिनय किया था। असल में अपने उस अभिनय के मार्फत उसने मुझ तक यह संदेश पहुँचाया है कि यदि मैं भी मरने का झूठा अभिनय कर डालूँ तो पिंजरे से निकले में मैं सफल हो जाऊँगा, इसलिए मैंने भी वही किया।

संपर्क: ८, पॉटरी रोड, कोलकाता-७०००१५, मो. ९१६३७०७५१०

शहर शहर तेवर

मधु कांकरिया

“दिवक्त मेरे साथ यह है कि मैं वहाँ कभी होती ही नहीं जहाँ होती हूँ। अब देखिये न मुंबई में हूँ, देख रही हूँ कि कैसे पेड़ की डाली पर बैठी गौरैया उड़ रही है फुर्र फुर्र लेकिन दिख रहा है कोलकाता, गूँज रही युवा होते बेटे की एक आवाज़- जैसी जरूरत वैसी दिखाओ।”

अफसाना कोलकाता प्रवास के एक चमकते दिन का।

अपने समय की सामूहिक चेतना से प्रभावित बेटे ने भी समय रहते किसी नेता की तरह कामयाबी का गुर सीख लिया है। कल यूँ ही उसके बायो डेटा पर नज़र पड़ गयी थी। मैंने देखा उसने अपनी एक महत्वपूर्ण डिग्री ‘इंटरनेशनल सी एफ़ ए’ का जिक्र नहीं किया था। मैंने सोचा ऐसी गलती वह कैसे कर सकता है? इतनी मेहनत और प्रतिभा के बल पर अर्जित की गयी डिग्री! कोई कैसे अपने बायो डेटा में उसका जिक्र करना भूल सकता है? बहरहाल जैसे ही वह घुसा घर में, मैंने प्रश्नों की बौछार लगा दी। वह हँसता रहा। बाद में उसने बताया कि अम्मा जिस कम्पनी के लिए मैंने इंटरव्यू दिया है वह मार्केटिंग कम्पनी है। और मेरी डिग्री फाइनेंस की है। मैं बीच में ही फिर कूद पड़ी, “तो क्या हुआ, इससे तो यही साबित होता है कि तुम दोनों ही जगह के लिए फिट हो।”

‘नहीं अम्मा’ इससे यह साबित होता है कि मैं एक कम्प्यूज्ड बंदा हूँ। मैं मार्केटिंग कम्पनी के लिए पूरी तरह समर्पित होकर काम नहीं कर पाऊँगा। और मौका मिला तो फाइनेंस की कम्पनी में भाग जाऊँगा। इसलिए मैंने हर जगह यह दिखाया है कि मुझे सिर्फ और सिर्फ मार्केटिंग में ही दिलचस्पी है कि मैं मार्केटिंग के लिए ही बना हूँ। अम्मा हमें वह नहीं दिखाना है जो हम हैं वरन् हमें वह दिखाना है जो बिक सकता है। यानि अपनी मेहनत और प्रतिभा से भी उतना ही लेना जितना बिक सके बाज़ार में! इसीलिए मैंने अपनी CFA की डिग्री का जिक्र नहीं किया। कामयाब बेटा अपने प्रवाह में बहता जा रहा था, मैं देख रही थी उसके रूपांतरण को? बिजनेस स्कूल ज्वाइन करने के पूर्व कितना तेजस्वी था वह! कितनी पवित्र आत्मा! किसने बना दिया उसे ऐसा? क्यों बन गया वह आज की बिकाऊ और कमाऊ संस्कृति की पैदावार? क्यों बेटे को इसमें कुछ भी अपमानजनक, धन और संसाधन का दुरुपयोग या असंतोषजनक नहीं लग रहा? जीवन स्वप्न, लक्ष्य और काम से मिलने वाला संतोष तो दूर की बात। शायद उसे इसका भी मलाल नहीं कि उसके चलते किसी एक को इस डिग्री से वंचित रह जाना पड़ा।

सोच रही हूँ और साथ ही झांक रही है विगत स्मृतियों के टीले से जलते सच की ऐसी ही एक और बदरंग तस्वीर। बात उन खुशनुमा दिनों की जब मुझे ताज़ा ताज़ा एम.ए. की डिग्री क्या मिली मेरी कल्पनाओं में जैसे पंख लग गए थे। परिवार की तीन पीढ़ियों की मैं इकलौती एम.ए. मैं सिर्फ एम.ए. ही नहीं लिखती थी। मैं एम.ए. (इकोनॉमिक्स) लिखती थी। खुशनुमा स्वप्नों से भरे उन्हीं दिनों एक बायो-डेटा मैं बना रही थी, बैंक की नौकरी के लिए। पिता को दिखाने के लिए ड्राइंग रूम में घुस रही थी कि तभी देखा तनाव और परेशानी से भरा पिता का चेहरा। उनके भी हाथों में मेरा बायो डेटा था। बाहर से आये कोई शुभचिंतक और रिश्तेदार पिता को सलाह दे रहे थे 'परिवार अच्छा है, खानदानी भी है, बस दिक्कत है इनकी ऊंची डिग्री। क्यों न इनके बायो डेटा से एम.ए. की डिग्री निकाल दें तो बात बन जाएगी क्योंकि उच्च पढ़ी लिखी लड़की चाहे कितनी भी विनम्र क्यों न हो, लोग डरते हैं कि उन्हें परिवार के अनुरूप वे ढाल पाएंगे या नहीं।' बात बनी या नहीं, मुझे नहीं पता, यह भी नहीं जानती कि पिता ने उनकी सलाह मानी या नहीं। बस इतना भर ध्यान है कि उस एक पल में जाने कितनी कीलें कलेजे में धंस गयी थी। कायदे से जिंदगी की शुरुआत भी नहीं हुई थी और पंख कतरने की सलाहें आने लगीं। उस एक वाक्य ने ही जैसे मेरे आत्मविश्वास की धज्जियाँ उड़ा मुझे पराजित कर लगभग मार ही डाला था।

सोचती हूँ कि क्या समय सचमुच बदला है। पुत्र को CFA की डिग्री छिपानी पड़ी और माँ को भी M.A की डिग्री छिपाने की हिदायत मिली। पुत्र को कम्पनी का आदर्श मैनेजर बनने के लिए तो माँ को घर की आदर्श बहू (या प्रबंधिका) बनने के लिए।

उस पार की तैयारी

अपने क्षितिजों को विस्तार देने के लिए इन दिनों कुछ क्लासिक फिल्में देख रही हूँ, कल देखी 'The Bucket List'। फिल्म क्या उच्च अनुभूतियों का आस्वादन थी। फिल्म में जिंदगी की संध्या में मौत के करीब आए दो व्यक्ति अपनी अधबनी लालसाओं की एक लिस्ट बनाते हैं और

मरने के पूर्व अपने बचे खुचे मनोबल के दम पर इस लिस्ट को पूरी करने के लिए निकल पड़ते हैं। एक शाम प्रकृति का अद्वितीय सौंदर्य उनकी मन आत्मा को उजास से भर देता है। हवा की पवित्रता में दोनों घुल घुल जाते हैं। उन्हीं सात्विक लम्हों में, डूबते सूरज की डबडबाती आँखों की ओर देखते-देखते एक दोस्त दूसरे से पूछता है 'क्या तुम्हारे जीवन में आनंद है? पहला दोस्त कुछ सोचकर बोलता है- हाँ है। वह फिर पूछता है- क्या तुम्हारे कारण किसी और की जिंदगी में आनंद है? वह दोस्त चुप हो जाता है।

ये दोनों सवाल मुझे भी मेरी आत्मा के रुबरु खड़ा कर देते हैं। क्या मेरे कारण दुनिया थोड़ी और सुन्दर हुई है? यदि नहीं तो इसके लिए मैं क्या कर रही हूँ? क्या कर सकती हूँ? बहरहाल जब जब अपने समय के अंधेरे में मन डूबने लगता है, क्षुद्रताओं से मन धिरने लगता है, मेरा आसमान बदरंग होने लगता है। ये दो सवाल रोशनी के ढेर की तरह उछल कर मेरे सामने आ खड़े होते हैं और मैं फिर सत्य, सौंदर्य और प्रेम के स्वप्न देखने लगती हूँ।

इन दिनों अपनी बीती जिंदगी पर पुनर्विचार चल रहा है। जाने कितने पारिवारिक और सामाजिक दबावों के तहत हम जीते जाते हैं, एक वह जिंदगी जो हमारे 'स्व' के भाव के विरुद्ध चलती जाती है। एक ऐसी ओढ़ी हुई जिंदगी जो चादर कि तरह हमसे लिपटी हमें अपनी मूल सत्ता से दूर धकेलती हमारे भीतर की दुनिया को बदरंग करती जाती है। और जब तक हमें इस बात का एहसास होता है जिंदगी हमारे हाथों से निकल चुकी होती है। कल पढ़ रही थी एक सर्वे जिसमें एक संस्था ने उन लोगों का साक्षात्कार लिया जो मृत्यु पथ के राही थे। कुछ कैसर पीड़ित थे तो कुछ को डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था। उनसे पूछा गया कि जीवन के इस मुकाम पर क्या उन्हें किसी बात का अफसोस है? अधिकांश ने कहा कि हाँ उन्हें इस बात का सबसे ज्यादा अफसोस है कि उन्होंने स्वभाविक जिंदगी नहीं जीयी। अधिकांश ने कहा 'I didn't live true to myself' चलाचली के बेला में मुझे ऐसा कोई अफसोस न हो इसके लिए अभी से ही तैयारी शुरू कर दी है। आने वाली मेरी जिंदगी में जिंदगी ज्यादा रहेगी

सजावट कम। धूप और हवा ज्यादा रहेंगे, पर्दे कम। जिंदगी में सार्थकता ज्यादा रहेगी, फर्नीचर कम। अब शुरू होगा 'स्वयं को स्वयं से रचने का' सफ़र।

बाबुल के आँगन की चिड़िया

मन जो इन दिनों फालतू बिल्ली बन गया है, बहलाऊँ बहल जाता है, भगाऊँ भाग जाता है। कल शाम एकाएक लोडशेडिंग हो गयी थी। गर्म, सूनी और अँधेरी शाम में मोमबत्ती की रोशनी में रहना बहुत डिप्रेसिंग लग रहा था। यूँ भी इन दिनों पीछे की तरफ का हमारा घर भूतहा घर बन गया है। मकान से अधिकांश किरायेदार जा चुके हैं, इस कारण हर जगह घुप्प अँधेरा और सायं सायं करता सन्नाटा। न इंसान न इंसानी आवाज़। खाली कमरों में प्रेतात्मा की तरह डोलती मेरी काया और धक् धक् करता मन जो एकाएक फिर मेरी गिरफ्त से बाहर जा चुका था। उत्पाती मन को ठिकाने लगाने के लिए बाहर निकलना जरूरी हो गया था। बाहर निकलने के लिए नीचे उतरने लगी कि तभी सुनी घुटी-घुटी-सी दबी-दबी-सी आवाज़ जैसे कोई मुंह बंद कर रो रहा हो। शायद मुझे भ्रम हुआ होगा। मैंने दो कदम आगे बढ़ाया पर नहीं फिर वैसी ही आवाज़ बल्कि इस बार कुछ और साफ़। पूरी चेतना से सुनने लगी। आवाज़ ग्राउंड फ्लोर के घर से आ रही थी। ताज्जुब घर के बाहर ताला जड़ा हुआ था। टॉर्च की रोशनी में बाहर की तरफ खुली हुई इकलौती खिड़की से अंदर झाँका तो कलेजा धक् से रह गया। भीतर पड़ोसिन की चार वर्षीय लड़की खिली अँधेरे में दीवार से चिपकी डरी सहमी सुबक रही थी। चेहरा आँसुओं से तर बतर। क्या हुआ? सुबकते हुए बोली वह कि पापा अभी तक नहीं आए। खिली की कामकाजी माँ रात नौ बजे घर लौटती है। दोपहर दो बजे उसकी आया उसे स्कूल से लाकर, खाना खिलाकर घर को बाहर से ताला लगाकर चल देती है। शाम साढ़े छह बजे के लगभग उसके पापा ऑफिस से आकर उस आँगन की चिड़िया को बंद घर से आज़ाद करते हैं। यह हर दिन की कहानी पर आज लोडशेडिंग ने बात बिगाड़ दी, घुप्प अँधेरे ने डरा दिया उसे।

खिली का आँसुओं से तर बतर चेहरा मुझे सभ्यता और संवेदना की आदिम गुफा में धकेल गया। विकास की इस यात्रा में क्या हम सचमुच आगे बढ़े हैं? क्या हम सचमुच सभ्य हुए हैं? चिड़िया सी फुदकती बच्ची फटे अखबार की तरह पड़ी है जिन्हें पढ़ने वाला कोई नहीं। दुनिया में इससे ज्यादा कारुणिक दृश्य और क्या हो सकता है। मन करता है कि बात करूँ खिली की माँ से, कहूँ उससे कि जब घर में वैसा कोई आर्थिक अभाव नहीं तो फिर किस प्राप्ति की खोज में तुम इस नहीं कोपल के बचपन को झुलसा रही हो? क्यों इनकी अंतहीन कल्पना की उड़ान पर बंदिश ठोक रही हो? क्या ऐसे ही बच्चे बड़े होकर चिड़चिड़े, अंतर्मुखी, बदमिजाजी, हीन भावना से ग्रस्त और अपराधी नहीं होंगे?

..क्या आधुनिकता और मुक्ति का मतलब मातृत्व का गला घोटना है? और जो शैशव इतना असहाय, सहमा, खामोश और खौफ खाया होगा उसका यौवन कैसा होगा? याद आता है कि जब मेरा बेटा स्कूल से आता था तो उसका पेट फुला रहता था बातों से। हर घटना, हर लम्हे को बताने को उतावला रहता था वह। एक बार मैं आते ही फोन से चिपक गयी तो देखा वह काम करने वाली बाई को ही पढ़कर सुनाने लगा वह रिमार्क जो उसकी मैडम ने उसकी डायरी में लिखा था। किसको सुनाती होगी खिली अपनी दुनिया की अंतहीन बातें?

ऐसे बच्चे अलग ढंग से ही विद्रोह करते हैं। जाने अनजाने वे कश्मीरी हो जाते हैं। एक बार चेन्नई में मैं एक दस वर्षीय लड़के को हिंदी सिखा रही थी। उसकी कहानी भी लगभग खिली जैसी ही थी। मैंने एक दिन उससे कहा कि वह 'मरने' के ऊपर कोई वाक्य बनाए। बच्चे ने वाक्य बनाया- मेरी माँ मर गयी है। मैंने लड़के को कहा कि उसकी माँ इतनी स्वस्थ और छोटी उम्र की है फिर क्यों उसने ऐसा वाक्य बनाया? बच्चे ने जबाब नहीं दिया, बस मुंह बनाता रहा, पर उसकी माँ ने कहा, मेरे बेटे की यही छिपी हुई इच्छा है। मुझे पता है उसे मेरा बाहर निकलना पसंद नहीं है। लेकिन ये लोग यह नहीं जानते कि मैं इतना मर खप इन्हीं के लिए तो रही हूँ, इनके उज्ज्वल भविष्य के लिए। मैंने कहा भी कि वर्तमान को झुलसा कर आप कैसा भविष्य इन्हें देंगी।

लेकिन उनका रिसीवर देश के नेताओं की तरह मेरे कहने के मर्म को कभी पकड़ ही नहीं सका।

उम्मीद का मामूली सामान और मालावार

जंगली फूलों सी महकती एक शाम। उम्मीद के मामूली सामान के साथ मैं मालावार गाँव (महाराष्ट्र का एक गाँव) पहुँची। जहाँ मुझे 'इंडिया स्टडी अब्रोड' ग्रुप की तरफ से भारत आए ग्यारह ऑस्ट्रेलियन स्कोलर को तीन सप्ताह के लिये 'भारतीय भाषा और संस्कृति' पर व्याख्यान देने मुंबई से ८० किलोमीटर दूर लुनावला के पास मलावली गाँव में आमंत्रित किया गया था।

हर दिन एक नयी हैरानी और जिदगी को हर हाल में गतिशील रखने की जिद्द मेरा पीछा कर रही थी। हर पल दिमाग पाला बदलता, कभी ठंडा, कभी गर्म। हर लम्हा मन में धुकधुकी। एक अजीब-सा अहसास, एक अनचीन्हा सा नशा... आयोजक भारत की गरीबी बेचने को उतारू थे, तो मैं भारत की समृद्ध संस्कृति, अतीत, देवी-देवताओं और पौराणिक ग्रंथों पर नजर गड़ाए हुए थी। शुरुआती दिनों में तो हाल यह था कि भीतर मचलती धुक-धुक, खुरदुरे अहसासों और तौलती-परखती नज़रों के साथ मेरी क्लास चलती रहती और जब तक लौटकर अपने ठीये पर वापस लौटती मैं तो पाती कि यह मैं नहीं कोई और ही लौटा है। धुक धुक कुछ तो इसलिये भी कि कई बार विशेषकर शुरुआत में ऐसा होता कि उनकी अमेरिकन उच्चारण की अंग्रेजी अपने पल्ले कुछ कम या थोड़ी देरी से पड़ती, इस कारण वे पूछते कुछ और और मैं जबाब देती कुछ और।

पर मेरी असली समस्या कुछ और ही थी। मन हिन्दुस्तान- पकिस्तान जैसे साफ दो मन में बंट चुका था। एक मन कहता- नहीं क्लास लेना इन फिरंगियों की, जहाँ मेरा 'मैं' पल पल रिड्यूस होता शून्य में बदल रहा है? अमीरी की जिस डाल पर लटकी वे इतना इतरा रही हैं, क्या नहीं जानती कि इसकी बुनियाद में कितनी सिसकी, आँसू और उदासियाँ दबी पड़ी हैं। भूल गयीं अपने देश के इतिहास के उन असभ्य काले पन्नों को- ऊफ़फ़! किस प्रकार वहाँ के मूल निवासी, अबॉरिजिंस (आदिवासियों) को, वहाँ के धरती-

पुत्रों को थोक में मार-मूर कर, खदेड़कर हासिल की उन्होंने यह अमीरी? पर इन ऊपरी सिलवटों की तह के भीतर एक मन और भी था जो बार बार कह रहा था कि यही मौका है जब मैं आयोजकों के समानांतर एक ऐसे भारत की तस्वीर भी पेश करूँ इनके समक्ष कि ये भी तो समझे कि सभ्यता की इस यात्रा में ये कहाँ और हम कहाँ?

बहरहाल मैंने अपने को सूखे पत्ते की तरह हवाओं के हवाले किया। गुलमोहर, पाम ट्री, रात की रानी और क्रिस्मस ट्री जैसे ढेरों-ढेर पेड़ों से घिरा वह एक छोटा-सा गेस्ट हाउस था जहाँ हम सभी इकट्ठे रह रहे थे। सुबह क्लास के समय गेस्ट हाउस के ऊँची छत वाले ड्राइंग रूम को क्लास रूम में तब्दील कर दिया जाता। क्लास के बाद सारे दिन शोधार्थी कभी पुणे तो कभी लुनावला तो कभी कोई अनाथालय तो कभी कोई स्कूल घूम-घूम कर भारत दर्शन करते।

जनवरी की ठहरी-शान्त और गीली सुबह। तेज ठंडी हवा के साथ उड़ती छोटी-छोटी बूँदे। मैं दोनों हाथों को ओवरकोट में डाले जमीन पर बिछे सूखे पत्तों की सेज पर खरामा-खरामा चलते-चलते, बुलबुल के घोंसले को देखते देखते जबतक क्लास- रूम में पहुँची, सफ़ेद कबूतरियों की तरह फड़फड़ाती सभी छात्राएँ क्लास में आ चुकी थी। खुश-खुश और खुली-खुली कबूतरिया। मुझे अच्छा लगा कि सब समय की पाबन्द थी, उनमें से अधिकांश ने जींस-टॉप को तिलांजलि दे सलवार कमीज की मेंबरशिप ले रखी थी। पर दूसरे ही क्षण सारा प्रशंसा भाव तिरोहित हो गया, जब देखा कि उनमें से कई प्याले में दूध कॉर्नफ्लेक्स तो कोई ब्रेड चबा रही थी। वे एकदम सहज थीं, शायद उनकी संस्कृति में। क्लास में खाना सहज स्वाभाविक था। उड़ती हुई नज़र से मैं क्लास का जायजा ले रही थी कि अचानक नज़र पड़ी- उजली धूप-सी चौध मारती एमा पर जो काले कलूटे कंबल के घेरे में दुबकी हुई थी। 'क्या हुआ? आर यू ओके?' ओह यस', 'तो फिर यह कंबल क्यों लपेट रखा है?' बिकॉज आई एम इन सॉर्ट्स।' भारत आने से पहले आयोजकों ने उन्हें यह हिदायत दे रखी थी कि वे भारतीय संस्कृति के अनुसार

कपड़े पहने इस कारण एमा ने अपने काफी तंग और छोटे कपड़ों को कंबल से ढांप रखा था।

कैसे भरता है उन्हें भारत

हर सुबह क्लास के शेष होते ही हम नाश्ता लेते, सारे जहाँ से अच्छा गाते। मसालेदार पोहे, उपमा, बड़ा पाव और आलू सैंडविच खाते खाते वे ग्यारह ऑस्ट्रेलियन लाल हो जाते। उन्हें पूरी के अंदर पोहे डाल खाते देख देख मैं नीली पड़ जाती .. फिर धूप की नन्हीं-नन्हीं तितालियों के साथ हम कच्चे रास्तों और धूल उड़ाती पगडण्डियों के साथ आसपास की स्कूलों का चक्कर काटते। स्कूलों के आँगन गुलजार करते, मराठी मास्टरनियों से छात्रों की जानकारी लेते। पहली शाम ही आयोजक हमें मलावली ग्राम स्थित शिक्षाग्राम अनाथालय ले गये जहाँ मुलाकात हुई शज़र रॉबिनसन से।

६६ वर्षीय शज़र जब सामने आई तो वे ऑस्ट्रेलियन शज़र नहीं वरन् शज़र की भारतीय अवतार नज़र आ रही थी। भूरा काला सलवार और चूड़ीदार। थकान के हल्के-हल्के बादलों से घिरा चेहरा। कानों में सोने की जल चढ़ी बालियाँ। हल्की नीली आँखें और पूरे शरीर में हल्के-हल्के राई बराबर भूरे-भूरे दाग। जिंदगी के अकेलेपन, निरुद्धेश्यता, छिछलापन और व्यर्थताबोध से घबड़ाकर २०१० में वे जबसे भारत आई तब से यहीं की होकर रह गयी। लेकिन मन तो फिर भी मन है। जब कभी अपने टूटे-फूटे परिवार की हूक उठती है, मन हज़ार हज़ार पंख लगाकर उड़ान भरता है, तब वे कुछ समय के लिये चली भी जाती हैं सिडनी, लेकिन सकून मिलता है यहीं शिक्षाग्राम में आकर जहाँ वे ९०५ बच्चों की माँ हैं।

‘हर शाम मैं जैसे सहाद्री की इन पर्वत श्रृंखलाओं को निहारती हूँ, वैसे ही मैं जब अपनी जिंदगी के पिछले चार वर्षों को निहारती हूँ तो इस निष्कर्ष पर पहुँचती हूँ कि मैंने यहाँ आकर और यहीं का होकर रहने का जो निर्णय लिया वह गलत नहीं था। भारत ने ही मुझे यह चेतना दी कि खुदगर्जी के चौखट से खींचकर मैंने अपने जीवन को अनंत तक फैला दिया है, वहाँ मैं निःसंतान कही जाती थी, यहाँ मैं ९०५ बच्चों

की माँ कहलाती हूँ, डूबते सूरज की ललछाँही रोशनी में उनकी आवाज़ का रंग मिल जाता है। मैं अपने भीतर थोड़ी आध्यात्मिक होने लगती हूँ। फिर पूछ बैठती हूँ- ‘भारत में ऐसा क्या देखा आपने जो यही की हो लीं।’

उन्हें सोचना नहीं पड़ा जैसे उत्तर तैयार खड़ा था बस ठेलने भर की देरी थी। सामने खिसक आये बालों को पीछे ठेलते हुए कहा उन्होंने, “भूख, भुखमरी और गरीबी के बावजूद यहाँ के लोग शेयर करना जानते हैं। वे हार्ट सेंटर्ड हैं।”

चाकू की तेज धार-सी उनकी अंग्रेजी, उनका उच्चारण.. मुझे समझने में तकलीफ होने लगी। मेरे अनुरोध पर उन्होंने धीरे-धीरे बोलना शुरू कर दिया। जैसे धीरे-धीरे फूल झड़ रहे हों महुआ के- मैं राजस्थान के किशनगढ़ गाँव में गयी थी एक बार। वहाँ किसी बच्चे का जन्मदिन था मैंने देखा इत्ते सारे लोग और इत्ता सा केक। हाथों को दो बार फैलाकर बताया उन्होंने। इसी बीच अनाथाश्रम का एक बच्चा कहीं से आकर लिपट गया उनसे। उसके माथे को चूम उसके गालों को सहला उसे पास में ही बिठाया और ऊँगली के इशारे से कहा ‘नो’ फिर शुरू हुई वे, “मैं तो चिंता में पड़ गयी, इत्ता सा केक सबको कैसे मिलेगा? लेकिन केक कटा भी और ताज्जुब छोटे छोटे टुकड़ों में सबमें बँट भी गया। यदि ऑस्ट्रेलिया होता तो जाने कितने केक कटते और जाने कितनी बर्बादी होती। हमलोग किफ़ायत से रहना जानते ही नहीं हैं। मेरे खुद के घर में तीन लोगों के बीच चार टीवी सेट थे। यहाँ देखा एक टीवी है और पूरा परिवार टीवी के सामने खाते हुए मिल कर देख रहा है। तकलीफ की एक गहरी परत बिछ जाती है उनके चेहरे पर- मनुष्य होकर जीने का रहस्य मैंने यहीं सीखा। जलाशयों की तलाश में भटकती मेरी प्यासी आत्मा को जीवन की सबसे बड़ी नियामत दी है आपके देश ने- माँ होने का गौरव दिया है।

पीड़ा का समुंद्र जैसे उनके भीतर हिलोरें लेने लगता है- ऑस्ट्रेलिया में पिछले दिनों एक नया नियम बना है जिसके अनुसार मोन्टेसरी का कोई टीचर दो वर्ष

की बच्ची को भी चूम नहीं सकता, उसे प्यार नहीं कर सकता कि कहीं माँ-बाप सेक्स हैरसमेंट का केस नहीं बना दें। सोचिये कैसा समाज है, जहाँ सहज विश्वास ही नहीं। जबकि भारत में लोग सहज विश्वास में जीते हैं। खाने पीने की चीजों का जितना आदान-प्रदान यहाँ पड़ोसियों के बीच होता है, दुर्लभ है वहाँ। ऑस्ट्रेलिया में हमें सिखाया जाता है कि अजनबियों से चीजें मत लो। यह 'बी के अरफुल' एटीट्यूड सबकी जड़ में है। बोलते-बोलते उन्होंने उनसे चिपके बैठे उस सांवले से बच्चे की फिर मिठी ली।

दोस्ताना समय पंख पसार कर उड़ रहा था। हो - हल्ले की आवाज़ें हमारा ध्यान खींचने लगी। हम सीढ़ियों पर बैठे थे जो कि एक निर्माणाधीन बिल्डिंग थी। १०५ गृहविहीन बच्चों का यह बड़ा-सा घर था जिसके एक बच्चे सुनील का आज जन्मदिन था। सुनील को सिडनी स्थित मिस्टर क्लॉउड ने गोद ले रखा था। मिस्टर क्लॉउड सुनील के जन्मदिन के उपलक्ष्य में सिडनी से आए थे इस कारण पूरे आश्रम में जबर्दस्त उत्साह था। पूरे हाल में बेतरतीब ढंग से गुब्बारे टंगे हुए थे, रंग उड़ी बूढ़ी-सी टेबिल पर बड़ा सा केक रखा था। ...आश्रम के संयोजक ने टूटी-फूटी अंग्रेजी में सुनील के स्पॉन्सर्ड पिता का आभार व्यक्त किया। साधारण वेशभूषा में साँवला-सा सुनील अपने दत्तक पिता के साथ शर्माया-सा सामने ऐसे खड़ा था जैसे अमेरिका के सामने सोमालिया। पूरे आश्रम ने सप्तम स्वर में गाया 'हैप्पी बर्थडे'। आश्रम की आत्मीयता से अभिभूत मिस्टर क्लॉउड की आँखें भी छलछला आयी। खुद उनके दो पुत्र हैं दोनों विवाहित हैं और अलग रहते हैं। साल में मुश्किल से एकाध बार मिलते हैं। पत्नी है लेकिन उससे तलाक हो चुका है। कहते हैं-भारत प्यार करने वालों का देश है।

बहरहाल लौटते हुए शजर रॉबिन्सन ने बड़ी आत्मीयता से मुझे कहा, 'थैंक यू फॉर शेयरिंग योर कंट्री विथ मी'। मैं मंत्रमुग्ध! अवाक! यह क्या कह दिया? 'भारत क्या है' यह मैंने उनकी आँखों में देखा। जिस बेहतरीन को भारत में रहकर शायद हम समझ ही नहीं पाए, सात समुन्दर पार से आई महिला ने इसे महसूस किया।

हरी हरी पत्तियों के झुटपुटों से झांकती सूरज की किरणें, घरों की ओर लौटते आसमान के परिंदे ... जाने भीतर क्या खदबदाया कि पूछ बैठी; जीवन की अंतिम शाम कहाँ गुजारना पसंद करेंगी? अपने में खोयी-सी वे बुदबुदाई- नहीं पता, सत्य शायद न इस पार है, न उस पार है, बीच में ही कहीं दबा है, पर इतना जरूर हुआ कि जीवन के कुछ बुनियादी सवालों के जवाब मुझे यहाँ आकर ही मिले। यहाँ के बच्चों के निश्छल प्यार ने छींटे डाल मुझे फिर से जीवन दिया। घर कैसे बनता है यह मैंने यहाँ आकर जाना। घर बनता है जब कोई आपका इंतज़ार कर रहा हो, जब कोई आपके इंतज़ार में भूखा बैठा हो। बोलते हुए वे उठ खड़ी हुई- मुझे बच्चों को होमवर्क करवाना है। ओस की बूंदों-सा शांत और शीतल उनके चेहरे को देख मैं सोचने लगी क्या सचमुच उन्होंने ऐसा कुछ पा लिया था कि जिसको पाने के बाद कुछ और पाने की चाह बाकी नहीं रहती।

'नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है'

सुबह ठेलेवालों को देख मुझे जबर्दस्त प्रेरणा मिलती। यहाँ चेन्नई में कोलकाता की तुलना में कहीं ज्यादा संख्या में सब्जियों और फलों के लिए शॉपिंग मॉल हैं।

अलग-अलग काउंटर पर प्राइस टैग लटकाए सजी-धजी सब्जियाँ, जिन्हें देख मैं हमेशा अवसाद से भर जाती कि ये चल गईं तो खुदरे सब्जी और फल बेचने वालों का क्या होगा। पर नहीं, फेरी लगा-लगाकर अपनी लकड़ी की चौपाया गाड़ी में सब्जी रख हांक लगा-लगाकर बेचने वाले ये फेरीवाले रिलायंश फ्रेश को भी मात देते हैं। वहाँ तो आप पहुँचेंगे तब पहुँचेंगे, ये तो सुबह हुई नहीं कि देश की इकॉनमी को बूस्ट करते आपके घर हाजिर।

जिजीविषा और अकथनीय श्रम का एक उदाहरण और देखा। मेरे घर के सामने ही एक मकान बन रहा था। कई औरतें तसले में रेत-सीमेंट भर-भरकर उसे मकान की छत पर पहुँचा रही थीं। तभी एक मजदूर स्त्री पर नजर पड़ी। उसकी गोद में बच्चा था। मैं सोचने लगी बच्चे को गोद में लिए यह तसला कैसे उठाएगी। उसने अपने थैले से एक साड़ी खींची, पास ही बने नीम के पेड़ की डाली पर साड़ी से

झूला डाला, दूधमुँह को उसने सुलाया, कुछ देर झूला डुलाया, देखते-देखते दूधमुँहा सो गया और वह चालू हो गई, भर-भर तसला बालू-सीमेंट ऊपर पहुँचाने लगी। मैं प्रशंसा और सहानुभूति के भाव से उस औरत को देखती रही। उस शाम अल्प और अति के चरम बिंदुओं पर जीता यह शहर मुझे एक उदास रचना ही नजर आया।

मेरा कमरा जिसे जिंदगी भूल गयी मेरे नाम करना और देखते देखते निकल गया चेन्नई का प्रवास भी वैसे ही जैसे देखते देखते बह गये जिंदगी के ५५ वर्ष। विश्वास ही नहीं हो रहा है कि कल बेटा और बहू हनीमून से वापस घर आ रहे हैं। मैंने भी सोचा, चलो आज जिन्दगी का उत्सव मनाया जाए। उनका कमरा सजाया जाए। एक राज ... दरअसल यह कमरा मैं उनके लिए नहीं अपने लिए ही सजाना चाहती थी। अपने उस कमरे को सजाना चाहती थी जो कभी मुझे शिद्दत से हर रात लुभाता था, पर जिसे जिन्दगी मेरे नाम करना भूल गयी थी।

चेन्नई के फूल अपनी सुगंध के लिए मशहूर हैं। सुबह चेन्नई की बसें महकती हैं उन फूलों की महक से जो तामिलियन स्त्री के बालों में झूलते रहते हैं। मैंने अपनी मकान मालकिन से फूलों के बारे में बात की, उसने अपने माली से बात की। तय हुआ कि उनका माली बेटे के कमरे को आकर सुगन्धित फूलों से महका देगा।

कल सुबह माली फूल दे गया। लेकिन दोपहर के पांच बज गए। माली नदारद... राजा और दिव्या नौ बजे तक आने वाले थे।

मैं परेशान, सोचने लगी क्या करूं कि तभी मेरी मकान मालकिन राजलक्ष्मी जी हँसते हुए आयी और कहा 'माली नहीं आएगा चलिए हम लोग ही मिलकर सजा देते हैं कमरा।'

मैं फिर हैरान। गजब की व्यस्त कस्टम अफसर राजलक्ष्मी जी और वे सजाएँगी मेरे बेटे का कमरा! ... मैंने

सोचा माली बीमार पड़ गया होगा इसलिए राजलक्ष्मी जी उदारता वश.... लेकिन जब माली के नहीं आने का सही कारण जाना तो मैंने माथा पीट लिया, यह है मेरा भारत महान! माली नहीं आया था क्योंकि उसे अगली सुबह राजलक्ष्मी जी के यहाँ हवन करना था। चूंकि हवन एक पवित्र एवं धार्मिक अनुष्ठान था और सुहाग सेज एक श्रृंगारिक कार्य जिसकी परिणति सम्भोग में होनी थी। माली नहीं आया था क्योंकि सुहाग सेज सजाने के बाद उसकी पवित्रता और शुद्धता बरकरार नहीं रहती। और इसीलिए डॉक्टर रे राजलक्ष्मी जी ने उनकी जिम्मेदारी सहर्ष संभाल ली थी। मैं लज्जित और निरुत्तर राजलक्ष्मी जी का चेहरा ही देखती रही। कैसी निगाहें जो जीवन के सौन्दर्य और सृजनात्मकता को नहीं देख पाती? जीवन का आदिम राग सुन नहीं पाती? सभ्यता की इतनी सुदीर्घ यात्रा करने के बाद भी हमने कैसे मनुष्य रचे हैं? अभी कुछ दिन पूर्व ही मेरे भतीजे की बहू ने मुझे बड़े ही सहज भाव से बताया था कि उसके पिताजी ने पिछले कई सालों से ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया है। मैं अवाक्! तुम्हें कैसे पता? उसने और भी हैरतअंगेज जवाब दिया। मुझे क्या घर भर को पता है। पिताजी ने ब्रह्मचर्य लेने के पहले दादी से आज्ञा ली और फिर गुरुदेव से व्रत लिया।

क्या? शर्म से सर झुक गया। कैसे घृणित मस्तिष्क हैं हमारे धर्मगुरु? २३ करोड़ लोग देश में रोज भूखे सोते हैं, इतने किसान आत्महत्या कर रहे हैं, कन्याएं भ्रूण में ही दम तोड़ रही हैं, बच्चे कुपोषण के शिकार हो रहे हैं। देश भ्रष्टाचार में गले गले डूब रहा है, इसकी चिंता नहीं, चिंता है स्त्री-पुरुष के सोने की। उत्तर भारत हो या दक्षिण भारत, सेक्स के भूत ने सभी धर्माचार्यों को एक जैसे ही जकड़ रखा है। क्या करें वे भी, अवचेतन में जब जब काम का कीड़ा काटता है, सेक्स पर पहरा बैठा देते हैं ये।

जय हो!

संपर्क: ७२ए, विधान सरणी, फ्लॉट-३सी, तीसरा तल्ला, कोलकाता-७००००६, मो. ९१६७७३५९५०

बँटवारा एक बहुत बड़ी नादानी थी : नासिरा शर्मा

(सुप्रसिद्ध कथाकार नासिरा शर्मा से मुहम्मद हारून रशीद खान की बातचीत)

प्रश्न : नासिरा जी, इधर आपके तीन लघु उपन्यास “अजनबी जजीरा”, “दूसरी जन्नत” और “शब्द पखेरू” २०१२ से २०१८ तक एक के बाद एक आए हैं इसकी कोई खास वजह?

उत्तर : वजह तो कोई खास नहीं है। वैसे १९९२ में मेरा एक लघु उपन्यास “ज़िन्दा मुहावरे” के नाम से आ चुका है। बँटवारे के बाद भारत-प्रेम में हिन्दुस्तान में रह जाने वाले मुसलमानों का मनोविज्ञान क्या रहा और उन्हें देखने का एक विशेष विचारधारा रखने वालों का नजरिया क्या था (जो आज भी नहीं बदला) इस पर आधारित है जिसका एक अध्याय फैज़ाबाद के गाँव और दूसरा पाकिस्तान के शहर कराची पर आधारित है। लेकिन यह तीनों उपन्यास डेढ़ सौ पन्नों की जगह केवल नब्बे या सौ पन्नों तक सीमित हैं।

प्रश्न : “ज़िन्दा मुहावरे” नाम रखने की कोई खास वजह? दूसरी बात यह कि सारी महत्वपूर्ण रचनाएँ बँटवारे के समय हुई हिंसा पर आधारित है?

उत्तर : सही कहा आपने। आज भी लोग उस हृदय-विदारक घटना से उबर नहीं पाए हैं। चाहे उनकी संख्या समय के गुजरने के साथ कम होती जा रही है, मगर उसकी निःशब्द गूँज दूसरी-तीसरी पीढ़ी की यादों का हिस्सा अपने बुजुर्गों के अनुभव के बयानों के कारण अभी भी बनी हुई है। इस कारण १९४७ के पहले उथल-पुथल पर बराबर लिखा जा रहा है और पाठकों की रुचि भी है। “ज़िन्दा मुहावरे” उपन्यास को लिखने से पहले एक कहानी ‘सरहद के इस पार’ लिखी थी मैंने। जो भी साहित्य भारत बँटवारे पर पड़ा था उससे मेरे अन्दर एक बेचैनी पैदा हो रही थी कि कोई भी रचना बँटवारे के बाद भारतीय मुसलमानों की दशा पर क्यों नहीं आई है कि बँटवारे का असर उन पर क्या पड़ा। इस बेचैनी ने मुझसे यह दोनों रचनाएँ लिखवाई क्योंकि यह मेरे समय का सच था। जिसमें मानसिक हिंसा का ज़िक्र था गो कि फसाद और दंगे बराबर हो रहे थे जिनके दूसरे कारण थे। मेरे उपन्यास में संवेदनाएँ और मनोविज्ञान का चित्रण है कि अपनों से अलग होने की पीड़ा क्या होती है चाहे वक्त पानी की तरह बहता रहे मगर दिल व दिमाग पर अपनों से जुदाई के लगे घाव कभी नहीं भरते हैं। यह उपन्यास दो भाइयों की कहानी लेकर चलता है। एक भाई मुस्लिम लीग का समर्थक है और पाकिस्तान चला जाता है। दूसरा गाँधी का समर्थक वह भारत में रह जाता है। मैंने सिब्ते हसन की किताब “माजी के मजार” में पढ़ा था कि कुछ भाषाएँ मर जाती हैं, मगर उनके मुहावरे व शब्द दूसरी भाषा

में ज़िन्दा रहते हैं। मुझे महसूस हुआ कि बँटवारे के बाद पाकिस्तान में गए भारतीय मुहाज़िर कहलाए और आज भी यह पछतावा साथ लेकर चल रहे हैं कि यह बँटवारा एक बहुत बड़ी नादानी थी।

प्रश्न : इस उपन्यास को उन शरणार्थियों द्वारा भी खूब सराहा गया। मसलन सिन्धी व पंजाबी जो उस इलाके से उजड़ कर हिन्दुस्तान आए थे।

उत्तर : व्यथा का केन्द्र-बिन्दु तो एक रहता है बयान किसी रूप और भाषा में किया जाए। जिन पर गुजरती है वह उस पीड़ा की छवि में अपना चेहरा देख लेते हैं।

प्रश्न : इस उपन्यास की भाषा पाठक को बहुत प्रभावित करती है। निजाम व लच्छू का चरित्र कहीं पर हमें प्रेमचन्द के किरदारों के समकक्ष खड़ा कर देता है। यहाँ पर मैं अपनी जिज्ञासा दबा नहीं पा रहा हूँ आखिर आपकी रचनाओं के नाम बेहद अर्थपूर्ण रहते हैं जैसे 'दूसरी जन्नत', 'शब्द पखेरू'। यह बताएँ यह 'दूसरी जन्नत' जो आपने लिखी है, वह किस जन्नत की बात है, क्या आप उस जन्नत की बातें तो नहीं कर रही हैं जहाँ हूँ हैं?

उत्तर : वह तो पहली जन्नत की बात है। इस उपन्यास का नाम मैं दोज़ख या दूसरा नरक भी रख सकती थी। ख्याल भी आया था। दरअसल यह उपन्यास बाँझ औरतों एवं मर्दों की समस्या पर मैंने उठाया था जो नर्क झेलते हैं और उससे मुक्ति उन्हें दिलाई है मेडिकल साइंस ने। बात अस्सी दशक की है जब यह आविष्कार वजूद में आया था मगर अब नई तकनीक के साथ हर ख़ास व आम की पहुँच तक हो गया है। मुझे महसूस हुआ कि नाम से आशा की जगह निराशा क्यों?

प्रश्न :: लेकिन मुस्लिम समाज में यह हराम है।

उत्तर : जी बिल्कुल सही कहा आपने। जो भी नया आविष्कार होता है उसे इस्लाम स्वीकार करने में झिझकता नहीं है मगर उस पर पूरा शोध कर एक नियम बनाकर पेश करता है कि इसको अपनाने में क्या अच्छा-बुरा परिणाम निकलेगा। इसलिए वह एक सीमा रेखा खींच देता है। जो इस्लाम के नियम व विश्वास के साथ चलना चाहे जो नहीं चलना चाहता है वह

अपना जवाबदेह खुद है। इसलिए बहुत से मुसलमान जो नियम नहीं जानते या औलाद की इच्छा रखते हैं वह बड़ी संख्या का लाभ उठा रहे हैं। मेरा उपन्यास ऐसे ही जोड़े की कहानी है, मगर ज़िन्दगी (हकीकत भी) कोई सीधी सड़क नहीं जो पार कर ली जाए। उसमें कई मोड़ आते हैं और इन्हीं मोड़ों की गुजरगाह से कई प्रश्न उभरते हैं कि औरत-मर्द के बीच इस सहूलियत को अपनाने के लिए पक्षपात भरा अन्दाज क्यों? दरअसल इच्छा, ममता, धर्म और मेडिकल साइंस की उपलब्धियों के बीच फँसे औरत-मर्द की यह कहानी है। अब रहा नाम का सवाल तो जो पढ़ेगा वह जान जायेगा कि जहन्नम की जगह जन्नत नाम मैंने क्यों रखा है।

प्रश्न : आज तो सभी विज्ञान को अपना रहे हैं?

उत्तर : इसमें कोई बुराई भी नहीं है। आपसी टकराहटें तो हमेशा से चलती रही हैं और चलती रहेंगी। यह भी एक परेशानी का मुद्दा सामने आ रहा है कि एक ही पुरुष के स्पर्श से कई बाँझ औरतें जो माँ बन रही हैं उन बच्चों में जुड़वा भाई-बहनों जैसी समानता नजर आ रही है। यह तो इंसान को समझना पड़ेगा कि उसकी हद कहाँ तक है क्योंकि इस्लाम बाँझ औरत-मर्द को धैर्य की सलाह देता है और मेडिकल साइंस इस बाँझपन को खत्म करने व गर्भ धारण करने में ३० प्रतिशत का आश्वासन देता है।

प्रश्न : तकनीक को उपन्यास में गूँथने में कोई परेशानी आई हो?

उत्तर : जी नहीं, मगर आई.वी.एफ. के बारे में पूरा पढ़ना और समझना पड़ा। देर लगी समझने में क्योंकि ज़ेहन इतनी बड़ी उपलब्धि को स्वीकार करने और मिस्र देश में बने आई.वी.एफ. कानून की शर्तें एवं परिणामों को पहले झटके में समझने के लिए तैयार न था। यह उपन्यास जिसने पढ़ा उसने यही कहा कि कई बार पढ़ना पड़ा क्योंकि कोई न कोई नुकता फिर सवाल के रूप में उभर आता है।

प्रश्न : इसमें कोई शक नहीं है। इस तकनीक पर लेख तो मैंने पढ़ा है मगर उपन्यास शायद यह पहला है।

उत्तर : यह तो मैं नहीं कह सकती मगर मेडिकल साइंस, धर्म और ममता के बीच जो रस्साकशी है शायद वह पहली

हो, क्योंकि इंसान को अपने विश्वास, विचारधारा और संवेदना के बीच जो संघर्ष करना पड़ता है उसका आख्यान यह उपन्यास है। इसको लिखना भी मेरे लिए चुनौती से कम न था।

प्रश्न : आज विज्ञान सभी लोग अपना रहे हैं?

उत्तर : ज़माना उसी का है। अपने समय के बदलाव जिसमें सहूलियतें होंगी उसे हर इंसान अपनाने की कोशिश करता है। बतौर मिसाल एक जवान ने बहुत मजेदार बात कही मुझे से “आज हम जिस दौर में जी रहे हैं उसमें जीवन-मूल्य, दर्शन, व्यवस्था, फेसबुक के आगे मुझे सब बेकार लगता है।” इसमें कोई शक नहीं कि एकाएक ज़माने ने तकनीकी स्तर पर बड़ी जबरदस्त करवट बदली है। एक हल्के से स्पर्श से दुनिया का कोई भी नजारा आप देख सकते हैं।

प्रश्न : इस उपन्यास को आप थोड़ा बढ़ा भी सकती थीं। इसको इतना छोटा रखने की कोई खास वजह?

उत्तर : लम्बी कहानी को लघु उपन्यास कहना उचित नहीं है क्योंकि लम्बी कहानी और दो ढाई सौ पन्ने के बीच की रचना को लघु उपन्यास कहा जाता है। कुछ लेखक इस खानाबन्दी के खिलाफ हैं। बहरहाल हर विषय की अपनी माँग होती है। इस उपन्यास के मुद्दे चाहे जितने अहम हों मगर वह ‘कुइयाँजान’, ‘अक्षयवट’ और ‘पारिजात’ जैसा ४००, ५०० पन्नों का नहीं हो सकता था। बात पन्नों की नहीं बल्कि विषय की माँग की होती है।

प्रश्न : तो यही बात आप ‘शब्द पखेरू’ लघु उपन्यास के संदर्भ में भी कहेंगी जो आपने इंटरनेट पर लिखा है?

उत्तर : बिल्कुल! कहने को बताने को बहुत कुछ हो सकता था। सूचनाओं के स्तर पर जैसा हम रोज पढ़ते हैं उसमें मैं क्या नया जोड़ सकती थी। लेकिन इंटरनेट जैसा पॉवरफुल माध्यम का आज के आदमी के जीवन में जो हस्तक्षेप हुआ है वह कमाल का है। उससे मानवीय पक्ष कैसे प्रभावित हुआ है मुझे उसके दोनों पक्ष उठाने थे। साथ ही साइबर क्राइम को भी सामने रखना था।

प्रश्न : आपने घरेलू परिवेश के बिखराव को भी केन्द्रित किया है। उपन्यास में विशेषकर जब परिवार में माँ-बाप

में से कोई बीमारी में पड़ा हो तो बच्चों में जीवन जीने की ललक बढ़ जाती है।

उत्तर : जी! इस सौ पन्नों के उपन्यास में वर्तमान सामाजिक स्थिति का चित्रण है जो बताता है एक तरफ इंटरनेट की तीव्रता और दूसरी तरफ संभावनाओं का लंगड़ाना। इंटरनेट आपको हकीकत की दुनिया दिखाता है और सपने जगाता है। वह रास्ता दिखाता भी है और भटकाता भी है। सोशल मीडिया पर हुई दोस्ती कैसे सेकेण्ड भर में गायब हो जाती है कि उसका निशान तक नहीं पा सकते हैं।

प्रश्न : तो यह हुआ ‘शब्द पखेरू’?

उत्तर : मैं जब अपने अनुवाद की पुस्तक को तरतीब दे रही थी तो अरबी, फारसी, उर्दू की कहानियाँ और उपन्यास भी पढ़ रही थी। उस समय कई लघु उपन्यास भी मेरी नजर से गुजरे, जाने क्यों मेरे दिल में इच्छा उभरी कि मैं भी लघु उपन्यास लिखूँ। ‘अदब में बाई पसली’ का तीसरा खंड उपन्यासों पर है और उर्दू, अरबी व फारसी के यह तीनों लघु उपन्यास अपने समय के उत्कृष्ट उपन्यासों में गिने जाते हैं और बेहतरीन मोटे (पन्नों को देखते) उपन्यासों के समकक्ष माने जाते हैं अपने विषय और कलात्मकता के कारण। संक्षेप में मेरी इच्छा पूरी हुई।

प्रश्न : इनमें से आपको प्रिय कौन-सा है?

उत्तर : कहना मुश्किल है तो भी मैं अपना झुकाव ‘अजनबी ज़जीरा’ की तरफ पाती हूँ। उसका पहला अध्याय मेरा दिल इस तरह मोहने लगता है जैसे किसी अन्य लेखक का मास्टर पीस पढ़ रही हूँ।

प्रश्न : किसी कहानी को लेकर ऐसी कैफियत महसूस हुई? वैसे आप हमेशा इस सवाल का जवाब टाल देती हैं।

उत्तर : ‘सरहद के इस पार’ कहानी के लिए कह सकती हूँ वह हर बार नया मजा और नजरिया देती है। मैं टालती नहीं थी, तय नहीं कर पाती थी मगर समय के गुजरने के साथ जब वह रचना आपसे छूटकर दूर चली जाती है तो आप उस पर कुछ कहने के मूड में आते हैं। बहुत से मेरे कहानी व उपन्यास के चरित्र मुझे अपने को पुकारते हुए महसूस होते हैं।

प्रश्न : आपके उपन्यासों में बार-बार किसी न किसी रूप में गाँव उभर कर आता है जैसे 'शब्द पखेरू', 'अक्षयवट', 'कुइयाँजान', 'पारिजात', 'शाल्मली', 'ठीकरे की मंगना' यहाँ तक कि ईरान क्रान्ति पर लिखे गए उपन्यास 'ज़िन्दा मुहावरे', 'सात नदियाँ एक समन्दर' भी गाँव के विवरण से बच नहीं पाये हैं। इसकी वजह क्या है और आपका गाँव कहाँ है उससे आपका रिश्ता क्या है?

उत्तर : गाँव, शहर दोनों से मेरा रिश्ता है इसलिए गाँव का जिक्र आना स्वाभाविक है। मुझे ताज्जुब होता है कि हमारे कई लेखकों ने गाँव देखा ही नहीं है। लगभग सभी गाँव से शहर की तरफ आए हैं।

प्रश्न : क्या आप अभी भी जाती हैं?

उत्तर : मेरे गाँव का नाम मुस्तफाबाद है जिसके एक तरफ इलाहाबाद है तो दूसरी तरफ लखनऊ है। एक ज़माने में बहुत ज्यादा जाना रहा अब दो-तीन वर्ष में जाना हो जाता है।

प्रश्न : 'पारिजात' का मुख्य पात्र रोहन जब कहता है, 'इलाहाबाद एक हकीकत है और लखनऊ एक सपना।'

उत्तर : जी! इलाहाबाद शिक्षा व सियासत का केन्द्र कहला सकता है। लखनऊ सांस्कृतिक गतिविधियों का गढ़ हुआ करता था। मेरा गाँव अब तो वह कस्बे में तब्दील हो गया है जिसका स्टेशन 'ऊँचाहार' है। इसी नाम से एक ट्रेन भी चलती है। जिला रायबरेली का इलाका अपनी साहित्यिक, राजनीतिक गतिविधियों के कारण एक ऐतिहासिक महत्व रखता है जहाँ किसान आन्दोलन का भी योगदान रहा है। जब कभी साहित्यिक कार्यक्रम होता है तो लखनऊ, इलाहाबाद के साथ गाँव का चक्कर लगता है या फिर किसी विशेष अवसर पर गाँव जाना पड़ता है वरना टेलीफोन से खैरियत का आदान-प्रदान होता है।

प्रश्न : मैंने सुना और पढ़ा है कि आपके यहाँ शैरो-शायरी का सिलसिला रहा तो फिर आपने गद्य में क्यों लिखा?

उत्तर : मेरे बुजुर्गों में गद्य लिखने वाले भी थे, लेकिन मेरा ख्याल व दिलचस्पी कुछ दूसरी रही है। सीरिया लेखक संघ द्वारा भी हम से यही सवाल कुछ अलग ढंग से पूछा गया था कि आपके देश में भी कविता-संग्रह छपना मुश्किल होता

है। मेरे साथ अंग्रेजी भाषा के कवि के. की. दारूवाला और मलयालम भाषा के कवि सचिदानन्द जी थे। जब बारी मेरी आई तो मैंने कहा, क्योंकि यह समय कविता का नहीं गद्य का है। सभी ने चौंक कर मेरी तरफ देखा था। मुझे अच्छी शायरी पढ़ना और सुनना पसन्द है मगर लिखना नहीं। अच्छी शायरी लिखना कठिन है मगर इंसानी चरित्र उभारना उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

प्रश्न : ऐसा क्यों? जबकि आपके गद्य में काव्यात्मकता गजब की है। आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय जी ने भी यह बात आपके इण्टरव्यू शिखिसयत में रेखांकित किया था कि आपकी भाषा पर काम होना चाहिए जिसमें उर्दू, फारसी व अरबी भाषाओं के शब्द हिन्दी के संग मिल एक नया मुहावरा रचते हैं।

उत्तर : उनके कहने की मैं कद्र करती हूँ और एजरा पाउण्ड का कहा एक वक्तव्य कहीं पढ़ा था जिसे मैं याद के सहारे अपनी भाषा में लिख रही हूँ कि हमें कविता ऐसी भाषा में लिखनी चाहिए जो गद्य की तरह सुन्दर हो। उनका यह कथन मुझे चौंका गया था। मेरे गद्य में काव्यात्मकता की बात अक्सर मैंने सुनी है शायद यह इसलिए भी हो कि मेरे खून में शायरी की घुलावट तो है या फिर शानदार शायरी सुनकर या पढ़कर मुझे राहत और कल्पना की उड़ान का अहसास तो होता है। मगर शायरी करने की ललक नहीं जागती क्योंकि आज के समय की जो जवाबदेही है उसके लिए गद्य ही मुनासिब है।

प्रश्न : एक ही लिपि में लिखी जाने वाली तीन भाषाएँ आप जानती हैं उर्दू, फारसी, पश्तो। आपको 'आजतक' चैनल के साहित्यिक मंच अर्थात् साहित्य के सितारों का महाकुम्भ से कहते सुना गया कि यह दौर उर्दू का सुनहरा दौर है। व्याख्या करेंगी?

उत्तर : मुझे रखशान्दा जलाल के साथ 'यह जो उर्दू है' नामक टॉपिक के लिए 'आजतक' से बुलावा आया था। इस शीर्षक में दो अर्थों की ध्वनि आती महसूस हुई एक कटाक्ष की दूसरे भव्यता की। मैं यह भी समझ नहीं पाई कि हिन्दी भाषा के लेखक को उर्दू भाषा पर बोलने के लिए किन वजहों से बुलाया जा रहा है। इसलिए फोन किया तो पता चला कि

कार्यक्रम की योजना बनाने वाले सज्जन 'आउट आफ स्टेशन' हैं। दो दिन पहले फोन करके मैंने नेहा शर्मा से फिर पूछा तो पता चला कि अनुवाद पर बोलना है आपका जो नया काम आया है। चूँकि रखशन्दा अनुवादक हैं तो मेरे ज़ेहन में उर्दू भाषा का अनुवाद का एक सिलसिला ऐतिहासिक योगदान से बनने लगा मगर जब कार्यक्रम शुरू हुआ तो वहाँ अब्दुल बिस्मिल्लाह साहब थे जिन्हें एक दिन पहले इस कार्यक्रम में शामिल होने का बुलावा गया था। जो फोकस मेरे ज़ेहन में था। उसकी जगह उर्दू-हिन्दी भाषा पर पहला सवाल एंकर ने पूछा जो आजतक में क्राइम प्रोग्राम में शम्स ताहिर खान आते हैं। जवाब में यह जुमला मेरे मुँह से निकला था कि उर्दू की खिदमत हिन्दू साहेबान ने की थी आज फिर वही स्थिति लौट रही है चाहे उत्तर प्रदेश में ४०० उर्दू उस्तादों को रोजी-रोटी न मिले मगर अवाम में उर्दू लोकप्रिय हो रही जिसका श्रेय 'रेखता' को है। कामता प्रसाद और संजीव सर्राफ ने नई पीढ़ी को उर्दू शायरी, कल्चर और गंगा जमुनी तहजीब को फिर से जिन्दा करने की तहरीक चलाई है। अभी दिल्ली में भी उर्दू विरासत पर एक बड़ा साहित्यिक जश्न हुआ था, लेकिन हमारी बात अभी शुरू ही हुई थी कि एंकर को संदेश मिला 'वाइन्डअप' मुझे महसूस हुआ जैसे अभी आँख खुली थी कि फिर रात हो गई, क्योंकि अब्दुल बिस्मिल्लाह साहब पूरे ३५.६ सेकेंड बोले और मैं ६ मिनट। कक्षा खत्म हो गई।

प्रश्न : एंकर ने यह होने कैसे दिया?

उत्तर : बाहर निकलकर मैंने शम्स से तकनीकी नजर से पूछा था कि आपने समझा नहीं तो वह बेहद कुढ़े अंदाज से बोले, 'मेरी क्या मजाल जो मैं उन्हें टोकता' दूसरी बात जो दिलचस्प थी कि हम खुले मंच के शेड में थे सुनने वाले कुल चार-पाँच थे जो बढ़ती धूप के कारण उठकर चले गए। पता नहीं, हम लेखकों को ऐसे प्रोग्राम में जाना चाहिए या नहीं। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। बेशक वह हमारे नामों और साहित्य महोत्सव के नाम से होता है मगर उनका फोकस राजनेताओं, फिल्मी हस्तियों के प्रति ज्यादा होता है शायद इसका कारण यह भी हो कि आयोजकों व एंकरों का दखल साहित्य पर न के बराबर हो।

प्रश्न : एक खास तरह की सोच रखने वाले उर्दू भाषा को लेकर पक्षपात करते नजर आते हैं आपका क्या ख्याल है?

उत्तर : वहाँ मैंने यह भी कहा था कि मैं लेखक हूँ और किसी भाषा का विरोध मैं नहीं कर सकती हूँ क्योंकि उस भाषा में साहित्य रचा जाता है। मगर मैं देखती हूँ केवल सियासत नहीं बल्कि हमारे वर्ग के बीच में 'बासी भात में खुदा का साझा' लिखने वाले और सोचने वाले बड़ी तादाद में हैं जबकि उर्दू-हिन्दी जुड़वा बहनें हैं जैसे संस्कृत और फारसी के लिए कहा जाता है।

प्रश्न : आपका सृजनात्मक लेखन शैक्षणिक अध्ययन के साथ-साथ चलता रहा। किन रूपों में आपके चिन्तन और अध्ययन ने उसे प्रभावित किया।

उत्तर : है तो दिलचस्प बात कि मेरा सृजनात्मक लेखन, अनुवाद, पत्रकारिता और टूटी पढ़ाई का सिलसिला दोबारा फिर से उन्हीं दिनों जुड़ा। ऊपर से जवाहर लाल विश्वविद्यालय का खुला ज़ेहनी माहौल जहाँ पूरी दुनिया भर की बातें होतीं। बुद्धिजीवियों का देश-विदेश से आदान-प्रदान के साथ भारत के पिछड़े इलाके से आए विभिन्न भाषा-बोली के विद्यार्थीगण। ऐसा लगता था ७० के दशक में जैसे सूरज का पूरा फोकस अरावली की शृंखला पर है जहाँ नेहरू यूनिवर्सिटी बसी है। समय के गुजरने के साथ मेरे अन्दर छुपी ऊर्जा को बाहर निकलने का शानदार मौका मिला। यात्राएँ भी कीं और लिखित व मौखिक शब्द के महत्व को समझा। साथ ही लेखन के चलते अपने विभाग में पक्षपात को झेला मगर झुकी नहीं।

प्रश्न : किसी अध्यापिका की नौकरी बचाने के लिए आपने फारसी में दाखिला लिया था। कुछ बतायेंगी?

उत्तर : वह ज़माना गुजर गया अब उसे क्या दोहराना।

प्रश्न : दोहराना जरूरी है ताकि आपके पाठक आपके व्यक्तित्व की गठन और कृतित्व में छुपी चिंगारी को समझ सकें।

उत्तर : उस समय तक हमारी अध्यापिका हम पर अपने ईरान प्रवास एवं बुद्धिजीवियों से अपनी निकटता का बखान करती थीं जब हम दो विद्यार्थी ईरान से लौटकर आए तो उनके तेवर बदल चुके थे। ताव में आकर उन्होंने हमें अपने पेपर में फेल कर दिया। अपमान का अहसास इसलिए हुआ

कि हमारी लिखित व मौखिक फारसी में तीन माह के ईरान प्रवास में काफी सुधार आ चुका था। उन्हीं दिनों मेरे लेख छपना शुरू हुए और एक पुस्तक 'ईकोज आफ इरानियन रेवेल्युशन' आई जिसमें मेरे अनुवाद छपे थे। उनकी ज्यादाती को सहते हुए हमने एम.ए. कर लिया मगर पीएच-डी. के इण्टरव्यू में मुझे फारसी न जानने के कारण फेल कर दिया और इण्टरव्यू टेप कर लिया। टेपिंग गैरकानूनी थी। उन्होंने हेड को भी भड़का कर अपनी तरफ कर रखा था गर्ज कि सभी मुझसे नाराज थे। टेपिंग की भनक स्टुडेंट यूनियन तक पहुँच गई। चुनाव करीब था। उन्हें मुद्दे की तलाश थी। मुझसे पूछा गया तो मैंने टेपिंग से इन्कार किया, क्योंकि मुझे खुद पता नहीं था गर्ज कि जमकर यूनियन एक्शन में आ गई मेरे चाहने न चाहने के बावजूद क्योंकि यह सारी प्रक्रिया कानूनन गलत तो थी साथ ही स्टुडेंट को विकटीमाइज करने का षड्यंत्र रचने की भी थी।

प्रश्न : उस समय नामवर सिंह जी की क्या भूमिका रही थी?
उत्तर : वह डीन थे। क्या कर सकते थे क्योंकि जे.एन.यू. में हर विभाग की अपनी आटोनामी थी जिसमें वाइस चांसलर भी एक सीमा के बाद कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। फिर माहौल नारों, जुलूस, पोस्टरबाजी का इतना शदीद बन चुका था कि छात्र वर्ग व टीचरों के पक्ष-विपक्ष बन चुके थे। समझ सब रहे थे बोल भी रहे थे मगर विभागीय आटोनामी के आगे कुछ कर नहीं सकते थे। एस.एफ.आई पार्टी दो भागों में बँट गई। एक हिस्सा भुन गया और मुझे दाखिला नौ माह की जोरदार लड़ाई के बाद भी नहीं मिला। लेकिन उन्हीं दिनों भूतपूर्व ईरानी राष्ट्रपति बनीसदर के प्राइवेट सेक्रेटरी भारत पधारे और अपने दूतावास से कहा कि वह मुझसे मिलना चाहते हैं और पता चला कि जिस किताब के चलते मुझे पीएच-डी. में एडमिशन नहीं मिला था। उसी पुस्तक पर वह मेरे हस्ताक्षर चाहते थे। वह स्वयं भी कवि थे। उस समय कमलेश्वर जी दिल्ली दूरदर्शन में थे और कुबेरदत्त जी पत्रिका प्रोग्राम देख रहे थे। मैंने ईरानी कवि का दूरदर्शन पर फारसी में इण्टरव्यू किया और साथ ही साथ अनुवाद भी। उसे देखकर एक तहलका सा मच गया कि मेरे साथ मेरे विभाग

ने किस बुरी तरह पक्षपात किया है। उन दिनों पार्टियाँ विश्वविद्यालय की जुलूस निकाल रही थीं। उनमें ईरानी क्रान्तिकारी विद्यार्थियों की भी पोस्टरबाजी और जुलूस निकलता था। वह कई बार उस समय के वाइस चांसलर नारायण से भी जाकर मिले थे।

प्रश्न : नामवर साहब ने आपकी पुस्तक 'औरत के लिए औरत' के लोकार्पण के पैक्शन में यह क्यों कहा था कि मैं नासिरा जी की तरफ जब देखता हूँ तो मुझे अपराध-बोध होता है। क्या इशारा उधर की तरफ ही था?

उत्तर : जी! बहुतों को मेरे विकटीमाइजेशन का दुःख था खासकर इस कारण भी जब वह मेरा काम बराबर देख रहे थे।

प्रश्न : अब आपको वह सब याद करके कैसा लगता है?

उत्तर : ठंडी पड़ी शिराओं में गर्मी सी भर जाती है क्योंकि उन्हीं दो-चार वर्षों में कई तरह के अनुभव आगे-पीछे हो रहे थे। मेरी शिकायत लेकर ईरानी प्रेस अटाची भारतीय विदेश मंत्रालय के प्रेस डेस्क के पास गए थे कि इस पत्रकार को रोके। वहाँ से जवाब मिला था कि हमारा प्रेस आजाद है और हम किसी के लेखन पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकते हैं। मेरे लेख उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी में हर लीडिंग पेपर व पत्रिकाओं में छप रहे थे। साथ ही मेरी सृजनात्मकता भी अपने चढ़ाव पर थी। कहानी और उपन्यास भी छप रहे थे। ईरान पर लिखा उपन्यास भी बहुत पसन्द किया गया और 'शामी कागज' संग्रह की कहानियाँ भी।

प्रश्न : श्रीपत जी ने उस संग्रह को छापा था।

उत्तर : जी! उन्हें शामी कागज की सभी कहानियाँ पसंद थी मगर सबसे ज्यादा शामी कागज।

प्रश्न : यह शामी कागज है क्या?

उत्तर : 'शामी' शब्द पहले सीरिया देश के लिए इस्तेमाल किया जाता था। वहाँ एक खास किस्म की सिल्क पाई जाती थी जिस पर शाही फरमान लिखे जाते थे। उसकी खूबी यह थी कि वह धोकर फिर इस्तेमाल कर ली जाती थी। मैंने उसकी उपमा औरत के दिल से की है कि वह शामी कागज नहीं है जिस पर एक बार इबारत लिखकर धोई जा सके।

प्रश्न : तभी आपको एशियन राइटर अक्सर विद्वान कहते हैं जैसे फारसी के स्कॉलर सईद अख्तर हुसैन, हिन्दी के आलोचक व पत्रकार ओम निश्चल और कहानीकार व पत्रकार प्रियदर्शन जी ने अपने लेख में इस बात का जिक्र किया है।

नासिरा शर्मा : उनके विचार की मैं कद्र करती हूँ इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रश्न : १९८२ के बाद आप फिर ईरान नहीं गईं आखिर क्यों?

उत्तर : इसका जवाब मैं एक दिलचस्प किस्से से दूँगी। दो वर्ष पहले ईरान व साहित्य अकादमी की तरफ से एक सेमिनार रखा गया था। वहाँ कई ईरानी लेखकों से मुलाकात हुई। बातों बातों में मैंने कहा, 'मैं दो बार शहीद हुई एक बार शाह के सिस्टम के खिलाफ लिखने और दूसरी बार इमाम खुमैनी के सिस्टम के खिलाफ। सो फिर ईरान जाना खतरे से भरा था। उनका जवाब था कि हम ऐसे लोगों को 'शहीद-ए-ज़िन्दा' कहते हैं।'।

प्रश्न : खतरा कैसा?

उत्तर : ईरान-इराक युद्धबन्दी के अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में मुझे बुलाया गया था। वहाँ ईरानी युद्धबंदियों से मुलाकात हुई जिसमें ८ से १६ वर्ष के बच्चे और किशोर थे। कई देशों के पत्रकार थे। उसमें फ्रेंच टी.वी. के पत्रकार फिलिप शान्तले ने मेरे लिए गए इण्टरव्यू पर एक ७ मिनट की फिल्म बना ली। मसला बड़ा गंभीर था। मानव अधिकार एवं इराक लगातार बच्चों की वापसी का तकाजा कर रहे थे। ईरान इंकार कर रहा था कि यह बच्चे हमारे नहीं हैं इराक का षड्यंत्र है हमारे विरुद्ध। अब सनद हाथ में थी १९८३ में पूरी दुनिया ने यह इण्टरव्यू पेरिस के सेकेंड चैनल की पत्रिका कार्यक्रम में देखा और नतीजा यह निकला कि ईरान को यह बच्चे वापस लेने पड़े। वह फिल्म रात-दिन ईरान में दिखाई जाती और कहा जाता कि यह अमेरिकन मुसलमान हैं जिसने हिजाब की इज्जत नहीं रखी है। मेरे कई क्लासमेट ईरान के संचार माध्यम में थे। उनसे खबर मिलती फिर खुद ईरानी बताते और मना करते थे कि यह समय ईरान जाने का नहीं है और सच भी था कि वीजा मुझे न मिलता। संसार की हर पार्टी

और हर सिस्टम में कुछ संकीर्ण मानसिकता एवं उग्रवादी स्वभाव के राजनेता होते हैं और जनता में भी और हर इंकलाब अपने बच्चों को खाता है। मेरा समय १९७६ से १९७९ तक शाह शासन में ईरान एक बार जाने का था। फिर १९८२ तक इमाम खुमैनी के पेरिस से लौटने का समय था जिसमें तीन बार ईरान जाना हुआ। तभी इमाम खुमैनी व शीर्ष के नेताओं से इण्टरव्यू लिए और खुद से सवाल किया कि मुझे अवाम का साथ देना है या सत्ता का। मुझे लगा अपने वर्ग का जबकि आज के इमाम खामनई के आफिस से (जब वे राष्ट्रपति थे) मुझे ईरान सरकार के पक्ष में लिखने और उससे होने वाले लाभ का संकेत दिया जा चुका था। वह एक मुश्किल घड़ी थी।

प्रश्न : रूसी व फ्रेंच क्रान्तियों की चर्चा हमारे साहित्यिक हल्कों में बहुत है परन्तु ईरान की क्रान्ति पर आपके अलावा इतना काम किसी का नहीं है। न ही इस पर गोष्ठियों में चर्चा होती है।

उत्तर : यह कहना आपका काफी हद तक सही है। मगर अन्य भाषाओं और विषयों के बुद्धिजीवियों, प्रोफेसर्स, लेखक, पत्रकारों में मैंने यह चेतना देखी है। या फिर वे लोग जो भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ज्ञानी हों वे अपने समय में हुई इस क्रान्ति के प्रति जागरूक रहे हैं उस समय 'मेनस्ट्रीम' के सम्पादक निखिल चक्रवर्ती की और प्रोफेसर तुलसी राम की किताबें आई थीं। हिन्दी को छोड़कर अन्य भारतीय भाषाओं के सम्पादक अपने लेख और सम्पादकीय लिख रहे थे। हिन्दी के अकेले पत्रकार वैदिक जी के मैंने यात्रा संस्मरण पढ़े हैं उन्हें फारसी बोलनी आती है। हमारे एक पत्रकार नजमुलहसन का माइन बिछी जगह पर जाने से ईरान में मृत्यु भी हुई थी। वैसे तो ईरान पर डॉ. ताराचन्द का काम तो है। राहुल सांकृत्यायन के नाम से हम सब वाकिफ़ हैं।

प्रश्न : आप दो क्रान्तियों की चश्मदीद गवाह हैं। ईरान पर तो बहुत काम किया है आपने। अफगानिस्तान की क्रान्ति के बारे में थोड़ा बताइए। वहाँ के इंटेलिक्चुअल की स्थिति तब कैसी थी?

उत्तर : ताज्जुब की बात है कि ईरान क्रांति की तरह अफगानिस्तान क्रान्ति पर कोई बात उतने चाव और जिज्ञासा से नहीं करता है जितना ईरान क्रांति पर। शायद उसकी वजह यह हो सकती है कि ईरान क्रांति वहीं के अवाम के बीच से आई थी। एक तरफ बुद्धिजीवी लिखने-पढ़ने-बोलने की आजादी के साथ वर्गों की असमानता से नाराज और शहंशाहियत के खिलाफ थे दूसरी तरफ धार्मिक लोग भी बेजा आजादी अमेरिकन प्रभाव इत्यादि को लेकर नाखुश थे। मगर अफगानिस्तान में क्रांति रूसी फौज के साथ आई और व्यवस्था पलक झपकते ही बदल गई। पहले भी अफगानिस्तान में तख्ता पलट अचानक वजूद में आता रहा है जिसके पीछे उस दौर की महाशक्तियों का ही समर्थन होता था मगर इस बार वह सीधे हस्तक्षेप पर उतर आई। जिससे अफगानिस्तान एवं विश्व में खलबली सी मच गई। साम्यवादी पार्टी का समर्थन उसे प्राप्त था। इसमें कोई शक नहीं था कि उस दौर में वहाँ की बदहाली और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए बहुत काम हुआ। इसमें भी कोई शक नहीं कि मुजाहिदीन उन्हें उखाड़ने पर तुले थे। इसलिए लगातार उन कार्यों को बर्बाद करते थे। मेरी पुस्तक 'अफगानिस्तान : बुजकशी का मैदान' में सारी बातें राजनेताओं और बुद्धिजीवियों के साक्षात्कार द्वारा खुलकर सामने आती है।

प्रश्न : वह अहम किताब है। इतना गंभीर व गहरा काम किसी भारतीय पत्रकार द्वारा सामने नहीं आया है अब तक। उसकी सेल पर रोक भी लगी थी।

उत्तर : आर्मी का हौसला पस्त करने का संकेत दिया गया था। लेकिन कोई बड़ा मसला नहीं बन पाया मेरे साथ या उन दिनों के हालात कह लें वह यह कि मेरे लेखन के पक्षधर बहुत-सी सियासी पार्टियाँ और गिरोह के साथ बड़े पैमाने पर जिलावतन लेखक-कवियों का समर्थन प्राप्त था जो सत्ता में न होकर भी गैरमामूली अहमियत एवं सामूहिक शक्ति के रूप में मौजूद थे। वह मेरे जानने वाले नहीं थे मगर पढ़ने वाले थे और अपनी तरह से कठिनाइयाँ सुलझा देते थे जिसका पता मुझे नहीं लग पाता था। दूसरे कुछ ऐसे लोग भी सत्ता में थे जो अपनी व्यवस्था के आलोचक थे मगर नौकरशाही में

शामिल थे। उनकी भी मदद मुझे मिल जाती थी वरना ऐसे मुश्किल समय में काम करना नामुमकिन था। यही हाल भारत में भी था। किताब कुछ दिनों बाद हाथों हाथ ली गई।

प्रश्न : आपकी पत्रकारिता से उस समय सभी चकित थे।

उत्तर : वह दौर कुछ अरसे के लिए अफगानिस्तान में विशेष विचारधारा वाले लेखकों का सुनहरा दौर था। लेखक संघ वजूद में आया। पुस्तकें छपीं, गोष्ठियाँ होने लगीं जो पहले इस पैमाने पर नहीं होती थीं फिर सत्ता पलटी मुजाहिदीन आ गए। अमेरिका आया, तालिबान आए और लगातार अफगानिस्तान कुछ देर के लिए ठहरता फिर खून में नहा जाता। यह सिलसिला कहाँ जाकर बन्द होगा समझ में नहीं आता।

प्रश्न : 'अदब में बाई पसली' शृंखला के पहले खंड में जो कविताओं पर आधारित हैं उसके अफगानिस्तान वाले हिस्से में आपने अपने लेख में लिखा है कि वहाँ की कवयित्रियों का जो परिवेश है उसमें उन्हें लिखने-पढ़ने की स्वतंत्रता देने में पिताओं का योगदान सराहनीय है मगर जैसे ही वह भाई और पति की जद में आती है तो सही मायनों में उनका दमन शुरू होता है। आप सोचती हैं ऐसा हिन्दुस्तान में भी है?

उत्तर : हिन्दुस्तान में पितृसत्तात्मकता की इन दिनों धूम है। मुझे पता नहीं क्यों 'मर्दसालारी' शब्द इसकी जगह ज्यादा उपयुक्त लगता है। शायद मेरी नॉलेज इस सिलसिले में कम हो मगर अफगानिस्तान में बेटी के लिए पिता के दिल में नर्म गोशा है चाहे वह सदियों पहले गुजरी शहजादी और शायरा राबिया बलखी हों या फिर मेरे द्वारा सम्पादित अफगानिस्तान कवयित्रियों का अनुवाद और उनकी जीवन की कुछ झलकियाँ जहाँ पिता के घर से विदा लड़की शौहर के घर में घुटती है। अगर वह सृजनकर्ता भी हो जैसा कि महजूबा सफोरा कवयित्री के साथ हुआ कि उनके खुशमिजाज मगर तंग दिल पति का बयान स्वयं उनके खत द्वारा जो उन्होंने अपनी दोस्त शायरा को लिखा था जरा सुन लें। मैं इस बात से कितनी रंजीदा हूँ कि मैं क्योंकि शायरा पैदा हुई। दूसरे, क्यों एक ऐसे मर्द की बीवी बनी जो खुदगर्ज व तंगनजर और अपने ऊपर इतराता है। एक दिन मुझसे कहने लगा, 'बुलबुल, तूती और मैना कैसा दर्दनाक गाना गाती है अगर तुम सहरा और शहर की

तरफ उड़ी उड़ी फिरोगी तो इतने खूबसूरत और दिलगुदाज शेर नहीं कह पाओगी। वह चाहता है कि कैद में बन्द कर मुझे अपनी बातों से तसल्ली दे।’

प्रश्न : पिछले दिनों सुनने में आया जो कि मेरे लिए बहुत ही आश्चर्यजनक बात थी कि आपने की जान की दुश्मन हो गयी। जान की क्या दुश्मन वह प्रोफेशनली हम लोगों को खत्म करना चाहती थी। हमारी ईरानी टीचर थी उस लेडी से बार-बार कहती थी तुम ऐसा मत करो, लेकिन वह औरत आउट आफ वे जा चुकी थी, ये चीजें थी। उसने बहुत सारी अफवाह मेरे लिए उड़ायी। जो अफवाह उड़ा रहे थे उनमें दम नहीं था और दूसरी तरफ मेरे चाहने वाले, मेरे लेखन को पढ़ने वाले, मुझे सम्मान देने वाले थे। मुझे यकीन दिला रहे थे जो रास्ता आपने चुना है और आगे निकल जाइये। जे.एन.यू. की जो क्रीम थी वह मुझसे बार-बार कहती थी और लिखो, आगे बढ़ो। तब पता नहीं था ईरान और भारत का ऐतिहासिक सम्बन्ध और सांस्कृतिक सम्बन्ध कितना गहरा है। और जो इण्डो-ईरैनियन भाषा है वह आपस में कितनी जुड़ी हुई हैं। वह संस्कृत और फारसी के कितने करीब है। ये सारी बातें जैसे-जैसे पता चलती रही मेरा उत्साह बढ़ता गया। मैंने ईरान पर बहुत काम किया। क्रिएटिव भी, अनुवाद भी, सियासत भी और इण्टरव्यू भी। तो लोग मजबूर थे कहने के लिए ईरान और नासिरा शर्मा। अभी भी जो पढ़ता है, वह पसंद करता है। यह एक राइटर के लिए बहुत बड़ा तमगा है। कितने लोग मुझे इतला देते हैं, कहते हैं, आपको कितने लोग चाहते हैं, तो मुझे लगता है ये छोटे-छोटे सब जुमले, मुझे अफवाहों के घेरे में बाँध नहीं पाते। मेरे अन्दर का राइटर बहुत मजबूत होता है।

प्रश्न : आप जिस ऊँचाई की हकदार थीं, वह मुकाम आपको नहीं मिला। मुझसे एक साक्षात्कार में यह बात काशीनाथ जी ने कही थी।

उत्तर : १९८० से मैंने अपने लिए यह जुमला हर उस शख्स से सुना है जिसने मुझे पढ़ा है। जब कोई यह कहता है तो मुझे अपमान सा महसूस होता है। दिल दुःख सा जाता है कि जिस तरफ मेरा ध्यान नहीं जाता है उस ओर मुझे नाहक

खींचा जाता है। मुझे तो यह भी समझ में नहीं आता कि मैं किस ऊँचाई की हकदार थी या हूँ?

प्रश्न : साहित्य अकादमी पुरस्कार आपको देर से मिला, कुछ कहेंगी?

उत्तर : यह बात तो हिन्दी साहित्य संसार ने एक ज़बान होकर कही थी जब ईनाम का ऐलान हुआ था। अकादमी वालों का कहना था कि जो भी सूचनाएँ उन्हें मिलीं सब सकारात्मक थीं और सभी बहुत खुश थे। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। लेखन की पूरी पूँजी जब एवार्ड के रूप में अंत में थमाई जाती है तो उसका सुरूर कुछ और होता है, क्योंकि बहुतों की मुराद पूरी होती है और यह मैंने महसूस किया है जब पुरस्कार घोषित हुआ था।

प्रश्न : आपको यह एवार्ड ‘शाल्मली’ या ‘कुइयाँजान’ पर बहुत पहले मिल जाना चाहिए था। कोई दुःख कि उस पर मिलता तो अच्छा होता?

उत्तर : नहीं! ऐसा नहीं लगा। लेकिन कोई ‘जीरो रोड’ का भी नाम ले लेता तो अच्छा होता। इस बीच सम्मान और एवार्ड दूसरे मिलते रहे हैं जिसका एक दिन का फंक्शन और इत्तला मिल जाती है फिर सन्नाटा। मगर साहित्य अकादमी की बात कुछ और है, अनुभव भी अलग सा रहा। तीन साढ़े तीन महीना जश्न किसी न किसी रूप में चलता रहा। कभी यात्राएँ, कभी इण्टरव्यू, रेडियो, टी.वी और समाचार पत्रों में, कभी दोस्तों का आना और एस.एम.एस. और फूलों के गुलदस्तों की भरमार बिल्कुल शादी जैसा माहौल जिसमें पूरा घर मसरूफ। दूसरी बात यह है कि लेखक की इच्छा से उसका पसंदीदा ईनाम नहीं मिलता बल्कि जूरी के चयन से। ठीक यही हाल पाठकों की पसंद का भी है। उनकी मर्जी कहीं-कहीं पूछी जरूर जाती है तो भी बात नहीं बनती जैसे ‘कुइयाँजान’ दस वर्षों में कभी भी व्यास सम्मान में जूरी द्वारा सेलेक्ट नहीं हुई जबकि महेश भारद्वाज उसकी लोकप्रियता और बिक्री से प्रभावित हो हर बार जमा करवा कर शयोर रहते थे। इन सारी बातों और बहस से कुछ निकलता नहीं बस एक सच्चाई के कि साहित्य की कसौटी पर कौन-सी रचना पूरी उतरती है। बात अंत में रचना पर जा टिकती है।

लेकिन मुझे खुशी इस बात की है कि पाठकों ने मेरी पहले की लिखी रचनाओं का जिक्र किया वरना ज्यादातर होता यह है कि पुस्तक आई प्रशंसा एवं समीक्षा की गहमागहमी रही फिर पाठक के जेहन से रचना उतर गई। नाम भी याद नहीं रहा।

प्रश्न : कुछ लोगों के लिए 'शाल्मली' माइलस्टोन है?

उत्तर : जज तो जागरूक पाठक होते हैं मैं इस बारे में क्या कह सकती हूँ।

प्रश्न : पुरस्कार वापसी कितना सही था?

उत्तर : जो माहौल उस समय बना था। उसके विरोध में लेखक या तो कलम चला सकता था या ज़बान। जिनके पास साहित्य अकादमी पुरस्कार था उन्होंने उसे लौटा कर अपना ऐतराज दर्ज कराया जो सही था मगर यह आक्रोश का एक भावनात्मक पक्ष था। मगर व्यवहारिक नहीं तो भी मोदी सरकार लेखकों के इस क़दम से काफी परेशान हुई थी। उसकी चर्चा देश-विदेश में काफी दिनों तक रही।

प्रश्न : व्यवहारिकता से आपकी मुराद क्या है?

उत्तर : मेरा मतलब ऐतराज के असर का वह प्रभावी ढंग जो पूरे लेखक समाज को लेकर साथ चलता। एक खास गिरोह तक जिसमें अधिकतर साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त लोग ही थे, वह सिमटकर रह गया। इस मुद्दे पर लेखक समुदाय कई टुकड़ों में बँट गए। उधर अकादमी से सुनाई पड़ा कि बहुतों ने केवल ऐलान किया मगर न चेक लौटाया न एवार्ड। जिन्होंने लौटाया तो उसके लिए न अकादमी के पास कोई बैंक एकाउंट था न कमरा। पुरस्कार के बाद जो कुछ उनको लाभ पहुँचा यानी उनकी पुस्तकें अनुवाद हुई हैं। उन सबको किस तरह लौटाया जा सकता है इसलिए मेरा ख्याल है कि इस सिलसिले से लेखक समुदाय को ज्यादा प्रैक्टिकल वे में कदम उठाना होगा तो भी पुरस्कार लौटाने की घोषणा का यह एक सिलसिला बन चुका है बहुत पहले से और यह अपना प्रभाव भी छोड़ता है।

प्रश्न : आज की पत्रकारिता के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर : हिन्दुस्तान में 'कलकत्ता गज़ट' के नाम से पहला अखबार आयरलैंड के रहने वाले पत्रकार 'अगस्टस हेकी' ने १७८० में कोलकाता से निकाला था। इस बीच भारतीय

पत्रकारों ने अपनी भूमिका बेहद गौरवपूर्ण तरह से निभाई जो आज भी मौजूद है, लेकिन धीरे-धीरे यह प्रतिबद्धता क्षीण होती चली गई और अवसरवादी हवा उन्हें अपने संग ले उड़ी। मोटे तौर से वर्तमान पत्रकारिता काफी हद तक बिकी हुई है। खासकर विश्व स्तर की इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और इंटरनेट पर दी गई खबरें जो दृश्यों के संग दिखाई जाती हैं और बाद में पता चलता है कि फ़र्जी थीं। उनकी पकड़ लिखित शब्दों की तरह नहीं की जा सकती है वह वायरल तब तक होती है जब तक उससे लाभ पहुँचता है, लेकिन यह उसका एक खतरनाक पक्ष है मगर जहाँ पत्रकार व सम्पादक समझदारी और पूरी ईमानदारी से काम कर रहे हैं और अपनी जान की भी परवाह नहीं करते हैं उनकी संख्या काफी है। जो पत्रकारिता की अस्मिता बचाए हुए है। पीत पत्रकारिता हमेशा से रही है मगर २००३ से तो लगातार अपने नैतिक मूल्यों से दूर होती जा रही है। फिर भी तस्वीर का एक दूसरा रुख भी है जो हमको नजरअंदाज नहीं करना चाहिए जैसे पत्रकारों की सुरक्षा बनी समिति 'सीपीजे' के अनुसार ड्यूटी के दौरान साल भर में विश्व स्तर पर ५३ पत्रकारों में से ३४ की हत्या की गई। इसमें अफगानिस्तान सबसे खतरनाक देश पिछले कई दहाइयों से रहा है। २०१८ में पिछले साल की तुलना में उन पत्रकारों की संख्या दुगुनी रही है जिनकी हत्या रिपोर्टिंग के चलते हुई। जिसमें हाल ही में 'वाशिंगटन पोस्ट' के स्तंभकार जमाल खगोशी की निर्मम हत्या एक उदाहरण है। पेरिस स्थित 'रिपोर्टर्स विदाउट बार्डर्स' की इस सप्ताह आई सूचना के अनुसार मृतकों की संख्या ८० तक बताई गई। इसमें ब्लागर, सिटीजन जर्नलिस्ट और मीडियाकर्मी शामिल हैं। कई दशकों से भारत में सम्पित छोटे पत्रकार विशेषकर पिछड़े इलाकों में बड़ी तादाद में अपनी जान गँवाते रहे हैं जिनका छिटपुट जिक्र होता था मगर पिछले चन्द वर्षों लेखकों की जो हत्याएँ हुई हैं उसने हमारे सामने बेहद गंभीर स्थिति ला दी है जो हुसैन जैसे चित्रकार को देश-निकाला देकर हमारे सामने आई थी।

प्रश्न : धर्म क्या बेहद ज़रूरी है आदमी के लिए?

उत्तर : हर धर्म जीने का तरीका सिखाता है, आपको अनुशासन में रखता है। इंसान और विश्वास का एक अटूट रिश्ता है। लेकिन जहाँ धर्म एक कैदखाने में बदल दिया जाता है और अनुशासन तानाशाही में बदलने लगता है वहाँ वह इंसान के लिए अत्याचार का रूपक बन जाता है। यही हाल विचारधारा का भी है। मेरा अपना ख्याल है भले ही आप धर्म पर विश्वास न रखें मगर दूसरों की निष्ठा का अनादर कर उन्हें आहत न करें। प्रत्येक इंसान को अपनी तरह जीने का अधिकार मिलना चाहिए।

प्रश्न : आपने एक बार कहा था कि किताबों के अलावा आपका कोई खुदा नहीं है।

उत्तर : जी! ज्ञानपीठ की तरफ से एक प्रोग्राम शुरू हुआ था। पहले प्रोग्राम में बातचीत के दौरान यह वाक्य मैं बोली थी। इसका अर्थ बहुत व्यापक है आप जिस तरह चाहे समझ सकते हैं बात तो आँधी, तूफान को खुदा मानने से शुरू होकर अक्षर ज्ञान तक आती है। आसमानी किताबें और इंसानी अनुभवों की अपनी उपलब्धियाँ अब आमने-सामने खड़ी हैं।

प्रश्न : विश्व परिदृश्य जो इस समय है उस पर कुछ कहेंगी?

उत्तर : पहले सोवियत लैण्ड और अमेरिका सुपर पावर थे। कोल्ड वार का लम्बा सिलसिला रहा। अब धर्म और सियासत की खुली टकराहटें हैं जिसमें सबसे तेज आवाज की गूँज मिडिल ईस्ट और अमेरिका के बीच की है जिसका बुनियादी कारण तो छोटे देशों के स्रोतों का दोहन है और कब्जा है। जो भी छोटे राष्ट्र अमेरिका के बमबारी से तबाह हुए हैं उनका सौन्दर्य भौगोलिक रूप से एवं मनुष्य के अन्दर के तत्वों को बिगाड़ने वाला साबित हुआ। अफ्रीका और मध्य पूर्वी देशों में शोषण वाले का हथ्र बुरा होता है। सीरिया में इराक की बर्बादी देखी है और वह सारी विषमताओं के बाद सत्ता में डटे हैं। जो लोग इन इलाकों में जा चुके हैं और अब गए हैं उनके सामने कठोर यथार्थ की वह रील खुली है जो दूर से बैठा आदमी नहीं जान सकता है। डिमाक्रेसी की जगह आतंकवाद और जड़ता कहाँ से आकर इन जगहों पर छा गई?

संपर्क:

नासिरा शर्मा

डी ३७/७५७, छतरपुर हिल्स,
नियर दिल्ली जल बोर्ड, नई दिल्ली-११००७४
मो. ९८११११९४८९

मुहम्मद हारून रशीद खान

मोहल्ला- खजुरिया, पो. पीरनगर,
जनपद-गाजीपुर, पिन-२३३००१ (उ.प्र.),
मो. ९८८९४५३४९१

तेज़ ओरादा कोरिशगुन्वा

विनोद साव

‘इस देश में अस्सी प्रतिशत से अधिक आबादी सुन्नी मुसलमानों की है पर यह इस्लामिक देश नहीं है और यहाँ न कोई शरिया कानून लागू है, न ही इसकी भाषा अरबी-फ़ारसी है। इसकी भाषा उज़्बेकि है.. दूसरी भाषा रूसी और थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी है. यह पूरी तरह से एक लोकतांत्रिक और संवैधानिक देश है.. इसका आधिकारिक नाम ‘रिपब्लिक ऑफ़ उज़्बेकिस्तान है..’ उसने रात बारह बजे ही माइक पर अंग्रेज़ी में एनाउंस कर दिया था जिसे सुनने वाले थे सत्रह भारतीय जो एक महादेश के अलग अलग हिस्सों से यहाँ तफरीह के लिए आए थे। बस एक गुलज़ार इलाके में पहुँच गई थी जहाँ रंगीन रोशनियों से युक्त झालरें सड़क पर ऐसे लटक रही थीं जैसे कोई इन्द्रधनुषी छटा बिखेर रही हों उनके सम्मान में जो किसी एन्ड्रिक भोग-लिप्सा के जाल में फंसे चले आ रहे थे और उस पल का बेसब्री से इंतज़ार कर रहे थे। उज़्बेकिस्तान एयरवेज़ की फ्लाइट दो घंटे लेट थी इसलिए बारह बज रहे थे। ताशकंद एयरपोर्ट से होटल उज़्बेकिस्तान पहुँचने से पहले ही बीच रास्ते पर ही डिनर-ड्रिक्स-डांस के लिए उतार दिए गए थे। एक ही छत के नीचे सारा सामान यानि श्री-इन-वन का एक मज़ेदार नमूना। यहाँ से होश-बेहोश जैसी भी हालत हो उसके बाद होटल उज़्बेकिस्तान में जाना होगा जहाँ पांच दिन और चार रातें होंगी। होटल के सामने मित्र देशों के झंडे फहराए गए हैं, उनमें सबसे पहले है - हमारा झंडा भारतीय तिरंगा।

उज़्बेकिस्तान को एक गरीब देश माना जाता है पर दिल्ली से उज़्बेकिस्तान एयरवेज़ की फ्लाइट हमारी रायपुर-दिल्ली इन्डिगो से दुगुनी बड़ी थी। इन्डिगो डेढ़-सौ सीटों वाली थी और यह साढ़े तीन सौ.. और वह भी खचाखच भरी हुई। मैंने बैग कैरिज में अपना बैग डालने के लिए हाथ ऊपर किया तो एक पतले मगर ऊँचे-से दिखने वाले उज़्बेक ने बैग को हाथोंहाथ ले लिया और उसे व्यवस्थित कर दिया था। मैंने कृतज्ञता से हाथ बढ़ाया तो उसने मेरा हाथ भी अपने हाथ में ले लिया था अपनी झुर्रियों के बीच हल्की मुस्कान में। मैंने पूछा ‘योर गुड नेम?’

‘एलिशेर’। यह समझ में आने वाला नाम था। इसे बोलने के बाद उसके झुर्रियों वाले चेहरे से थोड़ी शेरियत टपकी थी। विमान में भारत और उज़्बेकिस्तान दोनों ही देशों के यात्रियों की संख्या लगभग बराबर थी और एक दूसरे के बीच मिल-जुलकर बैठे हुए थे। फर्क था तो केवल व्यक्तित्व में हम भारतीय समृद्ध होते हुए भी देखने में सामान्य रंग और औसत कद काठी के होते हैं और पूरब-पश्चिम के मिले जुले फैशन व पहनाव-ओढ़ाव से लुटे पिट्टे से दिखते हैं जबकि उज़्बेकि गरीब होते हुए भी चकाचक गोरे और ज्यादातर भरे पूरे मांसल देह वाले हैं।

सियासती चालें अपने जनमानस को मंदी की ओर धकेल कर उनकी आर्थिक दशा को तो कमज़ोर कर सकती हैं पर प्रकृति से मिले उनके रूप वैभव को आसानी से कम नहीं कर सकतीं। जैसे हमारे देश में कश्मीर के लोग हैं वैसे ही खूबसूरत दिखते हैं उज्बेकिस्तानी। पर इस खूबसूरती के भीतर ज़िन्दादिली कम सन्नाटा अधिक है। शायद यह उनके देश की गिरी मुद्रा और साख के कारण है। शारीरिक सुन्दरता के साथ मिला आर्थिक अभाव एक जबरदस्त विरोधाभासी अंतरद्वंद है किसी भी व्यक्तित्व का। यह असंगत मेल एक भरे पूरे चेहरे को दयनीय बना देता है।

बदहाली और खूबसूरती की संगत से उठी दयनीयता एक दूसरे किस्म का खेल खेलने लगती है और ज़िन्दगी में अपने अलग रंग भरती है। सामने चार उज्बेक युवतियों का भड़कीला नृत्य चल रहा था डीजे की धुनों पर जिनमें हिन्दी, उज्बेकि और अंग्रेजी गीतों की बहार थी.. और ऐसे नृत्यों और दृश्यों पर फ़िदा होने के लिए हिन्दुस्तानी सारी दुनियाँ में इन दिनों नाम कमा रहे हैं। रंगून से होते हुए बैंकाक और अब ताशकंद तक उनकी नज़र पड़ी है और उनके हुस्न पर आँखें गड़ी है। वे नाचती हुई हर टेबल पर आ जाती हैं। उनके साथ फिर लोग डांसिंग फ्लोर पर चले जाते हैं और थिरकने लग जाते हैं। देह दीवाने भारतीय व चीनी पर्यटकों की संख्या सारी दुनियाँ में सबसे ज्यादा है। इस मामले में दोनों सचमुच 'हिन्दी चीनी भाई भाई' हैं।

इन नर्तकियों पर एक-एक हज़ार 'सोम' नज़राने में फेंके जा रहे हैं। जिसे उठाने के लिए एक आदमी मुकर्रर है जो एक घंटे चलने वाले इस शो में बस नोट (उज्बेकि मुद्रा में सोम) उठाने का काम ही करता है। डॉक्स और डिनर के पहले रोज रात को भिन्न स्थानों में यह रंगारंग कार्यक्रम चलता है दूर आइटनेररी में दिए अपनी इस शर्त के अनुसार 'ट्रान्सफर टू गेला डिनर विद वेज-नॉनवेज़ एंड फ्री फ्लो ऑफ़ वोदका एंड बियर।'।

नोट तो एक हज़ार सोम के हैं पर भारतीय मुद्रा में उनकी वैल्यू दस रुपये भी नहीं है। एक रुपये बराबर एक सौ तीस सोम। इस बुरी तरह गिरी हुई उज्बेकि मुद्रा ने वहां

भुगतान को बड़ा हास्यास्पद बना दिया है। मसलन एक कप चाय दो हज़ार सोम की मतलब पंद्रह रुपये की। टैक्सी वाला दस हज़ार सोम चार्ज करता है वह फकत सत्तर रुपये है। लौटते समय एक मॉल से मैंने बेटे के लिए शर्ट खरीदी तो उसका दाम एक लाख अस्सी हज़ार सोम बतलाया गया पर मुझे केवल चौदह सौ रुपये देने थे। किसी अच्छे रेस्तरां में चार आदमी बैठकर अच्छा खाना खा लें तो उसका बिल आ सकता है ढाई लाख सोम। पांच सौ सोम के एक सिक्के में एक चाकलेट आ जाए तो बहुत है और सौ दौ सौ सोम के सिक्के में कुछ भी नहीं। इनमें कुछ नहीं मिले तो ये मेरे संग देश आ गए।

जब हम होटल पहुंचे तब पैतीस मंजिला 'होटल उज्बेकिस्तान' के ग्यारहवीं मंजिल पर आधी रात हो गई थी। बाहर सिगरेट पीती हुई होटल स्टाफ की एक महिला ने पूछा था 'आर यू इंडियन.. आर यू इंटररेस्टेड?'

'कोरिश्गुन्चा.. फिर मिलेंगे' कहकर मैं होटल के अन्दर हो लिया था।

उज्बेकिस्तान एशिया के मध्य में स्थित एक ऐसा देश है जो अपने प्राचीन इतिहास, सुंदर वास्तुकला और विविध संस्कृति के लिए विश्व भर में जाना जाता है। भिन्न संस्कृति को देखने की ललक से इस बार हमने अपना डेस्टिनेशन चुना है ताशकंद समरकंद- ताकि सोवियत पैटर्न के साम्यवादी और रूसी संस्कृति के एक पुराने घटक देश उज्बेकिस्तान को उसकी आज की जद्दोजहद में देखा जा सके।

सिल्क कंट्री ग्रुप के गाइड शेरॉक्स ने कल रात जिन्हें ताशकंद एयरपोर्ट के बाहर समेटा था उन्हें चिमगन हिल्स ले जाने के लिए समेटना शुरू कर दिया था और दो वैगनों में उन्हें भर लिया था। यह ताशकंद से १२५ कि.मी. दूर है। चरवाक-चिमगन पहाड़ियों पर जाते हुए रास्ते में सूखे मेवों की दुकान मिली। यहां मेवे भारत से आधे दामों पर मिलते हैं। दुकानदारों के बीच बैठी चार साल की बच्ची के सामने काजू बादाम फीके पड़ रहे थे.. और कुछ उज्बेक मेहमानों के बीच दिखे दूल्हा-दुल्हन अपनी परम्परागत सफेद झीने वस्त्रों में। खूबसूरती तो है पर सन्नाटा पसरा है यहाँ की फिजा

और उनमें रहने वालों के बीच। इस पहाड़ी स्थान को गाइड शेरोक्स उज्बेकिस्तान का स्विजरलैंड कहते हैं पर यह स्विजरलैंड तब ही बन पाता होगा जब दिसम्बर जनवरी की कड़कती शीत में और बर्फबारी में इसकी पूरी पहाड़ियां बर्फ से ढंक जाती होंगी। अभी इसकी खाई खंदक ही दिख रही थी। जिसे हम खुली चेयर लिफ्ट पर हजार फीट ऊंची पहाड़ियों और उनकी घाटियों की ओर जाते हुए देख पा रहे थे। चेयर लिफ्ट किसी घर के आंगन में लगे झूले के समान थी। जैसे हम ऊंची पहाड़ियों में झूला झूल रहे हों। यह एक रोमांच भरा अनुभव था।

होटल उज्बेकिस्तान के कांमिलमेंटरी ब्रेकफास्ट में रसदार फलों, सलादों और सूखे मेवों की बहार थी। जब हम समरकंद गए थे तब वहां के गाइड ने बताया भी था कि 'समरकंद का मतलब है मीठे फलों का इलाका.. और आप लोग जिसे ताशकंद कहते हैं वह दरअसल 'ताशकेंत' है जिसका मतलब है 'पत्थरों का शहर'। हमने कश्मीरी दोस्तों के साथ लजीज ब्रेकफास्ट लिया और साथ ही उनकी मीठी जुबान कश्मीरी का भी, जब वे बोलते थे।

'बक-अप छत्तीसगढ़' तुम्हारा चीला भी उज्बेक नाश्तों में शुमार दिखा.. पर इसका नाम यहां 'पैन केक' है। यह हुबहू हमारे छत्तीसगढ़ में मिलने वाले घरेलू नाश्ता 'चीला' की तरह है जो चावल आटे से बनता है। आटे को घोलकर उसमें नमक डालकर हाथों से तवा में फैलाकर सेंकते हैं तब यह किसी क्रोशिया वर्क की तरह जालीदार बन पड़ता है। इसे ज्यादातर मिरचा-पताल की चटनी के साथ खाते हैं और यहाँ होटल में यह आलू-टमाटर की सब्जी के साथ उपलब्ध था। यह तमाम फ्रास्ट फूडों से जल्दी बनता है और ज्यादा स्वादिष्ट लगता है। वैसे भी छत्तीसगढ़ अपने सस्ते सादे और स्वादिष्ट आहारों के लिए जाना जाता है।

अगर उज्बेकिस्तान आर्थिक दृष्टि से सम्हल भी गया होता तो भी ताशकेंत में एक पत्थरी सन्नटा तो होता क्योंकि यह पत्थरों का शहर है। आसपास माइंस हैं और उससे उठी बारीक धूल से थोड़ा धुंधलाया हुआ शहर है। चिमगन-चरवाक से आते हुए गोर्की का कमज़ोर सा किसान और

किसानिन दिखे थे अपने मरियल से एक बैल के साथ। जैसे हमारे देश में दिख जाते हैं प्रेमचंद के बैल और किसान। रास्ते में एक गोर्की एन्क्लेव भी दिखा था।

उज्बेक के एक महान जनकवि 'अलीशिर नवाई' की आदमकद मूर्ति दिखाई दी। तमाम दुनियां को साहित्यकार विचारक देने वाले सोवियत संघ के घटक देशों में आज भी उनका महत्त्व कम नहीं हुआ है। आज भी यहां उनकी स्मृतियों को संजोये उनके नाम से प्रदेश, शहर और हवाई अड्डों के नाम रखे जाते हैं। जगह जगह उनके नाम पर बैले थियेटर और ओपेरा कहीं भी दिख जाते हैं। ये अलिशिर नवाई के नाम से ज्यादा रखे गए हैं। हमारे कबीर के समय में यहां जन्मे कवि नवाई न केवल एक बड़े कवि थे बल्कि वे राजनेता, दार्शनिक, भाषाविद् और चित्रकार भी थे।

ताशकंद अपने देश और प्रान्त दोनों की राजधानी है अब की हमारी दिल्ली जैसे। पहले यह सोवियत संघ का एक प्रान्त था पर १९९१ से एक अलग स्वतंत्र गणराज्य है और अलग हो जाने के कारण अपनी आत्मनिर्भरता के लिए संघर्षरत है। हम भिलाई में सोवियत संघ के सहयोग से खड़े इस्पात उद्योग के कार्मिक रहे हैं, ताशकंद घूमते समय भी इसके अनेक चौक-चौराहे, सड़कें और भवन निर्माण कला हमें अपनी भिलाई की याद दिला रहे हैं जिनके निर्माण व नगरन्यास में सोवियत विशेषज्ञों का हाथ रहा है। विशेषकर सेक्टर-६ भिलाई की तीन मंजिली इमारतों का शिल्प वैसा ही है जैसा ताशकंद की अनेक कालोनियों में दिख रहा है। भिलाई के लोग आज भी इनसे जुड़ाव रखते हैं और सोवियत संघ के बिछुड़े प्रान्त भी हमसे अपनापा रखते हैं।

हमारी ओर देखकर वे पूछ बैठते हैं 'इंदिया'? फिर नमस्ते नमस्ते.. बाज़ार में अभिवादन के साथ अपने सीने में हाथ रखकर झुककर राजकपूर बन जाते हैं 'आवारा हूँ.. या गर्दिश में हूँ आसमान का तारा हूँ।' जैसे राजकपूर-शैलेन्द्र-शंकर जयकिशन ने छः-सात दशक पहले उनकी किस्मत की लकीर खींच दी हो 'गर्दिश में हूँ आसमान का तारा हूँ।' सोवियत संघ जो कभी आसमान का तारा था विश्व की अजेय महाशक्ति, आज उसके चौदह घटकों में से अधिकांश के

सितारे गर्दिश में हैं। फेसबुक में एक किसी सोवियत घटक के राष्ट्रपति का ऑर्केस्ट्रा में 'आवारा हूँ...' गाते हुए गाना भी काफ़ी वायरल हुआ था। विदेश मंत्री सुषमा स्वराज तीन देशों- कजाकिस्तान, किर्गिस्तान और उजबेकिस्तान की यात्रा पर आईं तब उजबेकिस्तान में उनकी मुलाकात एक महिला से हुई जो बिल्कुल देसी अंदाज में राज कपूर की फिल्म 'श्री ४२०' का गाना 'इचक दाना बीचक दाना' गाती नजर आ रही थीं। हमारी वैन का ड्राइवर रुस्तम भी अपने मूड में गा रहा था 'दोस्त दोस्त न रहा प्यार प्यार न रहा, ज़िन्दगी हमें तेरा ऐतबार न रहा।' भारी-भरकम 'रोबोस्ट' रूस्तम की नीली आँखें और उसके भूरे बाल फिल्म 'संगम' के राजकपूर की याद दिला रहे थे और चेहरे पर एक वाहन चालक की निम्न-मध्यम-वर्गीय गमी थी।

कभी नेहरु ने मास्को जाते समय अपने निज-सचिव ओ मत्थई को पूछा था 'तुम बता सकते हो कि सोवियत संघ में सबसे लोकप्रिय तीन भारतीय कौन हैं?'

मत्थई ने कहा कि 'यस सर.. नेहरु, इंदिरा और राजकपूर।'।

तब नेहरु जी ने कहा था 'नो...! राजकपूर, नर्गिस और नेहरु।'।

ताशकंद के होटल ले-ग्रैंड-प्लाज़ा के रेस्त्रां का नाम है 'राजकपूर रेस्टोरेन्ट।' इतना तो राजकपूर या किसी फ़िल्मी सितारे के नाम से हमारे देश में कुछ नहीं हुआ। इस मुद्दे को लेकर राजकपूर के बेटे ऋषिकपूर ने मुंबई में हल्ला बोल भी किया था। सोवियत देशों में पिछले छः सात दशकों से आज भी लोगों के दिलों में काबिज हैं राजकपूर गुनगुनाते हुए 'सर पर लाल टोपी रूसी फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी।'।

अब हम एक ऐसे राष्ट्रपति के समाधि-स्थल पर खड़े हैं- जिनका कार्यकाल नेहरु की तरह लम्बा था। हम उज़्बेकिस्तान के पहले राष्ट्रपति इस्लाम करीमोव की स्मृति में बने शहीद स्थल के पास खड़े हैं। यह नदी किनारे एक सुरम्य स्थान है। दिवंगत राष्ट्रपति इस्लाम करीमोव के २६ साल के शासन में कट्टर मुसलमानों को जेल भेजा गया था। प्रशासनिक कड़ाई उन्होंने ऐसे बरती की मतभेद होने पर अपनी बेटि को भी दो साल नज़रबंद रखा। लेकिन अब उज़्बेकिस्तान का

दावा है कि वो बदल रहा है। साल २०१६ में सत्ता में आने वाले उज़्बेकिस्तान के मौजूदा राष्ट्रपति शवक़त मिर्ज़ियोयेव ने वादा किया था कि देश में पहले से ज़्यादा धार्मिक स्वतंत्रता होगी। राष्ट्रपति शवक़त मिर्ज़ियोयेव हाल ही में ताशकंद में बने सेंटर ऑफ़ इस्लामिक सिविलाइजेशन के मुखिया भी हैं। उनका मानना है कि नास्तिक सोवियत संघ में रहने वाले उज़्बेक लोगों में देश से साम्यवाद के गायब होने के बाद ज्ञान की कमी हो गई थी। इस बयान में उनका इशारा १९९० के दशक में भ्रमित होकर तालिबान और अलकायदा से जुड़े संगठनों में शामिल हुए उज़्बेक नौजवानों की ओर था। नई सरकार के अधिकारियों को ये उम्मीद है कि पुरानी स्थानीय परंपराओं पर फिर ज़ोर देने से देश में धार्मिक कट्टरता के खिलाफ़ लड़ना आसान होगा।

शहीद स्थल के पास बह रही नदी के सुरम्य तट से लौटते समय एक उज़्बेक फिल्म की शूटिंग दिखाई दी जिसमें ईसाई विवाह जोड़ा पहने दो महिलाएँ थीं और एक पुरुष और उनके हाथ में सफ़ेद कबूतर थे। वे अमन का कोई पैगाम दे रहे थे या फिर कोई ऐड-फिल्म रही होगी जिसमें किसी टेक्सटाइल कम्पनी का विज्ञापन हो।

१९४२ में द्वितीय विश्व युद्ध में बीस लाख उज़्बेक सैनिक भेजे गए थे जिसमें से केवल दस लाख ही जीवित वापस हो सके थे। इस नृशंस घटना के लिए एक 'अन हैप्पी मदर' की मूर्ति बनाकर देशवासियों ने अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है। एक बूढ़ी माँ बैठी हुई है युद्ध में गए बेटे की वापसी की अविरल प्रतीक्षा करते हुए। यह रास्ता उज़्बेकिस्तान के संसद भवन को जाता है जिसमें तीन सौ सीनेटर बैठते हैं।

गाइड शेरोक्स बताता है कि 'अब चलिए आपको उज़्बेकिस्तान की सबसे बड़ी मस्जिद दिखाएं.. यह शहर के बीचों बीच स्थित हज़रत इमाम कॉम्प्लेक्स कहलाता है, यह सचमुच बड़ी मस्जिद है और उज़्बेक वासियों की तरह बेहद खूबसूरत भी। ऐसी मस्जिद जिसके बाहर खूब बड़ा पार्किंग स्थल हो, सुन्दर बगीचा हो, इसके विशाल प्रांगण के अतिरिक्त सज्दे के लिए विशाल सभागार है.. और जहाँ भारी संख्या में आवाजाही के बाद भी एक रूहानी सुकून मिलता हो।

मस्जिद से निकलते समय एक नौजवान दंपति दिखे। बीवी बुर्कानशीं थीं पर दुबई की तरह ढंका हुआ नहीं उज्बेकिस्तान की तरह खुला हुआ था। मैंने उन्हें 'सालोम' (सलाम) किया तो शौहर ने एक पैर मोड़कर और अपना दाहिना हाथ अपनी छाती की बांगी ओर रखकर झुकते हुए कहा 'सलाम आलेकुम।' बीवी साहिबा ने हमें नमस्ते कहा। मैंने उनका नाम पूछा तो शौहर का नाम 'सूफियन' और बीवी ने कहा 'गुलनारा।' उन्होंने मेरा मोबाइल मांगकर मेरी तस्वीर खींच कर जैसे मेरा सम्मान किया हो, मोबाइल वापस करते हुए फिर सौजन्य वश कहा 'तेज़ ओरादा कोरिशगुन्वा' मतलब ज़ल्दी ही फिर मिलेंगे। उज्बेक संस्कृति के अनुसार अभिवादन के लिए हाथ मिलाने की प्रथा पुरुषों तक ही सीमित है।

उज्बेक भाषा के बहुत से शब्द उर्दू-हिन्दी से मिलते-जुलते से लगते हैं। सालोम (सलाम), ज़ानोब (जनाब), रहमत (धन्यवाद), दोरीखोना (दवाखाना)। मुसलमान देश होते हुए भी स्त्री-स्वातंत्र्य इतना है कि पहनाव-ओढ़ाव में कोई बंदिश नहीं है। लिंग-अनुपात अच्छा है। लड़कियों की भी ऊँची तालीम है इसलिए बुरका प्रथा अमूमन दिखाई नहीं देती। ज्यादातर जवान लड़कियां जींस और पुल-ओवर के भीतर फ़िट हैं। अपने ऊँचे भरे-पूरे देह में वे फिट और तंदुरुस्त लगती हैं पर फैशन परस्त लड़कियों की तरह वाचाल नहीं हैं शांत प्रकृति की हैं। कम बोलने वाली उज्बेक लड़की बातचीत के बाद बिदा होते हुए कहीं कोरिशगुन्वा कह दे तो यह खिलते हुए फूल की पंखुड़ी-सा अहसास करा जाता है 'कोरिशगुन्वा.. यानि फिर मिलेंगे।'

ताशकंद को भारतीयों ने तब अधिक जाना जब भारत के दूसरे प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री वहां दिवंगत हुए। भारत-पाक युद्ध-विराम और शांति-समझौते की बैठक के लिए मध्यस्थता १९६६ में तашकंद ने की थी और समझौते के लिए वहां गए शास्त्री जी हमेशा के लिए रह गए वे जीवित अपने देश वापस नहीं आ सके थे। इस घटना ने शास्त्री जी और तашकंद दोनों को हर भारतीय के दिल में अमर कर दिया है। यात्रा की एक सुबह हमें गाइड ने सबसे पहले शास्त्री जी की मूर्ति के दर्शन करवाए। हम सबने टूरिस्ट बस से नीचे

उतरकर अपने श्रद्धा-सुमन वहां व्यक्त किए थे। थोड़ी देर में हमारी बस उनके नाम को समर्पित सड़क शास्त्री-स्ट्रीट में दौड़ने लगी थी। तашकंद में किसी भी टैक्सी वाले को शास्त्री चौराहा या मोन्यूमेंट बोलकर भी यहाँ पहुँचा जा सकता है। इसके पास ही एक जर्मन चर्च है। तашकंद पर बनी फिल्म 'ताशकंद फाइल' मैंने दुर्ग में देखी थी। यह शास्त्री जी की मृत्यु की जानकारी हासिल करने वाली छानबीन समिति की बहस पर आधारित फिल्म है जो किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाई थी।

यहां से हम तашकंद स्टेशन पहुँच गए थे। गाइड शेरॉक्स नहीं दिखा मतलब शास्त्री दर्शन करवा कर वह निकल चला था हमें अपने सहायक फ्रेंड के भरोसे छोड़कर। उसका नाम फ्रेंड था चाहे किसी का मित्र हो या ना हो। उसने बताया कि 'उज्बेक पुरुषों के लिए फ्रेंड भी एक नाम है..' और वह था। जब हमने उससे कुछ पूछना चाहा तो उसने मुंडी हिलाते हुए मासूमियत से कह दिया 'नो इंग्लिश नो इन्दी.. ओनली उज्बेक' पर इसके बाद भी वह हम सबका फ्रेंड था और वह हमें समरकंद जाने के लिए बुलेट एक्सप्रेस में चढ़ा देगा जहाँ दूसरा गाइड उतार लेगा। ग्रुप के एक सदस्य ने कहा 'ये लड़का उज्बेक है कि उजबक है!'

यह पहली बार था कि ट्रेन में बैठते समय हमें रेलवे अधिकारी को अपना पासपोर्ट दिखाना था क्योंकि हम यहाँ विदेशी थे। हमने चढ़ने से पहले एक नज़र ट्रेन के इंजन पर डाली तो वह सामने से नोकदार था और उस पर लिखा था 'अफ्रोसियब'। यह तकनीकी दृष्टि से बुलेट ट्रेन तो नहीं पर ब्राण्ड अफ्रोसियब हाई-स्पीड ट्रेन है। सुबह के आठ बजे थे। हमने स्थान ग्रहण कर लिया था और ट्रेन चालू हो गई थी तीन सौ चौवालिस किलोमीटर की दूरी को तय करने के लिए। ट्रेन की रफ़्तार बढ़ती गई डिब्बे के भीतर लगे संकेतक में दिखता गया तब अधिकतम गति दो सौ पचास किलोमीटर प्रति घंटे की रफ़्तार दर्ज हुई थी। मात्र दो घंटे में इसने साढ़े तीन सौ किलोमीटर की दूरी पूरी कर ली थी। ट्रेन में नाश्ते के साथ कॉफी पेंट्रीकार से आ गई थी। पेंट्रीकार सहायक भी इतना चमकदार और हसीन दिख रहा था मानों वह भी पेंट्री से तैयार तरोताजा निकला हो। यह थोड़ी रोमांचक यात्रा

लगी रास्ते में कोई दूसरी ट्रेनें दिखाई नहीं दी। लगा कि कम ट्रेनें चलती हैं। सड़कें, पटरियों और छोटे स्टेशनों पर सन्नाटा पसरा हुआ था।

ट्रेन में बैठे एक महाशय कोबे ने अपना टिफिन (झिल्लियों में बंधा बन यानि गोल डबल रोटी) निकाल लिया था। खाना शुरू करने से पहले बड़ी गर्मजोशी के साथ हमें दिया था तब हमने भी अपने पास रखे कुछ घर से लाए व्यंजन उन्हें दिए थे। वे ब्रेड को सॉफ्ट ड्रिक के साथ सिप कर-कर के निगलते जा रहे थे। उसकी बगल में वहां पढ़ने वाला एक नौजवान केरेलियन क्रिश्चियन लोय बैठा हुआ था जो कोबे महाशय की उज्बेक सुनकर हमें हिंदी में बताता था। कोबे ने हँसते हुए मज़ेदार बात बताई कि 'इस ब्रेड का नाम लेपिओशका है..इसे रखने की एक प्रथा है कि इसे कभी भी उल्टा करके नहीं रखा जाता और न ही इसे ज़मीन पर रखा जाता है चाहे यह किसी बैग के अंदर ही क्यों न हो। ऐसी मान्यता है कि जो इसे उल्टा रखेगा उसकी किस्मत में दुख भरे दिन आ जाएंगे।' हमने देखा कि बचे हुए एक लेपिओशका ब्रेड को उसने फिर से झिल्ली में डालकर उसे सीधा रखा और बुरे दिनों से अपने को बचा लिया। ताशकेंत के फुटपाथी चौस बाज़ार इलाके में ये ब्रेड भारी मात्रा में बिक रहे थे। आज भी ब्रेड सहित खाने के सामान यहाँ बाज़ारों में सस्ते में उपलब्ध हैं और आज तो यह और भी ज़रूरी हो गया है।

समरकंद स्टेशन में ट्रेन रुकी। सुबह दस बजे भी हवा में ठंडक थी और हमने अपने स्वेटर बैग से निकाल लिए थे। यह अजूबा लगा कि डिब्बे से उतरते ही टी.टी. आपस में मिलकर अपनी सिगरेटें सुलगा रहे थे जबकि भारत में सरकारी सार्वजनिक स्थलों में धूम्रपान नियमतः प्रतिबंधित हो चुका है। उज्बेकिस्तान में सिगरेट पीने की यह दिलेरी कहीं भी दिख जाती है। स्त्रियाँ भी धड़ल्ले से धूम्रपान करती हैं। कई बार ऐसे परिवार भी सड़क पर चलते दिख जाते हैं जिसमें पति पत्नी दोनों सिगरेट पी रहे होते हैं और कभी कभी पति महाशय अपने बच्चों के हाथ पकड़कर बिना सिगरेट पीये आगे चल रहे हैं और पीछे पत्नी सिगरेट के छल्ले उड़ाती हुई चल रही है। यह यूरोपीय प्रभाव है। ऐसा मैंने

एशिया के देशों में नहीं देखा सिवाय एयरपोर्ट स्थित स्मोकिंग जोन के। उज्बेकिस्तान यूरोप में नहीं पर पुराना सोवियत संघ यूरोप और एशिया दोनों में फैला हुआ है इसलिए यूरेशिया है.. और आज भी उसका प्रभाव है, अन्यथा दुर्बई में तो पुरुष भी खुले आम सिगरेट नहीं पी सकता और स्त्री कहीं पी गई तो उसे कहाँ लटका दिया जाएगा कुछ कहा नहीं जा सकता।

समरकंद स्टेशन भव्य है और इसके सुरक्षा अधिकारी स्कॉटलैंड यार्ड के अधिकारियों की तरह हाइटेक दिखते हैं। 'माय नेम इज सरदार बट नॉट लाइक योर इंडियन सरदार।' एक गोरे मासूम से चेहरे ने कहा तब हमें अपने ग्रुप लीडर सरदार की याद आई जो दिल्ली से आया है पर चार दिनों से ताशकंद में एक उज्बेक छोकरी को लिए घूम रहा है और उसी चक्कर में वह समरकंद नहीं आया। मासूम लड़के ने अंग्रेजी में बोलना शुरू किया कि 'मेरा नाम सरदार है। मैं तुर्की हूँ और यहाँ आप लोगों का गाइड रहूँगा.. चलिए आइए सैर सपाटा शुरू करते हैं।' फिर उसने समरकंद और तैमूर लंग का इतिहास बताना शुरू कर दिया था। ताशकंद का सारा सन्नाटा यहाँ गायब था। यहाँ शहर समरकंद, उसका इतिहास और उसका वर्तमान सब कुछ हरा-भरा था वह भी शीतल आनंद-दायक मौसम लिए हुए। यहाँ लोग और भी ज्यादा हसीन थे। मीलों दूर तक शहर दिख पड़ता है। यह दुर्लभ दृश्य सर्वथा एक नया अनुभव रहा जो बहुमंजिल इमारतों के न होने या फिर इसके ऊंचाई पर बसा होने के कारण हो। यह ऐसे उत्तल दर्पण की तरह चमक रहा था जिसकी परावर्तक सतह में बाहर की ओर उभार दिखाई देता है।

मध्यकाल में चीन के साथ रेशम व्यापार से जुड़े होने के कारण यह रेशम मार्ग पर स्थित शहर कहलाता है और हमारे सामने किसी लज्जतदार रेशमी बिरयानी की तरह परोसा हुआ दिख रहा है एक रेशमी एहसास के साथ। हमारे कोलकाता की तरह यहाँ भी सड़कों पर ट्राम दौड़ रही थी। लेकिन यह मेट्रो नहीं बस छः लाख की आबादी वाला मध्यम शहर है हमारे उदयपुर मैसूर की तरह खुला और हवादार। फिर भी समरकंद के मुकाबले अभी भारत के पास कोई शहर शायद नहीं है। इसके किसी भी चौराहे पर बैठकर घंटों

गपिया लो ऐसा खुशनुमा दोस्ताना माहौल और हम एक ऐसे चौराहे पर आ ही गए थे जहाँ 'शहंशाह तैमूर लंग (उज्बेक में तैमूर लेन) की विशालकाय मूर्ति थी जिनके वंशज बाबर से हिंदुस्तान में मुगल वंश की स्थापना हुई थी। मुझे यह सोचकर हंसी आ गई कि 'बाबर समरकंद के रास्ते हिंदुस्तान आया था और हम ताशकंद के रास्ते समरकंद पहुंच गए थे।'

२००१ में २७५० साल पुराने इस शहर को विश्व धरोहर स्थलों की सूची में शामिल किया। इसका उस सूची में नाम है 'समरकन्द - संस्कृति का चौराहा'। इसके चौराहे गवाह हैं यहाँ भिन्न संस्कृतियों की स्थापना और आधिपत्य के लिए लड़ते योद्धाओं और उनकी आकाँक्षाओं के। कभी सम्राट ने इस नगर का विनाश किया था। इस नगर की रक्षा के लिए लाखों जनों ने मुकाबला किया। चौदहवीं सदी में आए तैमूर ने इसे अपना राज्य बनाया। कहते हैं बाबर का मातृपक्ष चंगेज वंश से जुड़ा था और पितृपक्ष तैमूर से। इसलिए बाबर की दोनों भुजाएँ हरदम युद्ध के लिए फड़कती रहती थीं। बाबर से पहले भी एक सुल्तान थी रज़िया। तुर्की मूल की रज़िया को अन्य मुस्लिम राजकुमारियों की तरह सेना का नेतृत्व तथा प्रशासन कार्यों का अभ्यास कराया गया ताकि ज़रूरत पड़ने पर उसका इस्तेमाल किया जा सके। रज़िया सुल्ताना मुस्लिम एवं देश की पहली महिला शासक थीं।

हम ऊँची और उपजाऊ घाटी में बसे इस शहर को मुग्ध होकर देख रहे हैं। उन व्यवसायियों को देख रहे हैं जो बागवानी, धातु व मिट्टी के बर्तनों के कारोबार, रेशम उद्योग, गेहूँ चावल और घोड़ा व खच्चर पालन करने की आवाजाही में लगे हैं।

जब फेसबुक पर मैं इनकी धरोहरों और अमिट निशानों के फोटोग्राफ्स शेयर कर रहा था तब एक किसी मिश्राजी की अंग्रेजी में टिप्पणी आई थी कि 'इतिहासकार कालिदास नाग के अनुसार आप जिस धरती पर खड़े हुए हैं वहाँ आर्यों का निवास था और वहाँ वेद लिखे गए थे। चूँकि यह देश कभी अंग्रेजों का गुलाम नहीं रहा इसलिए भी उनका उत्कृष्ट नागरिक बोध बचा हुआ है। ऐसे में आप जैसे भले

मानुस वहाँ पहुँच जाते हैं तब उनके हृदय में प्रेम और सहृदयता का गुबार फूटने लगता है।'

भारत की तरह उज्बेकिस्तान में भी फूलों की सजावट में चिरपरिचित गेंदा ही छाया हुआ है। मौसम सुहाना लग रहा था। मोबाइल पर रिंगटोन बजा था। बेटे सिद्धार्थ ने वीडियो कॉलिंग की थी और मुझे देखते ही कहा कि 'आपका चेहरा भी उज्बेकियों जैसा दिख रहा है।' मासूम गाइड कहता है कि 'अगर आपने समरकंद आकर रेगिस्तान स्क्वेयर नहीं देखा तो समझो किसी ने आगरा जाकर ताजमहल नहीं देखा'। हमारे सामने विशालकाय इमारत तीन खण्डों में खड़ी है, यह शहर के बीच में है। जहाँ पर विभिन्न रंगों के पत्थरों और रेतों से निर्मित कलात्मक इमारतें खड़ी हैं। ये मदरसे हैं जो अरबी शिक्षा के बड़े सुविधा संपन्न और वैज्ञानिक शोध परक केंद्र थे। ये तीनों खंड पंद्रहवी, सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में अलग-अलग शाहों द्वारा बनवाए गए थे। ताजमहल से तुलना इसलिए हुई क्योंकि ताजमहल की अगल-बगल में मस्जिदें हैं वैसे ही यहाँ इमारत का एक खंड बीच में है और दो खंड उनकी दोनों बाजुओं में हैं। यह ताजमहल परिसर से भी अधिक भव्य और खूबसूरत है, पर भारत के ताजमहल में सुरक्षा व्यवस्था कड़ी है जबकि यहाँ यह बिना सीमा-दीवारों के सुरक्षित है। मुस्लिम बहुल देश होने के बाद भी उज्बेकिस्तान में आतंकवाद की दर लगभग शून्य है।

इन तुर्कियों और उनके वंशज मुगलों को पत्थरों के अलग-अलग रंगों में बहुत रुचि थी। शाहजहाँ ने सफ़ेद पत्थरों, अकबर-औरंगजेब ने लाल पत्थरों और इनके पूर्वज तैमूर ने नीले पत्थरों से अपने-अपने समय में बड़े दर्शनीय भवनों के निर्माण करवाए। इन तुर्कों की शारीरिक त्वचा झक्क सफ़ेद थी। इनके देह भी संगमरमर से तराशे जान पड़ते थे। रेगिस्तान स्क्वेयर के पास खड़े-खड़े मुझे १९८२ में बम्बई की मिनर्वा में देखी 'अलीबाबा और चालीस चोर' फिल्म की याद हो आई। इसे सेवेंटी एम.एम. और स्टीरिओ-फ़ोनिक-साउंडट्रैक में देखा था। उसकी शूटिंग यहीं उज्बेकिस्तान के मरुस्थल में हुई थी। यह धर्मेन्द्र-हेमा-ज़ीनत की फिल्म थी। बाद में इसके रूसी भाषा में डब किए संस्करण

को भिलाई में कार्यरत रूसी भाइयों के साथ मैंने भी देख लिया था। उसमें भाषा रूसी थी पर फिल्म के गाने मूल हिन्दी में ही थे। इसमें रेगिस्तान के एक नखलिस्तान बुखारा शहर को दिखाया था जिसके आज हम करीब खड़े हैं।

बुखारा जाना तो नहीं हुआ यह समरकंद से दो सौ किलोमीटर दूर है। कहते हैं बुखारा मकबरो की कॉलोनी है और वहाँ दो हज़ार मकबरे हैं। उज़्बेकिस्तान में इस्लाम १२०० साल पहले आया लेकिन लोगों ने अपनी परंपराओं पर धर्म को हावी नहीं होने दिया। एक धार्मिक स्कूल के छात्र रहे खुर्शीद यूलदोशेव कहते हैं 'मध्य एशियाई इस्लाम काफी लचीला है। ये समावेशी है और स्थानीय परंपराओं के साथ मिश्रित है। यही कारण है कि यहाँ धर्म की व्याख्या अधिक सहिष्णुता से की गई है। मकबरो का दौरा करने की परंपरा एक सौम्य परंपरा है। ये हमारी संस्कृति का हिस्सा है। इसका राजनीतिक इस्लाम से कोई लेना-देना नहीं है, पर अब सरकार के ऊपर कट्टरपंथियों का दबाव बन सकता है कि इसे तीर्थ-स्थल में तब्दील कर इसके आर्थिक स्रोत तैयार किए जाएं। इसे दूसरा मक्का-मदीना बनाया जाए।' दुनिया के दूसरे सबसे बड़े कपास निर्यातक इस देश की अर्थव्यवस्था २०१५ में आठ प्रतिशत तक बढ़ी थी, लेकिन फिर भी यह देश एशिया में सबसे कम विकसित और सबसे गरीब देशों में से एक है। मानों इसकी अर्थ व्यवस्था भी रुई की फ़ोहों की तरह उड़ी जा रही है।

हमारा गाइड सरदार कहता है कि 'चलिए.. अब हम महलों से बाहर निकलकर मोहल्ले की ओर चलें। हिन्दी की तरह उज्बेक में भी मोहल्ले को मोहल्ला ही कहते हैं।' हमारी ट्रेवल कंपनी सिल्क कंट्री ग्रुप ने एक अच्छा प्रयोग यह किया था कि हमारा लंच एक मोहल्ले के किसी निम्न-मध्यमवर्गीय परिवार के घर में रखा था। मोहल्ला बिलकुल भारतीय मोहल्ले जैसा ही गोबर लिपे मिट्टी के मकानों जैसा दिख रहा था, इनके दरवाजे लकड़ी की पटनी से बने थे। इनमें भारतीय घरों की तरह ऊपर नहीं दरवाजे के ठीक बीचों बीच लोहे के सांकल कुण्डी लगे हुए थे। मोहल्ले

की गलियां संकरी थीं और इनमें चलने वाले इक्के दुक्के ही दीख पड़ते थे। हम जिस घर में जेवन के लिए पहुंचे उस घर के एक नौजवान ने हम सत्रह लोगों की उसी जोश-खरोश से अगुवानी की जैसे बारातियों के जेवनासे में किए जाते हैं। मकान के अहाते तीन ओर फैले हुए थे और एक ओर वह दरवाजा था जिससे हम लोग घुसे थे। बीच आंगन में फूल-पौधे लगे हुए थे जिनकी नार ऊपर चढ़ी हुई थीं। लकड़ी के सामान्य टेबल कुर्सियां अहातों में लगी हुई थीं जिन पर हम हाथ धोकर बैठ गए और अपने भोजन की प्रतीक्षा करने लगे थे। भीतर से सास-बहु चुप चुप झांक रही थीं और एक डेढ़-दो साल का बच्चा उनकी गोद में चढ़ उतर रहा था। महिलाएँ नौजवान के हाथों में खाना निकालकर देतीं थीं जिन्हें नौजवान हमारी टेबल पर छोड़ जाता था। वे भारतीय मोहल्लों की स्त्रियों की तरह हमें परोसने बाहर नहीं निकलीं। यह भी संभव हो कि उन्होंने हमारे भारतीय होने का ख्याल रखा हो कि इनके तरफ ऐसा चलन में नहीं है।

टेबल पर समरकंद के स्थानीय रसदार मीठे फलों की बहार थी। भरपूर सलाद व नमकीन काजू थे। लाल के साथ सफ़ेद कलंदर पहली बार खाने को मिले। उन्होंने हमारे लिए गुज़िया, खाजा-बीड़िया भी बनाकर रखे थे। गरमा गरम पुलाव और तले व शोरबे भरे चिकन अपनी खुशबुओं से हमारी भूख बढ़ा रहे थे। हम सब उन पर टूट पड़े थे। पुलाव को वे पालोव कहते हैं।

निकलते समय मैंने महिलाओं के पास जाकर उन्हें सलाम किया तो इसका जवाब उन्होंने नमस्ते में दिया। बच्चा देखकर किलक उठा तो मैंने उन सबका नाम पूछा। सास-बहू का नाम नाज़ और दिलरागो निकला और बच्चे का नाम अजीज़। मैंने बेटे की मुंह दिखाई में पांच हज़ार सोम के नोट उन्हें दिए जो भारतीय मुद्रा में फकत पचास रुपये थे। वे एक झेंप भरी मुस्कान से मुझे देख रहे थे।

निकलते समय मैंने उनकी ही बोली में उनसे कहा था 'तेज़ ओरादा कोरिशगुन्वा' - ज़ल्दी ही फिर मिलेंगे।

संपर्क: मुक्तनगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़), पिन- ४९१००१, मो. ९००९८८४०१४

गज़ब की पठनीयता : मैंने जो जिया

धीरेंद्र अस्थाना

उद्भ्रांत मेरे बहुत पुराने, मेरी युवावस्था के दिनों के दोस्त हैं। उनके साथ मेरा रिश्ता पहले प्यार जैसी गर्माहट लेकिन झुंझलाहट या कहूँ पवित्र खीझ का है। मैं अंतर्मुखी और चुप्पा हूँ। उद्भ्रांत आत्ममुग्ध और बहिर्मुखी हैं। बता दूँ कि मैं आत्ममुग्ध होने और बहिर्मुखी होने को चरित्र का नकारात्मक पहलू नहीं मानता। प्रवक्ता, नेता, अभिनेता, स्वभावतः और अनिवार्यतः बहिर्मुखी होते हैं और इसीलिए जीवन में असाधारण ऊँचाइयाँ हासिल कर पाते हैं। उनका जनसंपर्क भी विराट और व्यापक होता है। उद्भ्रांत का भी है। कवि-कथाकार-चिंतक अज्ञेय इस स्थिति के श्रेष्ठ प्रतीक हैं। लेकिन यह आत्ममुग्धता कहीं से भी और रत्तीभर भी नकारात्मक नहीं है। यह अपने श्रेष्ठ होने के भाव के भीतर से उपजी स्थिति है। यह एक प्रकार से अपनी ही प्रतिभा का स्वीकार है। मगर मुझे वो लोग भाते हैं जो बहुत कम बोलते हैं। अगर दिन के चौबीस घंटों का लेखा-जोखा किया जाए तो मैं अपनी पत्नी से एक घंटा और बच्चों से आधा घंटा ही बात कर पाता होऊँगा। उद्भ्रांत क्या हैं, यह उन लोगों को बताने की ज़रूरत नहीं है, जो उद्भ्रांत के साथ बैठकी करते हैं-जिनमें मैं भी शामिल हूँ। फिर भी उद्भ्रांत मेरे दोस्त क्यों हैं? मुझे चालीस बरस पहले के अपने संघर्ष के दिनों में लौटना होगा।

मैं पिता से झगड़ा करके घर से भाग गया था। तीन रात लखनऊ के फुटपाथ पर बिताकर मैं अपने दोस्त कौशल किशोर के घर पनाह लेने पहुँचा। वहाँ से मैं कानपुर गया, विशेष रूप से उद्भ्रांत से मिलने। तब उद्भ्रांत की ख्याति 'युवा' नामक एक गंभीर और विचारोत्तेजक प्रगतिशील पत्रिका निकालने के कारण थी। तब उद्भ्रांत एक प्रतिष्ठित संपादक थे और मैं एक संघर्षरत लेखक। अलावे, वह मुझसे पहले एक कथाकार, नवगीतकार और कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे। इस बात का उन्हें अहसास भी था और मैं स्वयं भी, उस समय कुछ विलक्षण किस्म की लिखी जा रही कहानियों को रचने वाले कथाकार उद्भ्रांत का सान्निध्य प्राप्त करने वहाँ गया था। मन में कहीं यह भी था कि उनके जैसा स्थापित कहानीकार कहीं मेरे जैसे नवोदित की उपेक्षा कर, दरवाज़े से ही न लौटा दे। लेकिन उद्भ्रांत ने मेरा बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया। दोस्ती के बीज वहाँ पड़े। उस पहली सघन मुलाकात का ही नतीज़ा है कि हम चाहे बरसों एक दूसरे से न मिलें और न ही बात करें, तो भी वह पहली वाली गरमाहट हर समय जीवंत बनी रहती है।

हाल ही में उनकी आत्मकथा का यह जो पहला भाग आया है, यह बीमारी के बाद पढ़ी गई मेरी पहली इतनी मोटी किताब है। इसे मैंने तीन रातों में मुसलसल पढ़ा। कहना होगा कि किताब में गजब की पठनीयता है। जिनके लिए लेखन गॉड गिफ्ट है, उन्हें छोड़ दें तो यह किताब बताती है कि लेखक बनना पहाड़ तोड़ने से कम दुष्कर नहीं है। लेखक का लेखकीय श्रम देखकर सचमुच कलेजा मुँह को आता जान पड़ता है। लेखक बनने की जिद और जुनून से कोई कैसे कठोर परिस्थितियों के बीच से होकर भी अपनी मंजिल पा लेता है इसका जीवंत प्रमाण यह पुस्तक है, जिसका पन्ना-पन्ना संघर्ष और यातना से भरा हुआ है। छोटी-सी उम्र में बड़े-बड़े लेखकों का संग-साथ जुटा लेना सबके लिए संभव नहीं होता है, वह भी उस दौर में जब हिंदी लेखक की हैसियत भी किसी स्टार से कम नहीं होती थी।

मैं उद्भ्रांत के बारे में जब-जब सोचता हूँ, मेरा यह अचरज बड़ा होता जाता है कि अपार अध्ययन, विराट और विविध अनुभवों के बावजूद उन्हें समकालीन तथा आधुनिक लेखन की मुख्यधारा के कवि-लेखक की बजाय पौराणिक और मिथकीय लेखन का रचनाकार क्यों माना जाता है? मेरे इस अचरज का समाधान इस आत्मकथा में भी नहीं मिला। जबकि हकीकत यह है कि वह 'बकरामंडी' जैसी जन-पक्षधर कविता लिख चुके हैं जो 'पहल' जैसी

प्रगतिशील पत्रिका में छप कर चर्चित हो चुकी है। आधुनिक युगबोध से संपन्न कई कविता संग्रह उनके छप चुके हैं। उनके 'ब्लैकहोल' नामक काव्य नाटक ने भी जबरदस्त प्रशंसा बटोरी थी। तो भी उनके काव्य का मिथकीय चेहरा ही बार-बार रेखांकित किया जाता है। उन्होंने कहानियाँ और कहानी समीक्षाएं भी लिखी हैं और पिछले दिनों उनका 'नक्सल' जैसा राजनीतिक उपन्यास भी छप कर चर्चित हो चुका है।

किताब में एक जगह लड़कियों को लेकर अश्लील टिप्पणी है, जिससे बचा जाना चाहिए था। किताब में विवरण और ब्यौरे बहुत ज्यादा हैं जो गंभीर पाठकों को खटक सकते हैं। फिर भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और बच्चन जी जैसे लब्ध-प्रतिष्ठित रचनाकारों के साथ उनकी मुलाकात के ब्यौरे दिलचस्प हैं। प्रेम और पारिवारिक प्रसंगों के कारण भी किताब रुचिकर हो गई है। नये लेखकों के लिए तो यह किताब साहित्य के पाठ जैसी बन पड़ी है। अब दूसरे भाग का इंतज़ार रहेगा, यही इसकी उपलब्धि है।

समीक्ष्य कृति : मैंने जो जिया (आत्मकथा)

लेखक : रमाकांत शर्मा 'उद्भ्रांत'

समीक्षक : धीरेन्द्र अस्थाना

प्रकाशक : अमन प्रकाशन, १०४/ए/८० सी, रामबाग, कानपुर

मूल्य : ३९५/- (पेपर बैक संस्करण) पृष्ठ : ३९२,

संपर्क:

'अनहद', बी-४६३, केन्द्रीय विहार, सेक्टर-५१,

नोएडा-२०१३०३ (उ.प्र.), मो. ९८१८८५४६७८

जीवन की स्वानुभूति : हा ! वसंत !

रणजीत कुमार सिन्हा

डॉ. पंकज साहा जी लंबे प्राध्यापकीय अनुभव को अपनी रचनाओं में समेटते हुए व्यंग्य की दुनिया में आये हैं। यह डॉ. साहा की चौथी पुस्तक है। अभी हाल में ही डॉ. साहा की पुस्तक 'हिंदी उपन्यास में किसान' बहुत ही चर्चित हुई है।

लघुकथा, कहानी, कविता, हाईकु, निबंध, आलोचना से होते हुए व्यंग्य पर कलम चलाते हुए साहा जी कबीर, भारतेन्दु, प्रेमचंद, परसाई एवं श्रीलाल शुक्ल की परम्परा को कायम रखते हुए अपने युग के प्रति ईमानदार समस्त व्यंग्यकारों को सादर समर्पित करते हैं- 'हा ! वसंत ! को।

जीवन और समाज की विसंगतियों का उद्घाटन और उसका परिष्कार करना व्यंग्यकार का लक्ष्य होता है। जिसमें डॉ. साहा सार्थक सिद्ध होते हैं।

साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ने में व्यंग्य की महती भूमिका है। वर्तमान समय में व्यंग्य एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित है। बहुत पहले हास्य-व्यंग्य को साहित्य के हाशिये पर ही रखा जाता था। व्यंग्य ही वह विधा है जिसने अपने समय एवं समाज की विसंगतियों, शोषणों, छद्मों का उद्घाटन करके एवं सच्चाईयों को प्रकट करने के लिए हिंदी के व्यंग्यकारों ने कटु प्रहारों एवं मधुर कटाक्षों द्वारा साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा है।

डॉ. साहा ने अपने व्यंग्य संग्रह में मध्य मार्ग को अपनाया है। यह मार्ग न तो पार्टी लाईन वाला है, न मठ के आगे सर झुकाने का। अपने जीवन के वसंत को पार करते हुए स्वानुभूति का चित्रण है। अपनी बात में डॉ. साहा लिखते हैं- “मेरा यह व्यंग्य संग्रह न गंभीर है न चटपटा है। मैंने बीच का रास्ता लिया है, जिस पर चलते हुए मैंने वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्य विसंगतियाँ, छद्मों पर कटाक्ष किया है। किसी व्यक्ति विशेष को आहत करने अथवा किसी संस्था पर प्रहार करने की मेरी बिल्कुल मंशा नहीं है। अनजाने में ऐसा हुआ हो, तो क्षमाप्रार्थी हूँ।”

इस पुस्तक पर अपना विचार प्रकट करते हुए प्रो. आलोक पुराणिक लिखते हैं- व्यंग्यकार की एक बहुत महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है- बौद्धिक तौर पर शीर्षासन करने की। “पंकज साहा इसी बौद्धिक शीर्षासन के तहत अपनी एक रचना में जो लिखते हैं, उसका आशय यह है कि वीर ही वसुंधरा को भोगते हैं, यह बात पुरानी है, अब नयी बात यह है कि जो वसुंधरा को भोग रहा है, वही वीर है।” बुद्धिजीवी की विसंगतियों पर डॉ. साहा जमकर प्रहार करते हैं।

संकलन के पहले लेख 'हा! वसंत! से शुरू करके आखिरी लेख तक पहुँचते हुए पंकज जी अपने आसपास की अनेकानेक विसंगतियाँ देखते और दिखाते हैं। इनमें अपने आसपास गायब होते वसंत की बात है, नकल करते विद्यार्थी का सौंदर्य दर्शन है, रेल अधिकारी की दोस्ती के सहारे बिना टिकट चलने के किस्से हैं और शब्द लीला भी। जूता-महिमा व्यंग्य में अलग आदमियों के अनुसार झगड़े के तरीके बताते हैं— “शरीफ आदमियों का झगड़ा होता है, तो दुआ सलाम बंद हो जाती है, घटिया आदमियों के झगड़े में जूते चलते हैं।”

व्यंग्यकार डॉ. सुरेश कांत जी डॉ. पंकज साहा की व्यंग्य दृष्टि पर विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि “साहित्य में गुटबाजी यों तो कब नहीं रही, पर जितनी अब है, पहले कभी नहीं थी, खासकर हिंदी व्यंग्य में। इसी का असर है कि बहुत से-ऐसे व्यंग्यकारों की ओर ध्यान नहीं जा पाता, या कहिए कि जाने नहीं दिया जाता, जो चुपचाप लिख रहे हैं और उन लेखकों से कहीं अच्छा लिख रहे हैं, जिनके नाम गुटाधिपति जप-जपकर आगे बढ़ते रहते हैं। इससे उन लेखकों का कोई खास लाभ नहीं होता, क्योंकि गुट में शामिल होने के बाद उनकी क्षमताओं का उपयोग रचनात्मक लेखन के बजाय विरोधियों के खिलाफ भड़ास निकालने भर में होने लगता है...। डॉ. साहा गुट से दूर रहकर सृजन करने वाले हैं।

रामनगीना मौर्य जी लिखते हैं— “जैसे केले के पात-पात में पात की बात कही जाती है, वैसे ही व्यंग्यकार भी बात-बात में बात निकाल लेता है। वह एक तीर से न जाने

कितने ही निशाने साध लेता है, बस्स-- समय और समाज पर नजर पारखी, पैनी और कोलंबसी होनी चाहिए। डॉ. पंकज साहा रचित 'हा! वसंत!' के अनमोल नगीनों यथा- सीनियर सिटीजन, शब्द-लीला, गरीब, हिंदी की विचित्रता, जूता-महिमा, कुलीनता-बोध, जैसी बहे बयार, डिजिटल इंडिया, मुद्दा संकट, किताब-चोरी, अंतरात्मा, घुसपैठिए, एक अदद पूछ की तलाश, आत्मामुक्त आदमी की आवश्यकता, गंभीर चिंतन, मजबूरन को नहीं दोष गुसाई, भाँति-भाँति के कवि, एटी प्लस आदि रचनाएँ पढ़ते हुए हम ऐसे ही अनुभवों से दो-चार होते हैं।”

कुल ८६ व्यंग्य हैं इस संग्रह में। अनेक विद्वानों के विचार भी हैं डॉ. साहा के व्यंग्य लेखन एवं भाषा-शैली पर। यथा- डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी, डॉ. सुरेशकांत, डॉ. कमलेश द्विवेदी, डॉ. राजीव कुमार रावत, रामनगीना मौर्य, डॉ. सी. भास्कर राव, डॉ. राजेश कुमार मांझी तथा अजयेंद्र त्रिवेदी। डॉ. पंकज साहा को बधाई जो कविता, कहानी, आलोचना से होते हुए व्यंग्य साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं।

समीक्ष्य कृति : हा! वसंत! (व्यंग्य पुस्तक)

लेखक : डॉ. पंकज साहा

समीक्षक : रणजीत कुमार सिन्हा

प्रकाशक : मानव प्रकाशन, १३१ चितरंजन एवेन्यू,
कोलकाता-७०००७३

प्रथम संस्करण : २०१९

मूल्य : ४५० रुपये मात्र/- (सजिल्द)

संपर्क : मिदनापुर कॉलेज (आटोनोमस), मिदनापुर, मो. ९४३४१५३५०१

‘विद्यार्थी मंच’ द्वारा आयोजित ‘मुक्तांचल’ के जुलाई-सितम्बर अंक का लोकार्पण समारोह

विगत ८ सितम्बर २०१९ को ‘विद्यार्थी मंच’ संस्था की ओर से साहित्यिक पत्रिका ‘मुक्तांचल’ के प्रकाशन पर्व के अवसर पर एक विचार गोष्ठी एवं काव्य पाठ का आयोजन किया गया। स्वागत भाषण संस्था की अध्यक्ष एवं पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा ने देते हुए कहा कि ‘मुक्तांचल’ का नियमित प्रकाशन लेखन की निरंतरता के कारण संभव हो पा रहा है। विषय प्रवर्तन करते हुए प्रो. मनीषा झा ने कहा कि समकालीन कविता वैविध्यपूर्ण और बहुआयामी है। कार्यक्रम की अध्यक्षता भारतीय भाषा परिषद के निदेशक प्रो. शंभुनाथ ने करते हुए कहा कि समकालीन कविता मनुष्यता और प्रतिरोध की संस्कृति की पहचान है। बतौर मुख्य अतिथि आलोचक रविभूषण ने कहा कि आज के समय में समकालीन कविता की प्रासंगिकता बढ़ गई है। समकालीन कविता ने हमें वैचारिक रूप से प्रभावित किया है। इस अवसर पर विद्यासागर विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष प्रो. दामोदर मिश्र ने कहा कि समकालीन कविता के केन्द्र में सामाजिक सरोकारों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता है। इस समय का काव्य शिल्प वैविध्यपूर्ण है। समकालीन कविता में अपने समय के बदलावों को पकड़ने की गहरी बेचैनी है। प्रो. विभा कुमारी ने कहा कि समकालीन कविता लोकधर्मी होने के साथ-साथ लोकतांत्रिक है और समकालीन कविता हिंदी कविता की परंपरा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस समय की कविताओं में समसामयिक विषयों को गंभीरता से शामिल किया गया है। डॉ. राजीव रावत ने कहा कि समकालीन कविता मानव विरोधी मूल्यों के बरक्स एक संघर्ष की परंपरा है। दूसरे सत्र में काली प्रसाद जायसवाल, शैलेंद्र शांत, रणजीत वर्मा, राज्यवर्द्धन, सेराज खान बातिश, यतीश कुमार, जीवन सिंह, कालिका प्रसाद, रीमा पांडेय, आरती सिंह, चंद्रिका प्रसाद पांडेय, अनुरागी, रमाकांत, आशुतोष सिंह, सरिता खोवाला आदि ने काव्यपाठ किया। इस आयोजन में सुशील पांडेय, विनोद यादव, पार्वती शॉ, गुड़िया राय, प्रियंका सिंह, विद्या रजक, सुलेखा कुमारी, कुसुम वर्मा आदि का विशेष सहयोग रहा। कार्यक्रम का सफल संचालन निशान्त और मधु सिंह ने किया। अंत में सर्वेश्वर की कविता का पाठ करते हुए विवेक लाल ने धन्यवाद ज्ञापन किया। **प्रस्तुति:** मधु सिंह, मो. 9883613002

कमल किशोर गोयनका की उज्बेकिस्तान की हिंदी यात्रा

उज्बेकिस्तान राजधानी ताशकंद स्थित भारत सरकार के लाल बहादुर शास्त्री भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक डॉ. चंद्रशेखर के निमंत्रण पर केंद्रीय हिंदी संस्थान (आगरा) के उपाध्यक्ष डॉ. कमल किशोर गोयनका २९ अक्टूबर से ३ नवंबर २०१९ तक यात्रा की। डॉ. गोयनका ने ताशकंद स्टेट इंस्टिट्यूट ऑफ ओरिएंटल स्टडीज में ‘प्रेमचंद प्रदर्शनी’ का उद्घाटन किया और प्रेमचंद, गांधी तथा हिंदी भाषा पर व्याख्यान दिया। ताशकंद में ही लाल बहादुर शास्त्री स्कूल के हिंदी अध्यापकों तथा छात्रों से भेंट की और वहाँ हिंदी में प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम का उद्घाटन किया। डॉ. गोयनका ने ‘समरकंद स्टेट यूनिवर्सिटी’ में औपचारिक रूप में हिंदी शिक्षण कार्यक्रम का आरंभ किया। इस समय वहाँ दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो. गर्गेश भारतीय अध्ययन केन्द्र के अध्यक्ष हैं तथा उनके प्रयास से ही हिंदी शिक्षण आरंभ हुआ है। इस अवसर पर ताशकंद में प्रेमचंद साहित्य पर पीएच.डी. करने वाली डॉ. निलोफर तथा उनके गुरु श्री अमीर फैजुल्ला ने स्वयं प्रेमचंद के उपन्यासों तथा रामायण, महाभारत आदि का उज्बेक भाषा में अनुवाद किया है तथा डॉ. निलोफर ने प्रेमचंद के उपन्यासों के उज्बेकी भाषा में अनुवाद पर पीएच.डी. की है। उज्बेकिस्तान में सैकड़ों छात्र हिंदी में पढ़ते हैं और वहाँ हिंदी के विकास की बड़ी संभावनाएँ हैं।

वैसे तो बहुत सारी पत्रिकाएँ बंगाल से निकल रही हैं। बहुत ही कम समय में अपनी अलग पहचान कायम करने में 'मुक्तांचल' सबसे सफल है। कारण यह मात्र पत्रिका ही नहीं एक मंच है- विद्यार्थी मंच। जो नवीन एवं प्रवीण को एक साथ लेकर, बेहतर साहित्यिक सेवा हेतु तत्पर, यहाँ पर रचनाएँ नाम देखकर नहीं, गुणवत्ता के आधार पर चयन होता है।

'मुक्तांचल' पत्रिका शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का यह अंक भी अन्य अंकों की तरह बेहतर अंक है। यह अंक नामवर सिंह की स्मृति में आलोचना पर केन्द्रित है। संस्तुति में संपादक मीरा सिन्हा जी लिखती हैं- "आलोचक बन खड़े हो जाने का शौक रखने वाले कुछ नये अध्यापक कतिपय समसामयिक घटनाओं, परिघटनाओं से उत्पन्न तुमलों को लिखकर साहित्य संसार की प्रतिष्ठित कृतियों को तहस-नहस करने का मन बना लेते हैं। ऐसे ही एक ने कहा कि 'प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी में भूमि अधिग्रहण का मसला है। इस कहानी की आलोचना इसी परिप्रेक्ष्य में होनी चाहिए मैं इसका पुनर्पाठ लिखूँगा। मुझे लगा तब तो फिर प्रसाद का मातृभूमि के लिए व्यक्तिगत प्रेम के उत्सर्ग का मूल्यबोध कहाँ रहा सब ध्वस्त!!"

इस अंक के अतिथि संपादक हैं डॉ. हरेराम पाठक। 'हिंदी आलोचना: परंपरा, संस्कृति और विकृति' नामक आलेख में डॉ. पाठक लिखे हैं- "हिंदी आलोचना एवं उसकी परंपरा को लेकर जब कोई बात चलती है तो सीधे हम भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य यूनानी काव्यशास्त्रियों की शरण में चले जाते हैं। पर जहाँ तक मैं समझता हूँ भारतीय काव्यशास्त्र हिंदी आलोचना का उद्गम-स्थल नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों एवं उनमें निहित दार्शनिक चिंतन के साथ साहित्यालोचन की शुरुआत मानकर हमने भाषा की बहुविध आलोचनात्मक अवधारणाओं को अनदेखा कर दिया जिसके परिणामस्वरूप भाषा के दार्शनिक एवं आलोचनात्मक पक्ष पर वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में जितना चिंतन हो सका, उससे आगे नहीं बढ़ सका। विभेद वहाँ खड़ा हुआ जब भाषा विज्ञान को साहित्य आलोचना की परंपरा से बिल्कुल काटकर अलग कर दिया गया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि भाषा विज्ञान के नाम पर जो कार्य हुए वे यास्क के निरुक्त और व्युत्पत्ति शास्त्र से आगे नहीं बढ़ पाए।"

नामवर सिंह और छायावाद- श्रीनारायण पाण्डेय का लेख, नामवर सिंह के पढ़ाकू और ज्ञानपिपासु प्रवृत्ति को उजागर करता है। "मेरी दृष्टि में हिंदी में आधुनिक आलोचना का उदय छायावाद की आलोचना से ही हुआ है। हिंदी के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं और समझा जाता है कि हिंदी आलोचना की आधारशिला रखने वाले हैं।" 'ताक रहा है भीष्म स्वरो की कठिन सेज पर' विमल वर्मा का लेख है जिसमें नामवर सिंह की आलोचनात्मक दृष्टि पर विचार है।

पिक-प्रतिभा का स्वाभिमान नामवर सिंह- पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु एक संस्मरणात्मक आलेख है। आलोचक नामवर सिंह: आलोचना करने और सहने का उदार बोध-शशिभूषण द्विवेदी का आलेख है।-- दुनिया को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अपनी कई किताबों में नामवर जी डॉ. नगेन्द्र की कई स्थापनाओं के विरोधी रहे हैं। लेकिन सामाजिक जीवन में नामवर जी अपने आलोचकों के प्रति भी अद्भुत सहनशील एवं उदार थे। अशोक वाजपेयी ने तो 'नामवर की विफलताएँ' नामक निबंध ही लिखा है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'दस्तावेज' में नामवरजी पर कटु टिप्पणियाँ की हैं लेकिन उनका

भी मानना है कि नामवर जी साहित्यिक पहलवानी को साहित्य तक ही सीमित रखते थे। सवाल है कि ऐसे लोग कौन होते हैं या किस मानसिक बनावट के होते हैं या उनका मनोविज्ञान कैसा होता है।' इसके अतिरिक्त 'कहानी: नयी कहानी' डॉ. राणा प्रताप का, विनोद शाही का 'कि नव और उत्तर मार्क्सवाद में भी तीसरी दुनिया अभी तक हाशिए पर है', पूनम सिन्हा का 'डॉ. गोपाल राय का आलोचना कर्म एवं साहित्य लेखन' एवं सेवाराम त्रिपाठी जी का 'क्या आलोचना के लिए भी कोई जगह है' आलेख, अनुशीलन एवं विमर्श है।

विमर्श केन्द्रित साहित्य और हिंदी आलोचना- पी.एन. सिंह का आलेख- 'यह सही है कि उत्तर-आधुनिकता ने विमर्श की अवधारणा को केन्द्रस्थ किया है और आज लगभग सभी विमर्शकार हैं, समीक्षक या समालोचक नहीं।... क्योंकि आज की समीक्षा पाठ-केन्द्रित (text-touted) न होकर यह सांस्कृतिक अध्ययन और आकलन का मूल्यांकन है। मुक्तिबोध आलोचना को 'सभ्यता विमर्श' कहा करते थे।' गवेषणा, समय की शिला पर, कविता, कहानी, लघुकथा, डायरी अंश, यात्रा-वृत्तांत, रचना-संदर्भ, शोधार्थी की कलम से, गतिविधियाँ आदि भी अपनी पूर्व अंको की तरह पठनीय एवं विचारणीय है।

रणजीत कुमार सिन्हा, मो. ९४३४१५३५०१

मैं आपके लोकप्रिय पत्रिका 'मुक्तांचल' वर्ष-६, अंक-२२, अप्रैल-जून २०१९ में आयी नामवर सिंह की स्मृति में आलोचना केन्द्रित अंक को पढ़कर बहुत ही प्रभावित हुई। नामवर सिंह के जीवन से संबंधित बहुत सी जानकारी प्राप्त हुई जो मेरे लिए बहुत ही लाभकारी रहेगा। इस पत्रिका में जितने भी आलेख, अनुशीलन, विमर्श, गवेषणा, कविता, कहानी, लघुकथा, यात्रा-वृत्तांत हैं इन सभी को पढ़कर एक जिज्ञासापरक अनुभव रहा। 'हिंदी आलोचना: परंपरा, संस्कृति और विकृति' हरeram पाठक जी के आलेख में लिखा है कि एक आलोचक को आलोचना करते वक्त उसे अपनी परंपरा, संस्कृति से जुड़ा होना चाहिए, भाषा में शुद्धता, पूर्ण संवेदना ही आलोचना के लिए महत्व है। श्री नारायण पाण्डेय ने 'नामवर सिंह और छायावाद' आलेख में नामवर सिंह की जिस गहराई से व्याख्या की है वह प्रशंसनीय है। उन्होंने नामवर सिंह के लेखन संबंधित विशेषताएं, एक आलोचक के रूप में उनकी आलोचना को बड़े अच्छे ढंग से पाठक के सामने रखा है। 'छायावाद' को आचार्य शुक्ल ने खारिज किया, नामवर सिंह ने उन कवियों को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया। छायावाद पर किये गये विचारों को समझा जा सकता है। 'सुरेश कांटक' की 'धंधा' कहानी में लोगों की संवेदना खत्म हो जाती है, लोगों में मनुष्यता खत्म हो जाती है। यह आधुनिक युग की कहानी है जिसमें लोग पैसे कमाने की होड़ में अपनी मनुष्यता को नष्ट कर देते हैं। वह पैसा किसी कारण से आये लोगों को मार कर या लोगों की संवेदना के साथ खेलकर। उसी प्रकार 'मार्टिन जॉन' की सारी लघु कथा मुझे बहुत अच्छी लगी। जिसमें एक कथा वृद्ध समस्या पर आधारित है 'गुजराती बहार के फूल' इस कथा में वृद्धों के जीवन के यथार्थ को उजागर किया है। अपने माता-पिता को बोझ समझने वाले बेटे-बहू वृद्धों से भी अपना फायदा निकालना चाहते हैं। जब तक उन्हें फायदा मिलता है उन्हें इस्तेमाल करते हैं, अंत में उसे कूड़ेदान की तरह घर के किसी कोने में पड़े रहने के लिए छोड़ देते हैं। वृद्धों पर हो रहे अत्याचार के खिलाफ अनेक कानून बने हैं परंतु अनेक माता-पिता अपने बच्चों को कष्ट नहीं देना चाहते और न ही उनके अत्याचार के खिलाफ शिकायत ही करते हैं जो कि इस लघु कथा में दिखाया गया है। अपने अंतिम समय में भी वह अपने परिवार से जुड़े रहने की कोशिश करते हैं भले ही उसे बाहर कर दिया जाय, उनसे सारे रिश्ते तोड़ चुके हों। 'यात्रा वृत्तांत' में 'कला की फुहार' में 'विनोद साव' जी ने खजुराहो की जो व्याख्या प्रस्तुत की है ऐसा प्रतीत होता है कि खजुराहो का मनोरम दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया है। रचना संदर्भ, शोधार्थी की कलम से, गतिविधियाँ आदि को पढ़कर अनेक जानकारी मिलती है।

मीरा पासवान, काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल, मो. ९५४७८७५७४८

पत्रिकाएं समसामयिक परिवेश की अभिव्यक्ति का माध्यम होती हैं। इनके माध्यम से न केवल ज्ञान में वृद्धि होती है, बल्कि युगीन परिस्थितियों के परिवर्तन की स्पष्ट गूँज हम इनके माध्यम से सुन सकते हैं। 'मुक्तांचल' पत्रिका में भी हम वर्तमान परिदृश्य की स्पष्ट झलक देख सकते हैं। इसका क्षेत्र स्वतंत्र है। अर्थात् इस पत्रिका में निःसकोच रूप से अभिव्यक्ति की आजादी को महत्ता दी गई है। लोकतंत्र के चौथे आधार को समृद्ध करने में इस पत्रिका ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज के इस भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ अधिकांश पत्रिकाएं अपनी निष्पक्ष भूमिका निभा पाने में असमर्थ साबित हो रही हैं, वहीं 'मुक्तांचल' उन पत्रिकाओं के लिए एक प्रेरणास्रोत है। कहते हैं किसी भी जंग को जीतने के लिए कुशल सेनापति की आवश्यकता होती है। इस त्रैमासिक पत्रिका के वर्ष: ०६, जुलाई-सितंबर २०१९, अंक: २३ में ऐसे कई सेनापति हैं जिनके भरसक प्रयास ने इस पत्रिका को समृद्ध किया है, जिनमें डॉ. मीरा सिन्हा, प्रो. मनीषा झा, आनंद कुमार सिन्हा, शुभांगता श्रीवास्तव, परमजीत, विनीता लाल, सुशील कुमार, विनोद यादव, पार्वती, प्रभा, गुड़िया, विद्या रजक, नगीना लाल, सोनू संगम, प्रो. शशि मुदीराज, प्रो. अरुण होता, प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, डॉ. पंकज साहा, डॉ. शुभ्रा उपाध्याय, निशांत, रामप्रवेश रजक, सुलेखा कुमारी आदि नाम आते हैं। इस अंक के अन्तर्पक्ष की बात अगर की जाए तो मनीषा झा जी ने 'कविता के पचास साल: समकालीन कविता' पर अपना सारगर्भित आलेख प्रस्तुत किया, वहीं डॉ. ओमप्रकाश पांडेय, सुधीर रंजन सिंह जी और डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल ने 'समकालीन हिंदी कविता: दशा और दिशा', 'कविता और समकालीनता' और 'समकालीन कवियों की समसामयिक दृष्टि' के माध्यम से समकालीन कविता को नई गति और दिशा प्रदान की। 'ध्रुवदेवमिश्र पाषण की काव्य-संवेदना और दृष्टि' पर रामनिहाल गुंजन जी का, 'सृजनशीलता के धरातल पर संघर्ष' पर परशुराम जी का, 'मुक्तिबोध का काव्य दर्शन' पर प्रो. दामोदर मिश्र जी का और 'हिंदी कविता का पिकासो: विष्णु खरे' पर निशांत जी का ज्ञानवर्द्धक अनुशीलन प्राप्त हुआ। विमर्शों में 'ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है' एक वैचारिक विमर्श के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। जयप्रकाश मानस ने भी 'कवि की उपस्थिति' नामक विमर्श में संसार के प्रति कवियों के समर्पण को दर्शाते हैं। 'समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी स्वर', 'राजेश जोशी: लोकतंत्र की तलाश में', 'समकालीन कविता में समय, समाज और संस्कृति: संदर्भ स्त्री कलम' गवेषणों के माध्यम से डॉ. बिनय कुमार पटेल, डॉ. सारदा बैनर्जी, डॉ. शशि शर्मा ने गवेषणा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्वप्निल श्रीवास्तव जी ने 'संवेदना की संरक्षक है कविता' में कविता की उपयोगिता को बताते हुए उसे हमारी संवेदनाओं की संरक्षक बताते हैं। राजवंती मान, रंजीत वर्मा, पंखुरी सिन्हा, कालिका प्रसाद उपाध्याय 'अशेष' की कविताओं ने मुक्तांचल की खूबसूरती और समृद्धता को बढ़ाने का काम किया। 'गीत बोलेंगे हम नहीं' में शिव कुमार अर्चन जी ने गीत/कविता की सुंदर अभिव्यक्ति की। नीरजा हेमेंद्र और हरभजन सिंह मेहरोत्रा जी ने 'प्रेम का रंग स्याह' और 'स्वप्नहंता' कहानी के माध्यम से समकालीन कहानी को नई दिशा प्रदान की। डॉ. पंकज साहा के व्यंग्य और रामप्रवेश रजक की लघुकथाओं में हमें तत्कालीन समाज की विसंगतियों और समस्याओं के दर्शन होते हैं। प्रवासी साहित्य में पूनम सिन्हा ने जहाँ प्रवासी साहित्यकार पद्मेश गुप्त से खास मुलाकात की है, वहीं गुप्त जी की एक सुंदर कविता का आनंद भी हम पाते हैं। रचना संदर्भ में कौशल किशोर और अनिल कुमार पांडेय ने 'यह है नई शुरुआत' और 'सामाजिक जीवन का जीवंत दस्तावेज: कौशल किशोर की कविताएं' के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है। शोधार्थी भैरव सिंह और पिकी झा ने भी त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह पर बहुत सुंदर विचार रखे हैं। पुस्तकायन में डॉ. ऋषिभूषण चौबे और आनंद गुप्ता ने गद्य वद्य कुछ: एक स्वाधीन आलोचना और निशांत की प्रेम कविताएं पर अपने विचार रखे। मुक्तांचल के यदि बाह्यपक्ष की बात अगर की जाए तो इसका टंकण तथा मुद्रण बहुत अच्छा है। कुल मिलाकर मुक्तांचल पत्रिका समसामयिक परिवेश की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। मुक्तांचल पत्रिका को उज्ज्वल भविष्य की शुभकामनाएं।

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल, मो. ९९३२९३७०९४

त्रैमासिक पत्रिका 'मुक्तांचल' वर्ष-६, अंक-२३, जुलाई-सितम्बर २०१९ का 'नयी सदी के आर-पार हिंदी कविता के पचास साल' कविता विशेषांक ज्ञानवर्धक है। 'समकालीन हिंदी कविता: दशा और दिशा- डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय जी ने अपने आलेख में समकालीन कविता के संबंध में कहा है कि १९६० के पूर्ववर्ती कवियों की जो परंपरा दीख पड़ती है उनमें पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा परिवर्तन का स्वर अधिक था। साठोत्तरी कविता के माध्यम से असंतोष, विद्रोह, अस्वीकृति, निराशा आदि का रूप मुखरित हुआ और किस प्रकार यथार्थ और बौद्धिक रूप को स्थान दिया गया। उसी प्रकार 'कविता और समकालीनता' सुधीर रंजन सिंह जी के आलेख में एक पंक्ति मुझे बहुत अच्छी लगी जिसमें उन्होंने कहा है कि कविताएँ समकालीन हो सकती हैं परंतु कविता के साथ उसकी शब्द, भाषा समकालीनता के संकेत दिखाई देते हैं तो यह महत्वपूर्ण है, इसके साथ ही उन्होंने निराला, मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर की काव्याभिव्यक्ति के सर्वोच्च बिंदु की रचना कहा है साथ ही नागार्जुन को महाखिलाड़ी कहकर संबोधित करते हैं। कहानी की बात करें तो 'प्रेम का रंग स्याह' नीरजा हेमन्त की कहानी पढ़कर मुझे यह आत्मकथा सी लगी जिसमें उन्होंने अपने जीवन की संपूर्ण घटना को बयान किया है। साथ ही स्त्री को अनेक रूपों में चित्रित किया है। बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था हो, स्त्री हर रूप में बंधी होती है। स्त्री यदि स्वतंत्र जीवन यापन करना चाहे तो यह संसार उसे बदनामी के कटघरे में खड़ा कर देता है। परंतु इसके अलावा एक स्त्री को अपने स्वप्न को पूरा करने के लिए जो दृढ़ता अपने विचारों में स्पष्टता, परिवार और समाज से परे होकर समाज में एक मुकाम हासिल करना, यह सिखाती है। यदि स्त्री अपने स्वप्न को पूरा करना चाहती हैं तो उसे आने वाली बाधाओं को उसे स्वयं पार करना होता है तभी वह एक नया मुकाम हासिल कर पायेगी। 'स्वप्नहंता' कहानी हरभजन सिंह मेहरोत्रा की एक वृद्ध समस्या पर लिखी गई है जिसमें एक परिवार बेटे-बहू के अलग होने से उसका घर टूट जायेगा। पुरुष होने के कारण वह किस प्रकार अपने घर को टूटने से बचा सकता है। बेटे-बहू को समझा पाये यह उस बुजुर्ग को नहीं आता वह अपनी स्वर्गीय पत्नी को याद करता है। वर्तमान समय की बहुत बड़ी समस्या है जिसे आये दिन हमें देखने और सुनने को मिल जाती है। बच्चे जब चाहे अपने स्वार्थ के लिए रिश्तों के साथ खिलवाड़ करते हैं। अपने हर बड़े फैसलों में घर के बड़े बुजुर्गों की अनुमति लेना अनिवार्य नहीं समझते हैं। लघु कथा भी मुझे बहुत आकर्षक लगी। साथ ही एक सीख भी मिलती है जैसे 'कथनी और करनी' डॉ. पंकज साहा जी की आजकल तो ऐसे लोग भरे पड़े हैं जो कहते कुछ और हैं करते कुछ और। ऐसे लोगों से बचना चाहिए। साथ ही अंग्रेजी का प्रभाव और खुमारी में सीख भी है। पुस्तकायन में लिखी 'आनंद गुप्ता' की 'निशांत की प्रेम कविताएँ' जिसमें उन्होंने निशांत जी की कविता संग्रह 'जीवन हो तुम' में प्रेम को सहज रूप से बताने की कोशिश की है। यह आज के युवा वर्ग के लिए है जो प्रेम में पड़कर अपने कर्तव्य और संघर्ष को भूल जाते हैं। इसके लिए उन्होंने इस कविता संग्रह में पलाश, अमलतास और गुलमोहर का उदाहरण देते हैं कि कड़ी धूप में भी यह अडिग रहते हैं और अपनी खूबसूरती बिखराते हैं उसी प्रकार प्रेम का भी यही रूप है। वह लोगों को संघर्ष और कठिन परिस्थितियों में डटे रहना सिखाती है।

मीरा पासवान, काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल, मो. ९५४७८७५७४८

परिशिष्ट

केंद्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास : (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत

अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

‘विद्यार्थी मंच’ के पुनर्गठन हेतु प्रस्तावित परिपत्र

पढ़ना हमें संवेदनशील बनाता है, लिखना हमें संप्रेषण की क्षमता प्रदान करता है। पढ़ने-लिखने का चलन आधुनिक युग की देन है। हमारे देश में नवजागरण के विकास के साथ पढ़ने की संस्कृति का जोरदार स्वागत हुआ— पढ़ने में निष्ठा व्यक्ति ही समाज में सम्मान का अधिकारी माना जाता था। सम्मानित व्यक्ति ‘अपने’ को अथवा उस ‘निजत्व’ को प्राप्त करता था जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करता था, किंतु तब पढ़ना एक संस्कृति थी अब पढ़ना एक प्रौद्योगिकी है। कभी हमारे संस्कार में दृष्टिकोण का महत्त्व था— दर्शन का निर्धारण करना हमें विरासत से प्राप्त था परंतु आज उपभोक्तावाद की आँधी में हम जीवन-मूल्य से विलग होकर बाजार में खड़े हो गये हैं— ललक और लिप्सा हमें विक्षिप्त-सा कर रही है। ऐसे समय में अन्य ज्ञानानुशासनों की भाँति ही हिंदी का भी, पठन-पाठन एवं अध्ययन-अध्यापन से जुड़ा एक वृहद समाज है। वर्ष-दर-वर्ष एक बड़ी जमात भाषा एवं साहित्य की डिग्रियों से लैस होकर सशस्त्र सेनानी की तरह जिंदगी की दौड़ में निकलती है— यह एक सुखद संकेत है, परंतु बेचैनी तब बहुत बढ़ जाती है जब साहित्य को सूचना की कोटि तक ही सीमित कर दिया जाता है। ‘विद्यार्थी’ शब्द अपने व्यापक कलेवर में अध्ययन एवं अध्यापन दोनों को समवेत रूप से समेटे हुए है। वर्तमान समय में ‘विद्यार्थी’ शब्द ने अपने अर्थ-गाम्भीर्य को खो दिया है क्योंकि यह शब्द अपने सीमित अर्थ में छात्र होने का बोध कराने लगा है। अस्तु, ‘विद्यार्थी’ शब्द की व्यापकता को अंगीकार करते हुए आवश्यकता है कि हम एकजुट होकर पढ़ने-पढ़ाने की संस्कृति को विकसित करें। इसलिए ‘विद्यार्थी मंच’ के निम्नलिखित संकल्पों को कार्यान्वित करने का व्रत लें—

१. साहित्य और भाषा के प्रति लोगों में अभिरुचि उत्पन्न करना।
२. एक अकादमिक पत्रिका के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में नवीन अनुसंधान परक सामग्री का प्रकाशन करना।
३. वर्तमान समय में साहित्य एवं भाषा के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ी जितनी समस्याएँ हैं, उन पर गंभीर चिंतन, विवेचन, विश्लेषण कर समय-समय पर विमर्श स्थापित करना।
४. साहित्य के पाठक को जागरूक बनाना।
५. शोध के क्षेत्र में आई निस्संगता को दूर कर गंभीर विवेचनपरक दृष्टि का विकास करना।
६. अध्ययन एवं अध्यापन के क्षेत्र में आई मूल्यहीनता एवं स्तरहीनता के प्रति लोगों में जागरूकता का संचार करना।
७. समय-समय पर स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर कार्यशाला एवं संगोष्ठियों का आयोजन करना।
८. विभिन्न भाषाओं से हिंदी में अनुवाद कार्य को विकसित करना।
९. साहित्यिक धरोहर का पुनर्मूल्यांकन एवं प्रकाशन करना।
१०. सर्जनात्मक साहित्य के सर्जन एवं संचार को प्रोत्साहित करना।

आगामी २३ जनवरी २०२० से २६ जनवरी २०२० तक ‘विद्यार्थी मंच’ विविध कार्यक्रमों के माध्यम से अपने पुनर्गठन की प्रक्रिया को संपूर्ण करेगा। हमारा सम्मिलित प्रयास साहित्यिक संसार को एक नया आयाम देगा- इसी विश्वास के साथ...

तदर्थ समिति

‘विद्यार्थी मंच’

इस पार तक...

दूधनाथ सिंह

(17 अक्टूबर 1936 - 12 जनवरी 2018)



कहानियों में वैचारिक और शैलिक जटिलता बढ़ती हुई दीख रही है। इधर की कहानियों के कलात्मक निष्कर्ष भी उलझे हुए हैं। विकल्पों के प्रतिरोधी संसार का क्षय होता दिखता है और कहानियों की अन्तर्ध्वनियाँ मेटाफिजिक्स के अँधेरे में गिरती हुई दिखाई देती हैं।

वास्तव में स्थूल समाजशास्त्रीयताओं, बाहरी परिघटनाओं, इतिहास की ऊपरी बड़बोलियों और राजनीतिक आंदोलनों से अपने कथा-संसार को प्रमाणित कराने और उनके भीतर घँसकर अनहोनी-अनदेखी अन्तर्ध्वनियों को कहानी में पकड़ने की कोशिश- यह धर्म संकट, द्वन्द्व, द्वैत या अन्तर्विरोध प्रेमचंद से लेकर आज तक के हिंदी कथाकारों में विद्यमान है। कहानी इसी द्वैत के छल के भीतर से बार-बार एक मछली की तरह जीवन के गहरे जल से प्रकट और तिरोहित होती चलती है। अनोखेपन और स्थूलता की यह बहस यहीं खत्म नहीं होती। कथा-संसार का लोक-परलोक- दोनों यही है।

कहा-सुनी

RNI NO. WBHIN/2014/70173
POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

स्मृति-शेष



स्वयं प्रकाश
(20 जनवरी 1947 - 07 दिसम्बर 2019)

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई, शिक्षण, ५० सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं ६/२/१ आशुतोष मुखर्जी लेन, सालकिया, हावड़ा-७१११०६ से प्रकाशित ।

सम्पादक : डॉ. मीरा सिन्हा